इकाई–1– योग की अवधारणा एवं महत्व

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 योग की अवधारणा
1.4 योग का महत्व
1.4.1 शारीरिक महत्व
1.4.2 मानसिक महत्व
1.4.3 नैतिक महत्व
1.4.4 सामाजिक महत्व
1.4.5 आध्यात्मिक महत्व
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक उपयोगी पाठ्य
1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना –

प्रिय पाठकों, वर्तमान समय में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति योग शब्द से परिचित है। यह एक अत्यन्त जटिल एवं गूढ शब्द है तथा इसका व्यवहार अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया जाता है। भिन्न–भिन्न विद्वानों ने योग को अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया है। किसी ने इसे समाधि का नाम दिया है, तो किसी ने आत्मा–परमात्मा का मिलन कहा है, और किसी ने मन के संयम के रूप में इसको परिभाषित किया है। प्रस्तुत ईकाई में हमारे अध्ययन का विषय भी योग की अवधारणा एवं महत्व के बारे में अध्ययन करना ही है।

आधुनिक समय में सभी लोग योग के महत्व से परिचित हो गये है; चाहे वृद्ध हो, जवान हो या बच्चे हो। इसकी कारण योग का प्रचलन अत्यधिक बढ़ रहा है।

आइये, सबसे पहले हम चर्चा करते है, योग की अवधारणा के बारे में अर्थात् योग क्या है? किस–किस रूप में इसको परिभाषित किया गया है?

1.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

(1) योग की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
(2) योग के शारीरिक महत्व का वर्णन कर सकेंगे।
(3) योग के मानसिक महत्व का विवेचन कर सकेंगे।
(4) योग के नैतिक महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे।
(5) योग के सामाजिक महत्व का वर्णन कर सकेंगे।
(6) योग के आध्यात्मिक महत्व का विवेचन कर सकेंगे।

1.3 योग की अवधारणा–

प्रिय विद्यार्थियों, सर्वप्रथम हम योग की अवधारणा के अन्तर्गत योग के अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

योग का शाब्दिक अर्थ– पाठको, योग की अवधारणा को ठीक प्रकार से समझने के लिये योग के शाब्दिक अर्थ का विश्लेषण करना आवश्यक है। महर्षि पाणिनि कृत संस्कृत व्याकरण में गणपाठ में तीन युक्त धातू है और तीनों ही धातुओं से योग शब्द का निष्पन्न होता है, किन्तु इसके अर्थ में भिन्नता है।

पाठको हम एक–एक करके इन तीनों धातुओं से बने योगशब्द के अर्थ पर विचारकरते हैं–

(1) दिवादिगणीय युज् धातु
(2)रूधादिगणीय युज् धातु
(3)चुरादिगणीय युज् धतु

(1) दिवादिगणीय युज् धातू– दिवादिगणीय युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द **समाधि** अर्थ में प्रयुक्त होता है;

'' युज् समाधौ''

प्रायः सभी विद्वान योग का तात्पर्य समाधि से ही लेते है। अन्य अर्थ गौण एवं लौकिक माने जाते है। यम–नियम, आसन–प्राणायामादि योगाभ्यासों के द्वारा समाधि की स्थिति को प्राप्त करके आत्मस्वरूप में स्थित होने का नाम ही योग है।

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुये महर्षि व्यास ने कहा है–'' योगः समाधि''

अर्थात– ''योग का अर्थ समाधि है।''

समाधि की स्थिति में ध्याता एवं ध्यये मिलकर एकाकार हो जाते हैं तथा ध्यये मात्र ही बचता है। साधक आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

(2) रूधादिगणीय युज् धातु– रूधादिगणीय युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ है– जुड़ना या मिलना अर्थात्–एकत्व की प्राप्ति–

'' युजिर योगे''

यहाँ जुड़ने का तात्पर्य आत्मा और परमात्मा के जुड़ने से लिया जाता है और इस सन्दर्भ में योग का अर्थ है कि आत्मा एवं परमात्मा का मिलन ही योग है। किन्तू पाठकों योग शब्द का यह अर्थ लेने पर एक विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है कि क्या आत्मा एवं परमात्मा अथवा जीव एवं ब्रह्म एक दूसरे से पृथक–पृथक रहते है और क्या योग साधना के द्वारा ही दोनों में संयोग होता है? वास्तव में देखा जाये तो योग शब्द का यह अर्थ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा तो परमात्मा का ही एक अंश है और यह कभी भी परमात्मा से अलग नहीं होती। पाठकों, अब आप सोच रहे होंगे कि फिर जुड़ना से योग शब्द का आखिर क्या अभिप्राय है? संयोग अर्थ में योग शब्द का आशय यह है कि जब साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है अर्थात् जब जन्म–जन्मान्तर के कर्म संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब उस स्थिति में जीवात्मा को परमात्मा के साथ जुड़ाव की अनुभूति होती है और अन्ततः वह आत्मा भी परमात्मस्वरूप हो जाती है; इसी स्थिति को आत्मा एवं परमात्मा का मिलन कहा गया है। इसी सन्दर्भ में योगदर्शन के प्रणेता महान् अध्यात्मवेत्ता महर्षि पतंजलि ने कहा है–

'' योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'' (पातंजल योग सूत्र/समाधिवाद/2)

अर्थात– '' चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध ही योग है।''

चित्तवृत्तियों के निरोध का परिणाम क्या होता है, इसको स्पष्ट करते हुये वे आगे कहते हैं–

'' तदा द्रुष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्'' (पातंजल योग सूत्र/समाधिवाद/3)

अर्थात–''तब (चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर)द्रष्टा आत्मस्वरूप में स्थित होजाता है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा एवं परमात्मा का संयोग तो शाश्वत है, किन्तु इसकी अनुभूति चित्तशुद्धि होने पर ही होती है।

(3) चुरादिगणीय युज् धातु– पाठकों, चुरादिगणीय युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द संयम अर्थ में प्रयुक्त होता है–

'' युज् संयमने''

अर्थात– '' मन एवं इन्द्रियों का संयम ही योग है।''

मन तथा इन्द्रियों को वश में किये बिना योग साधना में प्रगति नहीं हो सकती। इसी को स्पष्ट करते हुये काठक श्रुति में कहा गया है–

'' नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमानसो वादि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।''

'' जो मनुष्य पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं है और जिसका चित्त असमाहित है, क्षोभ रहित प्रशान्त नहीं है वह उस परम तत्व को सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकता है।''

अतः आत्मसाक्षात्कार के लिये समस्त इन्द्रियों को संयमित करना अत्यावश्यक है।

पाठकों, उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर योग शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है– समाधि, संयोग एवं संयम, किन्तु इन तीनों में समाधि अर्थ ही सर्वाधिक उपयुक्त है, अन्य अर्थ गौण हैं।

परिभाषायें– योग के शाब्दिक अर्थ को जान लेने के बाद अब हम योग की विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करते हैं, जो निम्नानुसार है–

महर्षि पतंजलि के अनुसार–

'' योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' (पातंजल योग सूत्र/ 1/2)

अर्थात– ''चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध ही योग है।''

महर्षि व्यास के अनुसार–

'' योगः समाधि स च सार्वभौमिश्चित्तस्य धर्मः।''

अर्थात– '' योग का अर्थ है– समाधि, जो चित्त का सार्वभौम धर्म है।''

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार–

'' संयोग योग इत्युक्तो जीवात्मः परमात्मनो''

अर्थात– '' जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन का नाम योग है।'' (याज्ञवल्क्य स्मृति)

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार–

'' योगस्थः कुरू कर्माणि,
संगंव्यक्त्वा धनन्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा,
समत्वं योग उच्चते।।'' (श्रीमद्भागवद्गीता/2/48)

अर्थात– '' हे अर्जुन! तुम आसक्ति का परित्याग करके सफलता–असफलता में समान होकर योग में स्थित होकर कर्म करों, क्योंकि समत्व ही योग है।''

''योगःकर्मसुकौशलम्'' (श्रीमद्भगवद्गीता/2/50)

अर्थात–'' कर्मों में कुशलता का नाम ही योग है।'

यहाँ कर्मों में कुशलता का अर्थ हैं–'' कर्मफल की कामना का परित्याग करके कर्म करना अर्थात्– निष्काम कर्म ही योग है।

अग्निपुराण के अनुसार– '' ज्ञान का प्रकाश पड़ने पर चित्त ब्रह्म में एकाग्र हो जाता है, जिससे जीव का ब्रह्म में मिलन हो जाता है। ब्रह्म में चित्त की यह एकाग्रता ही योग है।''

स्कन्ध पुराण के अनुसार– जीवात्मा एवं परमात्मा का अलग–अलग होना ही दुःख का कारण है और इनका अपृथक भाव अर्थात्–एकत्व की स्थिति ही योग है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार– '' जीव और आत्मा के मिलन की संज्ञा ही योग है।''

योग वाशिष्ठ के अनुसार– '' जीव और आत्मा के मिलन की संज्ञा ही योग है।'8

लिंग पुराण के अनुसार– ''चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाना, उसे पूर्ण समाप्त कर देना ही योग है।''

महर्षि अरविन्द के अनुसार– ''योग वह सर्वांग साधन प्रणाली है, जिससे सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के बीच सर्वविजयी सामंजस्य स्थापित हो सके अर्थात्– जीवन को बिना खोए भगवान को प्राप्त, मानव जीवन के भीतर भगवान् और प्रकृति का पुनर्मिलन साधित करना ही योग है।''

स्वामी शिवानंद सरस्वती के शब्दों में– ''योग उस साधना प्रणाली का नाम है, जिसमें जीवात्मा तथा परमात्मा की एकाग्रता का अनुभव होता है एवं जीवात्मा तथा परमात्मा के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है।''

योगी रामचरक के अनुसार– ''हम सभी अनंत शक्ति के स्वामी है और इस शक्ति के रहस्य से परिचित कराने की कला योग विज्ञान में निहित है।''

कठोपनिषद् के अनुसार– ''जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती है, और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को परमगति कहते हैं। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है। जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती है, वह अप्रयप्त हो जाता है। उसमें शुभसंस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है; यही अवस्थायोग है।''

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भिन्न–भिन्न ग्रन्थों में योग को भिन्न–भिन्न ढंग से परिभाषित किया गया है, किन्तु मूलभाव सभी का एक ही है। ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्म अथवा यम–नियमादि के नियमित दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा अपने समस्त कर्म संस्कारों का नाश करके आत्मस्वरूप में स्थित होना ही योग है।

1.4 योग का महत्त्व–

प्रिय पाठकों, योग की प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। हमारे जीवन का प्रत्येक आयाम योग से जुड़ा हुआ है, चाहे वह शारीरिक हो, मानसिक हो, सामाजिक हो अथवा नैतिक हो और आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति तो योग का चरम लक्ष्य है। आरोग्यता एवं मोक्ष इन दोनों का ही आधार योग है। प्राचीनकाल में ऐसी मान्यता थी कि जिन्हें मोक्ष की प्राप्ति करना हो, केवल उन्हें ही योग साधना करनी चाहिये, किन्तु वर्तमान में ऐसा नहीं है। आज एक सामान्य व्यक्ति भी अपने शरीर और मन को स्वस्थ बनाने के लिये योग को अपना रहा है।

अतः स्पष्ट है कि आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से योग का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्व है। योग के महत्व का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

1.4.1 शारीरिक महत्व– पाठकों, शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से योग का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्व है। हम सभी जानते है कि जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये भगवान् ने साधन के रूप में हमें शरीर प्रदान किया है। अतः इस शरीर को रखना हमारा कर्त्तव्य है और शरीर के स्वस्थ्य रहने पर ही हम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कर सकते हैं। रोगी शरीर द्वारा हम किसी भी कार्य को ठीक प्रकार से नहीं कर सकते योग साधना तो बहुत दूर की बात है। दैनिक जीवन में नियमित रूप से कुछ योगाभ्यासों को अपनाकर हम आसानी से अपने शरीर को हृष्ट–पुष्ट एवं स्वस्थ रख सकते हैं। हठयोग का तो प्रधान उद्देश्य ही शरीर पर नियंत्रण के माध्यम से मन पर नियंत्रण प्राप्त करना है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध इत्यादि का विशेष महत्व है। घेरण्ड संहिता में कहा गया है–

''षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।'' घेरण्ड संहिता

अर्थात– '' षट्कर्म से (धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक, कपालभाति) शुद्धि तथा आसनों से दृढ़ता की प्राप्ति होती है।

पाठकों, योग के शारीरिक महत्व का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

- षट्कर्मों के अभ्यास से शारीरिक अशुद्धियाँ दूर होकर अन्ततः आत्मशुद्धि की प्राप्ति होती है, तथा वात–पित्त–कफ में संतुलन स्थापित होता है।
- आसनों के नियमित अभ्यास से मांसपेशियाँ मजबूत होकर अंगों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।
- योगाभ्यासों से शरीर में रक्त का सुचारू संचार होता है।
- प्राणायाम द्वारा हमारे श्वसन संस्थान की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। फेफड़ों की फैलने एवं सिकुड़ने की क्षमता में बृद्धि होती है, इससे अधिकतम प्राणवायु फेफड़ों में प्रवेश करती है, जिससे रक्तशुद्धिकरण एवं रक्तसंचार की प्रक्रिया सही बनी रहती है।

- प्राणायाम से श्वसन क्रिया पर बहुत कुछ हद तक नियंण स्थापित किया जा सकता है।
- हृदयगति एवं रक्तचाप सामान्य बना रहता है।
- योगाभ्यासों से पाचन क्रिया को नियंत्रित करने एवं उसे शरीर के अनुसार संचालित करने में भी सहायता मिलती है।
- रीढ़ की हड्डी तथा माँशपेशियों के उचित गठन एवं नियंण में योगाभ्यासों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है। आसनों के नियमित एवं दीर्घकालीन अभ्यास से माँसपेशियों में कड़ापन नहीं आता है, वे स्वाभाविक रूप से लचीली बनी रहती है।
- योगाभ्यास शरीर के तापमान को भी सामान्य बनाये रखते हैं तथा पसीने एवं दुर्गंध को असामान्य रूप से पैदा नहीं होने देते।
- योगाभ्यासों को अन्तःस्रावी तंत्र पर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सभी ग्रन्थियों से उचित मात्रा में हार्मोन्स का स्राव होने से हार्मोन्स में संतुलन बना रहता है।
- योगाभ्यासों से तंत्रिका तंत्र की कार्यक्षमता में भी वृद्धि होती है। ये मस्तिष्क को स्वस्थ बनाये रखने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है।
- योगाभ्यास शरीर के आन्तरिक अंगों की सफाई की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ये शरीर से विजातीय द्रव्यों को बाहर निकालकर कोशिकाओं, रक्त नलिकाओं की सफाई करते हैं।
- शरीर की रोगप्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है।
- किसी प्रकार की बीमारी से ग्रस्त होने पर शरीर को रोगमुक्त करने एवं शरीर की क्षमता में वृद्धि करने दोनों ही दृष्टिकोणों से योगाभ्यास महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठकों, उपरोक्त विवरण से आप भलीभाँति समझ गये होंगे कि शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से योगाभ्यास कितने महत्त्वपूर्ण हैं।

1.4.2 मानसिक महत्व–

प्रिय पाठको, शारीरिक स्वास्थ्य के साथ–साथ मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी योगाभ्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शरीर एवं मन दोनों एक दूसरे से संबंधित हैं। कहा भी गया है– ''Sound mind lives in a sound body'' अर्थात्– ''स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है।''

योगाभ्यासों को नियमित रूप से करने पर हमारा सम्पर्क विश्वव्यापी प्राण ऊर्जा के साथ हो जाता है तथा प्राण के प्रवाह में जो अवरोध होते है, वे दूर होने लगते है। परिणाम स्वरूप नकारात्मक चिन्तन के स्थान पर व्यक्ति का दृष्टिकोण सकारात्मक होने लगता है तथा मन शांत एवं प्रसन्न रहता है और मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि होने लगती है। शारीरिक रोग प्रतिरोधक क्षमता की तरह ही हमारी मानसिक रोग प्रतिरोधक क्षमता भी होती है और योगाभ्यास इसके संवर्द्धन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। महर्षि घेरण्ड ने इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुये कहा है–

'' मुद्रया स्थिरताचैव प्रत्याहारेण धीरता'' (घेरण्ड संहिता)

'' मुद्रा से स्थिरता और प्रत्याहार से धीरता की प्राप्ति होती है।''

''योग के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य ही नहीं बल्कि उत्तम मानसिक स्वास्थ्य को भी प्राप्त करने में पूरी–पूरी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त मानसिक शक्तियों के समुचित पोषण और विकास के लिये उपयुक्त चेतना और शक्ति भी प्राप्त होती है।''

(डॉ. एस. के. मंगल; योगशिक्षा, 2005)

योगाभ्यास के मानसिक महत्त्व का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

- योगाभ्यासों को नियमित रूप से अपनाने पर ज्ञानेन्द्रियों के स्वस्थ सबल एवं क्षमतायुक्त होने से उनकी ग्रहणशीलता एवं सवेंदनशीलता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती और वे किसी भी विषय का ठीक प्रकार से ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ होने लगती है।

- योग से एकाग्रता में वृद्धि होती है।
- नियमित रूप से योगाभ्यास करने पर व्यक्ति का अपने मन पर नियंत्रण रहनेलगता है।
- योगाभ्यासों से नकारात्मक चिन्तन दूर होकर सकारात्मकता का विकास होने लगता है।
- योगाभ्यासों से व्यक्ति में सहनशीलता एवं समायोजनशीलता का विकास होने लगता है।
- विभिन्न प्रकार की मानसिक योग्यताओं जैसे बुद्धि, स्मृति, सीखने की क्षमता, विवेकपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता इत्यादि का भी विकास होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानसिक स्वास्थ्य के विकास में योगाभ्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है।

1.4.3 नैतिक महत्व–

शारीरिक–मानसिक स्वास्थ्य के साथ–साथ नैतिकता के विकास में भी योगाभ्यास महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं, जिसका विवेचन निम्नानुसार है–

- योगाभ्यास से व्यक्ति का आहार–विहार, जीवनशैली अत्यधिक सात्विक हो जाती है परिणामस्वरूप बुरी आदतें एवं बुराइयाँ दूर होने लगती है। राजसिक एवं तामसिक जीवनशैली के कारण जो विकृतियाँ उत्पन्न होती है, योगसाधक उनसे कोसों दूर रहने लगता है तथा उनका स्थान सादगी एवं सात्विकता ले लेती है।
- क्रोध को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना जाता है, जो व्यक्ति के विवेक का हरण कर लेता है। योगसाधना नैतिकता के इस महान् शत्रु तथा इसके साथ–साथ ईर्ष्या, द्वेष, मोह इत्यादि मनोविकारों को नियंत्रित करने में सहायता देती है।
- योगसाधना में यम–नियम के रूप में जिन अंगों की चर्चा की गई ळै, वे व्यक्ति में नैतिकता के विकास में अत्यधिक सहायक हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना होती है।

1.4.4 सामाजिक महत्व– व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ सामाजिक स्वास्थ्य यकी दृष्टि से भी योग का अत्यन्त महत्व है। व्यक्तियों से मिलकर ही समाज का निर्माण होता है। अतः एक स्वस्थ समाज के निर्माण का आधार व्यक्तिगत स्वास्थ्य ही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से स्वस्थ बना ले तो समाज का विकास स्वतः ही हो जायेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत निर्माण समाज निर्माण की आधारशिला है और इस कार्य में योग अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान देता है। सामाजिक दृष्टि से योग के महत्व का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

(1) अष्टांग योग के प्रथम अंग यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) के पालन से समाज में अराजकता एवं आपराधिक प्रवृत्तियों को दूर कर एक स्वस्थ एवं सुखी समाज की स्थापना में सहयोग मिलता है।

(2) आज समूची मानवता के सामने मानवीय मूल्यों की रक्षा का जो संकट उपस्थित हो गया है, उससे निपटने में योग साधना अत्यन्त सहायक है। आज समाज में आपसी द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, शत्रुता का जो भाव है, उसे योग साधना द्वारा सुझाये गये त्याग, सहिष्णुता, संयम, सेवा, ईश्वर प्रणिधान के मार्ग से आसानी से दूर किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक स्वस्थ एवं सुखी समाज के निर्माण में योग साधना अत्यन्त सहायक है;

1.4.5 आध्यात्मिक महत्व– पाठकों, आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से हमारे जीवन में योगसाधना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे जीवन का चरम लक्ष्य भी आध्यात्मिकता का विकास ही है।

''योग साधना व्यक्ति को शरीर एवं मन से कहीं अधिक ऊपर ले जाकर आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग दिखाती है।'' (डॉ. एक. के. मंगल; योग शिक्षा:2005)

वास्तव में यदि देखा जाये और अपने जीवन के उद्देश्य पर गहराई से विचार किया जाये तो हम पायेंगे कि यह मानव जीवन हमे भौतिक सुख–सुविधाओं का उपभोग करने के लिये नहीं मिला है, वरन् अपने मूल स्वरूप को जानने के लिये मिला है कि हम यह शरीर नहीं वरन् आत्मा हैं तथा इन्द्रियाँ, मन एवं शरीर तो हमें साधन के रूप में मिले हैं। योग साधना हमें इसी तथ्य का बोध कराती है और इस तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग भी सुझाती है। योग के आध्यात्मिक महत्व का विवेचन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

- योग साधना के माध्यम से शारीरिक और मानसिक शक्तियों से परे अति सूक्ष्म एवं सुप्त अलौकिक शक्तियों के जागरण एवं उन्नयन का मार्ग प्रशस्त होता है।
- योग के द्वारा शरीर एवं मन से परे अपने मूल स्वरूप आत्मा को जानने पहचानने का अवसर प्राप्त होता है।
- योग के द्वारा हमें अपने जीवन के चरम लक्ष्य का बोध होता है।
- योग साधना द्वारा हमें इस तथ्य का बोध होता है कि केवल स्वयं की आत्मा का ही नहीं वरन् सृष्टि के प्रत्येक जड़ एवं चेतन तत्व का उद्गम स्रोत एवं गंतव्य स्थल परमात्मा ही हैं
- इस सृष्टि का नियन्ता ईश्वर है, यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वरमय है। सभी प्राणी उसी ईश्वर के अंश है। अतः हमें सभी के प्रति आत्मीयता का भाव रखना चाहिये। ऐसे पवित्र एवं दिव्य भावों का प्रादुर्भाव योग साधना द्वारा ही होता है।
- जीवन का चरम लक्ष्य सांसारिक सुख–सुविधाओं का संचय नहीं वरन् मोक्ष है, इस शाश्वत सत्य का बोध होता है।
- योग के विविध साधनों एवं मार्गों द्वारा आत्मा–परमात्मा के मिलन के संबंध में विभिन्न उपायों से परिचय होता है।
- योग साधना मनुष्य को उसके सामान्य सांसारिक कार्यों के लिये शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ प्रदान करने के अतिरिक्त आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये विशेष रूप से प्रयास करने की दिव्य शक्ति प्रदान करती है। परिणामस्वरूप तपस्या, सद्चिन्तन एवं श्रद्धा के बल पर योगी अन्ततः अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि योग साधना हमारे व्यक्तित्व को समग्र रूप से प्रभावित करती है। जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है जिस पर योग का प्रभाव नहीं पड़ता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न– (खण्ड–क)

(सत्य/असत्य)

(1) गीता में वर्णित कर्म कुशलता का तात्पर्य निष्काम कर्म से है। (सत्य/असत्य)

(2) महर्षि व्यास के अनुसार योग का अर्थ समाधि है। (सत्य/ असत्य)

(3) योग का प्रभाव केवल हमारे शरीर और मन पर पड़ता है। (सत्य/असत्य)

(4) योग शब्द युज् धातु से बना है। (सत्य/असत्य)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न) (खण्ड–ख)

(1) योग का प्रभाव पड़ता है।

(क) शारीरिक स्वास्थ्य पर (ख) मानसिक स्वास्थ्य पर
(ग) आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर (घ) उपर्युक्त सभी

(2) 'योग शब्द बना है–

(क) युज् समाधौ धातु से (ख) युज् संयमने धातु से
(ग) युजिर योगे धातु से (घ) उपर्युक्त सभी

1.5 सारांश

प्रिय पाठको, उपरोक्त विवरण से आप भलीभाँति समझ गये होंगे कि योग से क्या अभिप्राय है तथा इसकी हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है। योग के विभिन्न अर्थों एवं

परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जब साधना के द्वारा व्यक्ति के जन्म–जन्मातंर के कर्म संस्कार समाप्त हो जाते है, तो वह अपने मूल स्वरूप आत्मा में स्थित हो जाता है, इसी स्थिति का नाम समाधि अथवा कैवल्य या मोक्ष है और इसे ही योग का नाम दिया गया है।

गीता में इसी को स्थितप्रज्ञ की संज्ञा दी गई है। जहाँ तक योग की उपयोगिता एवं महत्व का प्रश्न है तो जीवन का ऐसा कोई आयाम नहीं है जो योग से अछूता है। चाहे किसी के जीवन का लक्ष्य सांसारिक सफलता प्राप्त करना हो या आध्यात्मिक सफलता योग साधना के बिना उस लक्ष्य की प्राप्ति में प्रगति नहीं हो सकती। व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप से परिष्कृत करने में योग साधना अत्यन्त सहायक है। योग की महत्ता का विवेचन करते हुये श्रीमद्भागवद्गीता में कहा गया है–

'तपस्विभ्वोऽधिको योगी,
ज्ञानिश्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिश्यश्चाधिको योगी,
तस्माधोगी भवार्जुन।।''

अर्थात– ''योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और केवल शास्त्रों के जानने वाले अनुभव रहित ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है। कर्मी अर्थात्– जागतिक अनित्य फल चाहने वाले कर्मकाण्डियों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है, ऐसा जान।इसलिये हे अर्जुन! तू योगी बन।''

''योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपिज्ञानं हीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।'' (योगत्थ्वोपनिषद्)

अर्थात– ''योग के बिना ज्ञान भला ध्रुव मोक्षपद को कैसे दे सकता है और ज्ञानहीन योग भी मोक्ष देने में असमर्थ है अर्थात् नहीं दे सकता है।

अतः योगी को ज्ञान की और ज्ञानी को योग की अपेक्षा है ही, इसमें किंचित मात्र सन्देह नहीं है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

असमाहित – अशान्त।

सात्विकता – मन के तीन गुण माने गये है– सत, रज एवं तम।

सतोगुण या सात्विकता, प्रकाश, ज्ञान एवं आनंद का प्रतीक है, रजोगुण चंचलता का प्रतीक है तथा तमोगुण, मोह, जड़ता एवं अज्ञानता का प्रतीक है।

वात,पित्त,कफ – त्रिदोष! आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त एवं कफ– ये तीन दोष माने गये है।

समग्र – सम्पूर्ण

विवेक – सही–गलत, उचित–अनुचित की पहचान।

षट्कर्म – हठयोग में शुद्धि की छः प्रक्रियायें बतायी गई है, जिन्हें षटकर्म कहा जाता है। ये छः क्रियाये हैं–

(1) धौति
(2) वस्ति
(3) नेति
(4) नौलि
(5) त्राटक
(6) कपालभाति

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड–क सत्य/असत्य

(1) सत्य
(2) सत्य
(3) असत्य
(4) सत्य

खण्ड–ख वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) घ
(2) घ

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) सरस्वती, विज्ञानानंद। (2007) योग विज्ञान/ योग निकेतन ट्रस्ट, मुनि की रेती, ऋषिकेश, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड।
(2) कुमार, कामाख्या। (2007), योग महाविज्ञान स्टैन्डर्ड पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
(3) मंगल, एस. के. । (2005), योग शिक्षा। आर्यबुक डिपो, नई दिल्ली।

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

(1) योग और मानसिक स्वास्थ्य (2002), सुरेश वर्णवाल। न्य भारतीय बुक कार्पोरेशन, नई दिल्ली।
(2) अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान–विज्ञान (2006), डॉ. प्रणव पण्ड्या। वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुंज हरिद्वार, उत्तराखण्ड।
(3) कल्याण–योगांक। गीताप्रेस गोरखपुर।
(4) कल्याण–आरोग्यांक। गीताप्रेस गोरखपुर।
(5) योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा। (2005), ब्रह्मवर्चस। श्रीवेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुंज हरिद्वार, उत्तराखण्ड।
(6) भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम (2008), राजकुमारी पाण्डेय। राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न–1 योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुये योग के महत्व पर प्रकाश डालिये।

इकाई–2 योग एवं आयुर्वेद का उददेश्य

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 योग का उद्देश्य
2.4 आयुर्वेद का उद्देश्य
2.5 सारांश
2.6 पारिभाषिक शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना–

प्रिय पाठकों, इससे पूर्व की इकाई में आपने योग की अवधारणा एवं महत्व का अध्ययन किया है। प्रस्तुत ईकाई में हमारे अध्ययन का विषय है–''योग एवं आयुर्वेद का उद्देश्य।''

जिज्ञासु विद्यार्थियों, जैसा कि आप जानते हैं कि चाहे कोई भी कार्य है किसी ग्रन्थ की रचना हो उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। अर्थात किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही कोई भी कार्य किया जाता है या किसी ग्रन्थ की रचना होती है। अतः योग एवं आयुर्वेद की रचना के पीछे भी एक विशिष्ट प्रयोजन है। अब आपके मन

में स्वाभाविक रूप से उस प्रयोजन को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो रही होगी। योग की अवधारणा का अध्ययन करने के उपरान्त आप जान गये हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर साधक का आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही योग है। इसी प्रकार जो शास्त्र आयु या जीवन का ज्ञान प्रदान करता है तथा इस जीवन को सुखी एवं स्वस्थ कैसे बनाया जाये, इसका विवेचन करता है, वह आयुर्वेद कहलाता है। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुये अब हम चर्चा करते हैं कि इन योग एवं आयुर्वेद की रचना के पीछे क्या उद्देश्य है।

2.2 उद्देश्य–

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

1. योग के उद्देश्य को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. आयुर्वेद के प्रयोजन का विवेचन कर सकेंगे।

2.3 योग का उद्देश्य

प्रिय पाठकों, योग एक शाश्वत विज्ञान है। यह हमारे ऋषि–मुनियों द्वारा अन्वेषित सुखी स्वस्थ एवं अनुशासित जीवन जीने की ऐसी कला है, जो तन को सुगठित, मन को नियंत्रित तथा आत्मा को प्रकाशित करती है। जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है, जिस पर योग का प्रभाव न पड़ता हो। इसका प्रधान उद्देश्य जीवन का सर्वांगीण विकास करना है। शरीर मन, आत्मा इन सभी के विकसित होने पर ही हमारा व्यक्तित्व पूरी तरह परिष्कृत होता। इनमें से किसी एक का भी विकास अधूरा होने पर हमारा जीवन विकसित नहीं हो सकता।

पाठकों, योग के उद्देश्य का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत कियाजासकता है–

1. जीवन लक्ष्य का बोध
2. लक्ष्य प्राप्ति के विभिन्न मार्ग बताना
3. जीवन का सर्वांगीण विकास
4. सुप्त प्राणशक्ति का जागरण
5. दुःखों से मुक्ति

इन सभी का विस्तृत विवेचन निम्नानुसार है–

(1) जीवन लक्ष्य का बोध– योग हमारे ऋषि–मुनियों द्वारा अन्वेषित ऐसी विद्या है जो हमें जीवन के चरम लक्ष्य का बोध कराती है। हमें यह जीवन क्यों मिला है? इस जीवन को हमें किस तरह व्यतीत करना चाहिये? किस प्रकार की जीवनशैली को अपनाना चाहिये? इत्यादि सभी प्रश्नों का समाधान योग द्वारा होता है। हमारे जीवन का चरम लक्ष्य अपने आत्मस्वरूप का बोध करके उसमें प्रतिष्ठित होना है। इस तथ्य का बोध हमें योग द्वारा ही होता है। लक्ष्यविहीन जीवन की कोई सार्थकता नहीं होती है। हम जीते तो हैं, किन्तु वह जीना हमें कोई सकारात्मक परिणाम नहीं देता है। अतः स्व की अनुभूति के साथ एक सार्थक जीवन जीने का माग्र योग द्वारा ही प्रशस्त होता है।

(2) लक्ष्य प्राप्ति के विभिन्न मार्ग बताना– पाठकों, योगविद्या हमें केवल लक्ष्य ही नहीं दिखाती, वरन् उस लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जाये, इस हेतु विभिन्न मार्ग भी सुझाती है। जो व्यक्ति जिस प्रकृति का होता है, वह अपनी प्रकृति एवं प्रकृति का होता है, वह अपनी प्रकृति एवं सामर्थ्य के अनुसार मार्ग अपनाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार मार्ग अपनाने की स्वतंत्रता है। ये मार्ग अनेक हैं। जैसे ज्ञानयोग,भक्तियोग, कर्मयोग, मंत्रयोग, हठयोग, अष्टांग योग इत्यादि। योग साधना के मार्ग भिन्न–भिन्न होते हुये भी इन सभी का लक्ष्य एक है।

(3) जीवन का सर्वांगीण विकास– योग साधना द्वारा हमारे जीवन का समग्र विकास होता है। षट्कर्म, आसन, प्राणायाम इत्यादि के द्वारा जहाँ एक ओर हमें शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, वहीं स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि द्वारा हमारा मानसिक एवं भावनात्मक विकास होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि के द्वारा समाज में सहयोग एवं सौहार्द्र का वातावरण बनता है और इन सभी से अन्ततः हमारा आध्यात्मिक विकास होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि योग का उद्देश्य

हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण परिष्कार है। क्योंकि एक भी पक्ष के अधूरे रहने पर हम स्वयं को पूरी तरह विकसित नहीं कह सकते। शरीर, मन, आत्मा, समाज इन सभी का विकास योगसाधना के द्वारा होता है।

इस प्रकार वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से योग का अनिर्वचनीय महत्व है। योग के महत्व का विवेचन करते हुये श्वेताश्वर उपनिषद् में कहा गया है–

''न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगग्निमयं शरीरम्।।'' (श्वेताश्वरोपनिषद्)

अर्थात– ''योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले योगी के शरीर में न तो रोग होता है न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु होती है।''

स्वामी सत्यानंद सरस्वती के शब्दों में– ''योगाभ्यास न केवल बाल शरीर को स्वस्थ और लचीला बनाता है, अपितु उनमें अनुशासन और मानसिक सक्रियता भी लाता है, जिससे उनकी एकाग्रता बढ़ती है और सृजनात्मक प्रेरणा प्राप्त होती है, जो उनमें जन्मजात छिपी होती है।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि योग से हमारे व्यक्तित्व का समग्र विकास होता है।

(4) सुप्त प्राणशक्ति का जागरण– योग का उद्देश्य हमारी प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत करना है। हम सभी जानते हैं कि उर्जा से ही हमारा सम्पूर्ण जीवन और उसकी प्रत्येक गतिविधि संचालित हो रही है। जहाँ ऊर्जा की कमी या अधिकता है अर्थात उर्जा में असंतुलन है, वहीं कार्यों में रूकावट आने लगती है और विभिन्न विकार जन्म लेने लगते है। योग साधना द्वारा हमारा सम्पर्क ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से होने लगता है और हमारी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ सक्रिय एवं जाग्रत होने लगती है। प्रतिभा का जागरण योग साधना का प्रथम परिणाम है। ऐसा एक भी व्यक्ति मिलना मुश्किल है जो योगसाधना भी करता हो, और प्रतिभाशाली ना हो। योग साधना मानव से महामानव और महामानव से देवमानव बनाती है। मनुष्य अनंत शक्तियों का भण्डार है। इसमें बीज रूप में ऐसी सारी शक्तियाँ समायी है, जिसका जागरण होने पर वह ईश्वरतुतय बन सकता है, किन्तु ये सभी शक्तियाँ पूरी तरह विकसित नहीं है। भगवान् ने हमें यह जीवन ही इसलिये प्रदान किया है कि हम साधनात्मक जीवनशैली को अपनाते हुये अपनी शक्तियों को जाग्रत करें और एक उत्कृष्ट जीवन जीयें। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता एवं परिपूर्णता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि योग से हमारी प्रसुप्त शक्तियों का जागरण होता है।

(5) दुःखों से मुक्ति– योग का उद्देश्य दुःखों से मुक्ति प्रदान करना है। यह सत्य है कि सुख और दुःख दोनों हमारे जीवन के अनिवार्य हिस्से हैं। इस संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसके जीवन में या तो केवल सुख ही सुख हो या केवल दुःख ही दुःख है। इस जीवन रूपी चक्र में कर्मों की गति के अनुसार दोनों का आगमन होता रहता है। जैसे दिन के बाद रात, धूप के बाद छाँव आती है, वैसे ही सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता है।

पाठकों, अब आपके मन में सहज ही यह प्रश्न उठ रहा होगा कि जब सुख–दुःख जीवन के अनिवार्य अंग हैं तो फिर योग द्वारा दुःखों से मुक्त कैसे हुआ जा सकता है? इसका अभिप्राय यह है कि योग साधना से जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण में बदलाव आता है। संसार एवं स्वयं के जीवन को हम गहराई से समझने लगते हैं। हमारे जीवन में, जो घटनायें घटित होती हैं, जो परिस्थितियाँ बनती है, उनमें मूल कारण से हम अवगत होने लगते हैं, जिसके कारण हम सुख और दुःख के प्रति हमारा दृष्टिकोण तटस्थ होने लगता है। अर्थात् हम सुख में न तो अत्यधिक हर्षित होते हैं और न दुःख में अत्यधिक दुःखी अर्थात् समभाव में जीने लगते है। हमें इस तथ्य का बोध होने लगता है कि सुख और दुःख दोनों ही अनित्य और अस्थायी है। एकमात्र आत्मिक आनंद ही स्थायी है जिसके कारण दुःखद परिस्थितियों में भी हम हैरान–परेशान नहीं होते और उनका डटकर मुकाबला करते हैं। यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान देना अति आवश्यक है कि सुख और दुःख का प्रधान कारण कर्मसंस्कार है। पुण्यकर्मों का परिणाम सुख और पाप कर्मों का परिणाम दुःख है। अतः यदि हम सुख–दुःख रूप इन दोनों ही

प्रकार के भोगों से मुक्ति चाहते हैं तो हमें ऐसे प्रयास करने चाहिये, जिससे हमारे कर्म संस्कार क्षीण और अन्ततः नष्ट हो जाये। जब बीज ही नहीं रहेगा तो वृक्ष कैसे बनेगा? अर्थात् जब कर्म संस्कार ही समाप्त हो जायेंगे तो सुख–दुःख रूपी फल भी प्राप्त नहीं होंगे। जब व्यक्ति निरासक्त होकर अपने कर्म करता है तो नये कर्म संस्कार नहीं बनते और पुराने कर्म संस्कार क्षीण होने लगते हैं। परिणामस्वरूप धीरे–धीरे वह सुख और दुःख, पाप और पुण्य दोनों से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मविद्योपनिषद् ने इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुये कहा गया है कि–

''योगाभ्यास में जो श्रम किया जाता है,
वह निरर्थक नहीं जाता। प्रयत्नपूर्वक की
हुयी साधना समस्त दुःखों का निवारण करती है।'' (ब्रह्मविद्योपनिषद्)

पाठकों, उपर्युक्त विवेचन से आप भलीभाँति जान गये होंगे कि योग साधना का उद्देश्य जीवन के चरम लक्ष्य का बोध कराकर उसकी प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना है और यह तभी संभव है जब शरीर, मन और आत्मा पूरी तरह विकसित हो, चिन्तन, चरित्र और व्यवहार उत्कृष्ट हो।

अभ्यासार्थ प्रश्न **(सत्य / असत्य)**

1. योग साधना से प्रसुप्त शक्तियों का जागरण होता है। (सत्य / असत्य)
2. मानव जीवन का चरम लक्ष्य धन एवं यश प्राप्ति है।
(सत्य / असत्य)
3. योग साधना से हमारा सम्पर्क ब्रह्माण्डीय प्राण उर्जा से जुड़ने लगता है।
(सत्य / असत्य)

2.4 आयुर्वेद का उद्देश्य–

प्रिय पाठकों, योग के प्रयोजन का अध्ययन करने के बाद अब हम आयुर्वेद के उद्देश्य के बारे में अध्ययन करेंगे।

जैसा कि आपको ज्ञात है कि जिस शास्त्र में आयु का, स्वस्थवृत्त का, रोग निदान एवं उपचार का विवेचन किया जाता है, वह आयुर्वेद कहलाता है।

जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है कि–

'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्चते।। (च. सूत्र – 1/41)

अर्थात– ''जिस शास्त्र में हितकर आयु तथा अहितकर आयु, सुखी आयु एवं दुःखी आयु का वर्णन हो तथा आयु के लिये हित एवं अहित, आहार–विहार एवं औषध का वर्णन हो और आयु का मान बतलाया गया है तथा आयु का वर्णन हो, वह आयुर्वेद कहलाता है।''

विद्यार्थियों अब आपके मन में आयुर्वेद का क्या प्रयोजन है यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो रही होंगी।

आयुर्वेद के उद्देश्य का विवेचन करते हुये **आचार्य चरक** ने कहा है–

''प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षण मातुरस्य विकारप्रशमनं च।''
(च, सं, सूत्रस्थान 30/26)

अर्थात– इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा व्याधि पीड़ित मनुष्य के रोग का शमन करना है।''

आचार्य चरक के समान महर्षि सुश्रुत ने भी आयुर्वेद का यही उद्देश्य बताया है।

'' इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युयसृष्टानां
व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं चा।'' (सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान–1/12)

अर्थात्–''यहाँ आयुर्वेद का प्रयोजन व्याधि से पीड़ित मनुष्यों का व्याधि से मुक्त करना तथा स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना है।''

स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का रक्षण–

जैसा कि आपको ज्ञात है आयुर्वेद का प्रथम प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण है अर्थात स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थ्य बना रहे, वह रोगों से ग्रस्त न हो, इस हेतु आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त (दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या) एवं सद्वृत्त का वर्णन किया

गया है। जो स्व में स्थित होता है, वह स्वस्थ कहलाता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी की अपनी प्रकृति होती है, जिसके अनुसार उसका स्वकर्म एवं स्वधम्र संचालित होता है। इस प्रकार अपनी प्रकृति में स्थित रहने वाला व्यक्ति स्वस्थ और यह प्राकृत भाव स्वास्थ्य कहलाता है। इसके विपरीत भाव वैकृत भाव है, जो रोग का कारण है। साम्य एवं वैबम्य से इन्हीं अवस्थाओं की ओर संकेत किया गया है। आचार्य सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण बताते हुये कहा है–

''समदोषः समाग्निश्च,
समधातुमल क्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः
स्वस्थइत्यभिधीयते।।'' (सु. सू. –15:41)

अर्थात– ''जिस पुरुष के दोष, धातु, मल तथा अग्निव्यापार सम हो अर्थात् विकार रहित हो तथा जिसकी इन्द्रियाँ मन तथा आत्मा प्रसन्न हो, वहीं स्वस्थ है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि साम्यता का लक्षण प्रसन्नता है। इस स्थिति को बनाये रखना ही आयुर्वेद का प्रथम प्रयोजन है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वस्थ व्यक्तियों के लिये आयुर्वेद में दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का तथा उसके अनुसार आहार–विहार का विवेचन किया गया है। जो इन नियमों का पालन करता है वह निश्चित रूप से स्वस्थ रहता है और अपनी दीर्घायु का उपभोग करता है क्योंकि समय, स्थान, ऋतु और अपनी प्रकृति के अनुसार उचित आहार–विहार अपनाने से मनुष्य के शरीर में स्थित वात–पित्त–कफ ये त्रिदोष सम अर्थात् प्राकृत अवस्था में रहते हैं, लठराग्नि भी सामान्य रहती है, धातु और मल की क्रिया भी सम रहती है तथा आत्मा–इन्द्रिय और मन भी सदैव स्वस्थ रहते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस प्राणी के शरीर में सभी क्रियायें स्वाभाविक रूप से निष्पन्न होती रहती है, शरीर में किसी भी प्रकार की विषमता नहीं होती और वह सदैव स्वस्थ रहता है। अतः स्पष्ट है कि स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा इसके समुचित आहार–विहार का वर्णन करना आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य है।

आतुर के विकार का प्रशमन

व्याधिग्रस्त व्यक्ति के रोग को दूर करना आयुर्वेद का दूसरा प्रयोजन है। गलत आहार–विहार के कारण अर्थात् स्वस्थवृत्त का पालन न करने से शरीर में वात–पित्त–कफ में असन्तुलन हो जाता है, जो सप्तधातुओं को दूषित कर उनमें भी विषमता पैदा कर देते हैं। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते है। बहुत से रोग ऐसे भी होते हैं, जिनका कारण शारीरिक नहीं वरन् मानसिक, भावनात्मक या पिछले जन्मों के बुरे कर्म होते हैं। अतः विभिन्न प्रकार की औषधियों के प्रयोग द्वारा लंघन इत्यादि कार्य तथा अन्य चिकित्सा पद्धतियों द्वारा रोग निवृत्ति हेतु विभिन्न उपाय किये जाते है। इस प्रकार रोग को दूर करना आयुर्वेद का दूसरा प्रयोजन है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से आप जान गये होंगे कि प्रथमतः स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का रक्षण और स्वस्थवृत्त का पालन न करने पर विकारग्रस्त होने पर उस रोग को दूर करना ये दोनों ही आयुर्वेद के प्रयोजन है।

आचार्य चरक के मतानुसार ''धातु साम्य क्रिया'' भी आयुर्वेद का प्रयोजन है। जैसा कि चरक सूत्रस्थान में कहा गया है–

''धातुसाम्य क्रिया योक्ता तन्त्र स्थास्य प्रयोजनम्।।'' (चरकसूत्रस्थान 1/53)

अर्थात ''धातु साम्य क्रिया इस शास्त्र का प्रयोजन कहा गया है।''

अब आप सोच रहे होंगे कि धातुसाम्य से आयुर्वेदाचार्यों का क्या आशय है? धातु साम्य का तात्पर्य है– धातुओं की समानता अर्थात् उनमें वैषम्य या असंतुलन नहीं होना धातुओं में न्यूनता या अधिकता न होना, किन्तु यहाँ धातुओं से आशय केवल सप्तधातुओं से ही नहीं है, वरन् दोष, धातु एवं मल तीनों से ही है। जब भी किसी भी कारण से इनमें से किसी में भी विषमता आती है तो विकार उत्पन्न होने लगते हैं किन्तु जब साम्यावस्था बनी रहती है तो व्यक्ति स्वस्थ रहता है, आरोग्यता की प्राप्ति होती है। इसी भाव को प्रतिपादित करते हुये आचार्य चरक ने कहा है–

'' विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिकच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।।'' (चरक संहिता/ सूत्रस्थान–9/4)

अर्थात– ''धातुओं की विषमता विकार और समता प्रकृति कहलाती है। आरोग्य का नाम ही सुख और विकार का नाम दुःख है।''

प्रिय विद्यार्थियों, आपकी जानकारी के लिये बता दें कि ऊपर आयुर्वेद के जिन प्रयोजनों का विवेचन किया गया है, यह धातु साम्य क्रिया भी उन्हीं में समाहित है, उनसे अलग नहीं है, क्योंकि धातुओं में साम्य बनाये रखना ही **स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्** है तथा धातुओं में विकार उत्पन्न होने पर उन विषमता को दूर करना धातुओं के अर्थात् सप्तधातु त्रिदोष एवं त्रिमल के कार्य व्यापार को सामान्य करना अर्थात् धातुसाम्य स्थापित करना ही ''आतुरस्य विकार प्रथमनम् है। इस प्रकार आप समझ गये होंगे कि स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी के रोग को दूर करना ये दोनों ही कार्य धातु, दोष और मल की समता पर ही निर्भर है। इस प्रकार धातुसाम्य की क्रिया में आयुर्वेद के दोनों प्रयोजन ही समाविष्ट है। अतः आचार्य चरक के द्वारा अलग से जो धातुसाम्य क्रिया आयुर्वेद का प्रयोजन बताया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह पूर्व में वर्णित दोनों प्रयोजनों से भिन्न तीसरा प्रयोजन है।

पाठकों, आयुर्वेद जीवन विज्ञान होने के साथ–साथ चिकित्साशास्त्र भी है, जो व्याधिग्रस्त लोगों की चिकित्सा कर आरोग्य की प्राप्ति में सहायक होता है। अतः चिकित्सा का उद्देश्य भी स्वास्थ्य का रक्षण ही है।

आयुर्विज्ञान रत्नाकर में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है–

''आयुस्तन्त्रे समुद्दिष्टः सुस्थो भवति यादृशः।
तस्य पद्रक्षण व्यद्धि चिकित्सायाः प्रयोजनम्।। (आयुर्विज्ञान रत्नाकर)

अर्थात– ''आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित स्वस्थ पुरुष जैसा होता है, उसके स्वास्थ्य की जो रक्षा बतायी गई है वही चिकित्सा का प्रयोजन है।''

प्रिय पाठकों, शास्त्रोवत इन प्रमाणों से आयुर्वेद का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जब सम्यक् चिकित्सा द्वारा विविध विकारों का उपशमन होता है तथा स्वस्थवृत्त एवं सद्वृत्त आदि उपायों तथा अन्य नियमों का पालन करने से स्वास्थ्य का रक्षण होता है तो इसके परिणामस्वरूप सुखायु, हितायु और दीर्घायु की प्राप्ति होती है और दीघायु द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति संभव है। इस प्रकार देखा जाये तो सुखायु हितायु और दीर्घायु ही आयुर्वेद का प्रधान प्रयोजन है। इस आयु का लाभ हेतु ही ब्रह्म जी ने इस परम पवित्र एवं महान् आयुर्वेदशास्त्र की अभिव्यक्ति की और तब से लेकर आज तक यह ज्ञान अक्षुण्ण है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वस्थ दीर्घजीवन की प्राप्ति ही आयुर्वेद का मूल प्रयोजन है। पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में सहायक होने के कारण ही यह आयुर्वेदशास्त्र महान् एवं प्रशंसनीय है। इस लिये आचार्य वाग्भटट् ने इस महान् शास्त्र में परम श्रद्धाभाव रखने का निर्देश देते हुये कहा है–

''आयु कामायमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेष विधियः परमादः।।'' (अष्टांग संग्रह/ सूत्रस्थान)

अर्थात'' धर्म, अर्थ और सुख प्राप्ति का साधनभूत आयु (सुखायु, हितायु और दीर्घायु) प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को आयुर्वेद में दिये गये उपदेशों में परम आदर अर्थात श्रद्धाभाव रखना चाहिये।''

(अभ्यासार्थ प्रश्न) (खण्ड–ख)

(सत्य/असत्य)

1. **आयुर्वेद का मूल प्रयोजन धातु साम्य है। (सत्य/असत्य)**
2. **आरोग्यता पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का मूल आधार है। (सत्य/असत्य)**
3. **आयुर्वेद के अनुसार धातुयें तीन हैं। (सत्य/असत्य)**

2.5 सारांश–

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवेचन से आप समझ गये होंगे कि योग एवं आयुर्वेद ये दोनों ही हमारे जीवन से संबंधित शाश्वत विज्ञान हैं तथा दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। योग का प्रधान लक्ष्य जन्म–जन्मान्तर के कर्म संस्कारों को समाप्त करके अपने मूल स्वरूप आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है तथा आयुर्वेद का लक्ष्य स्वस्थ दीर्घजीवन की प्राप्ति है। यदि हम गहराई से विश्लेषण करें तो पायेंगे कि दोनों का प्रयोजन समान ही है क्योंकि आयुर्वेद में दीर्घायु प्राप्ति का उद्देश्य पुरुषार्थ चतुष्ट की प्राप्ति ही है और आप जानते ही है कि चारों पुरुषार्थें में अंतिम मोक्ष ही है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि एक संयमित अनुशासित जीवनशैली को अपनाते हुए अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही योग एवं आयुर्वेद का प्रधान प्रयोजन है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

सुप्त – सोई हुयी
प्राणशक्ति – जीवनीशक्ति
परिष्कृत – पवित्र, विकार रहित
लंघन – उपवास
सप्तधातु–रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र
त्रिदोष – वात, पित्त, कफ
त्रिमल – स्वेद, मूल, पुरीष
पुरुषार्थ चतुष्टय – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष
आतुर – रोगी
स्वस्थवृत्त – स्वस्थ रहने हेतु आयुर्वेद में वर्णित नियम अर्थात दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या।
सद्वृत्त – मानसिक आचार संहिता।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(खण्ड–क)
(1) सत्य (2) असत्य (3) सत्य
(खण्ड–ख)
(1) सत्य (2) सत्य (3) अ

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) जैन, राजकुमार (2011)– योग और आयुर्वेद, चौखंभा ओरियन्टालिया, दिल्ली।
(2) सिंह, रामहर्ष (2011) – स्वस्थवृत्त विज्ञान, चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।

2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

(1) योग एवं यौगिक चिकित्सा (2004), प्रो. रामहर्ष सिंह। चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
(2) कल्याण– आरोग्यांक। गीताप्रेस, गोरखपुर।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न–1 योग के उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।
प्रश्न–2 आयुर्वेद के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3 : योग एवं आयुर्वेद का सम्बन्ध

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 योग एवं आयुर्वेद का समबन्ध
3.3.1 यौगिक यम–नियम एवं आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त व आचार रसायन
3.3.2 यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म
3.3.3 योगासन एवं आयुर्वेदोक्त व्यायाम
3.3.4 यौगिक प्राणायाम एवं आयुर्वेदोक्त पँचप्राण
3.3.5 यौगिक धारणा, ध्यान, समाधि एवं आयुर्वेद
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विधार्थियों, आपने पूर्व की इकाई में आपने योग एवं आयुर्वेद के विषय में ज्ञान प्राप्त किया और योग एवं आयुर्वेद की अवधारणा एवं महत्व के विषय में जाना। आपने पूर्व इकाई में योग एवं आयुर्वेद के उद्देश्य को समझा। पूर्व इकाई में स्पष्ट किया गया कि योग एवं आयुर्वेद दोनों का मूल उद्देश्य मानव जीवन को स्वस्थ बनाकर ईश्वर के समीप लेकर जाना है। योग एवं आयुर्वेद के मूल स्वरुप एवं महत्व का अध्ययन के उपरान्त आपके मन में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि योग एवं आयुर्वेद में आपस में क्या सम्बन्ध है ? योग एवं आयुर्वेद के कौन कौन से बिंदु आपस में क्या–क्या समानताएं एवं विभिन्नताएं रखते हैं। चूंकि योग एवं आयुर्वेद दोनों विद्याएं भारतीय वैदिक साहित्य सागर से उत्पन्न अमृत रस हैं जिनका मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य पर सीधा प्रभाव पडता है, इन दोनों का उद्देश्य मानव जाति का उपकार करना है अतः इस संदर्भ में ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है कि इन दोनों का आपस में क्या सम्बन्धहै?

योग के आदि प्रवक्ता के रुप में हिरण्यगर्भ का वर्णन आता है। हिरण्यगर्भ ईश्वर का वाचक शब्द है अर्थात हिरण्यगर्भ से तात्पर्य ईश्वर से है। इसी प्रकार आयुर्वेद के मूल प्रवक्ता ब्रह्मा को स्वीकार किया जाता है अर्थात यह दोनों विधाएं मूल रुप से ईश्वर से उत्पन्न है। इन दोनों ज्ञानों का उपदेश ईश्वर द्वारा मानव जाति के कल्याणार्थ किया गया है। इस संदर्भ में श्लोक यह भी है कि

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतंजलि प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

अर्थात योग से चित्त का, पद अर्थात व्याकरण से वाणी का और वैद्यक से शरीर का मल, जिन्होने दूर किया, उन मुनि श्रेष्ठ पतंजलि को मैं अंजलि बद्ध होकर नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार यहाँ पर योग एवं आयुर्वेद के ज्ञान के उपदेशकर्ता के रुप में महर्षि पतंजलि का नमन किया गया है। यह श्लोक योग एवं आयुर्वेद में सम्बन्ध की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार उपरोक्त तथ्य योग एवं आयुर्वेद के ज्ञान की उत्पत्ति में मूल समानता को प्रकट करते हैं। अनेक उदाहरणों से योग एवं आयुर्वेद शास्त्र में सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक समानताएं प्रकट होती हैं। इसे जानने के उपरान्त अब आपके मन में इस विषय को अधिक गहराई से समझने की इच्छा अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी। इसके साथ साथ योग में वर्णित योगागों एवं आयुर्वेद में वर्णित आयुर्वेदोक्त कर्मों के सम्बन्ध को जानने की जिज्ञासा भी आपके सम्मुख उपस्थित हुई होगी। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने से आप इन बिंदुओं का स्पष्ट एवं विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर पाओगें।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- योग एवं आयुर्वेद के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पँचकर्म को जान पाओगें।
- यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पँचकर्म के सम्बन्ध का वर्णन कर सकेंगे।
- योग एवं आयुर्वेद के महत्व को जान पाओगें।
- यम ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

3.3 योग एवं आयुर्वेद में सम्बन्ध

प्रिय पाठकों, योग एवं आयुर्वेद का विकास एवं प्रयोग सम्पूर्ण मानव जाति को स्वस्थ बनाते हुए मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर करना है। इन दोनों विद्याओं का उद्गम एवं विकास भारत वर्ष में हुआ। प्रस्तुम इकाई का विषय योग एवं आयुर्वेद में सम्बन्ध को जानना है। योग एवं आयुर्वेद में सम्बन्ध को जानने के लिए हमें योग एवं आयुर्वेद का विस्तृत अध्ययन करना होगा क्योंकि योग एवं आयुर्वेद को जानने एवं समझने के उपरान्त ही हम इनके सम्बन्ध को समझने में सक्ष्म होगें। जैसा कि आपने पूर्व इकाई में योग के विषय में जाना कि महर्षि पंतजलिकृत अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि नामक आठ अंग होते हैं तथा हठयोग के अन्तर्गत षट्कर्म, आसन, मुद्रा–बंध, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान एवं समाधि नामक सप्त साधनों का उल्लेख आता है। इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में पूर्व कर्म, प्रधान कर्म और संर्सजन कर्म के रुप में तीन प्रमुख कर्मों को वर्णित किया गया है। पूर्व कर्म के अन्तर्गत स्नेहन एवं स्वेदन कर्म का वर्णन आता है। इन कर्मों के द्वारा शरीर एवं मन का शोधन करने के उपरान्त रोगी पुरुष को स्वस्थ बनाने हेतु औषध चिकित्सा का प्रयोग आयुर्वेद शास्त्र में किया जाता है।

योग शास्त्र में व्याधि, सत्यान आदि नौ तत्वों को योग के बाधक तत्व की श्रेणी में रखा गया है जबकि इसके समान आयुर्वेद शास्त्र में आदिभौतिक, आदिदैविक एवं आध्यात्मिक कष्टों को जीवन के बाधक तत्व माना गया है। इसके साथ साथ मानव जीवन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र के समान योग शास्त्र में भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को मानव जीवन के मूल उद्देश्य के रुप में वर्णित किया गया है। योग शास्त्र में योगी पुरुष हेतु औषधि, मंत्र, जप और तप से सिद्धि प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है तो वहीं समान रुप से आयुर्वेद शास्त्र में वैध हेतु इसका उपदेश किया जाता है।जिस प्रकार महर्षि पतंजलि कृत अष्टांग योग में योग के आठ अंगों की व्याख्या की जाती है उसी प्रकार समान रुप में आयुर्वेद शास्त्र में भी अष्टविभाजन का वर्णन प्राप्त होता है जो कि योग एवं आयुर्वेद में मूल समानता की ओर संकेत करता है। योगसूत्रों के अन्दर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नामक पंचक्लेशों को वर्णित करते

हुए इन्हे बंधन का कारण एवं मानव जीवन में दुख व कष्ट की उत्पत्ति कारण बतलाया गया है। योग शास्त्र में इन क्लेशों का त्याग करने का उपदेश किया गया है। इसी प्रकार समान रुप से आयुर्वेद शास्त्र में इस विषय का सम्यक निरुपण आयुर्वेद के ग्रन्थों में किया गया है तथा वैध को इनसे बचने एवं छोडने का उपदेश किया गया है।

योगशास्त्र में चित्त प्रसाद्यन अर्थात मन को प्रसन्न करने के उपाय में रुप में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा नामक चार भावनाओं का उपदेश किया गया है। इन भावों को रखने से योगी साधक का मन प्रसन्न रहता है और योगी साधक पुरुष ईश्वर के चिन्तन में लीन रहता हुआ मुक्ति के पथ पर अग्रसर रहता है। इसी प्रकार समान रुप से आयुर्वेद शास्त्र में महर्षि चरक वैध की उपरोक्त चार वृत्तियों का वर्णन करते हुए कहते हैं –

मैत्री करुण्यमातैषु शक्ये प्रितिरुपेक्षणम् ।प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा।।(च0सू0 9/26)

इस प्रकार महर्षि चरक रोगी के रोग को दूर करने के लिए जीव मात्र एवं औषधि से मित्रता, रोगी पुरुष के प्रति करुणा के भाव रखने का उपदेश करते हैं। साध्य रोगों की प्रेम एवं प्रसन्नतापूर्वक चिकित्सा का उपदेश करते हुए असाध्य रोगों के प्रति उपेक्षा के भाव रखने का उपदेश महर्षि चरक के द्वारा वैध को किया गया है।

इस प्रकार योग एवं आयुर्वेद में मूल रुप से समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। इसके साथ साथ अष्टांग योग एवं आयुर्वेद की इन समानताओं का बिंदुवार अध्ययन इस प्रकार है

3.3.1 यौगिक यम–नियम एवं आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त व आचार रसायन

प्रिय पाठकों, योग के मूल आधार अर्थात नीव के रुप में पाँच यम और पाँच नियमों का उपदेश किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँच यम योग पुरुष के योगरुपी भवन को आधार प्रदान करते हैं। इसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान नामक पाँच नियमों का पालन योगी पुरुष की योग साधना को गति प्रदान करता है। यम के द्वारा सामाजिक उत्थान एवं नियम के द्वारा व्यक्तिगत उत्कर्ष की प्राप्ति होती है। यम और नियम का पालन करने से योगी पुरुष की चित्त वृत्तिया शान्त एवं स्थिर होने लगती है एवं योग साधना हेतु दृढ पृष्टभूमि का निमार्ण होता है।जिस प्रकार यम–नियम को महर्षि पतंजलि अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देते हुए यम–नियम से योग का प्रारम्भ करते हैं, ठीक इसी प्रकार आचार्य चरक यम–नियम के समान सद्वृत्त एवं आचार रसायन को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं। रोगों को दूर करने में सद्वृत्त एवं आचार रसायन बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका का वहन करते हैं। दूसरे शब्दों में सद्वृत्त एवं आचार रसायन का पालन किए बिना औषध चिकित्सा भी निष्प्रभावी सिद्ध होती है। इसके साथ साथ वैध को अपने जीवन में सद्वृत्त एवं आचार रसायन का पालन अनिवार्य रुप से करना चाहिए। जिस प्रकार यम और नियम के पाँच–पाँच भेद किए गये हैं, ठीक इसी प्रकार सद्वृत्त को वैयक्तिक, मानसिक, सामाजिक एवं नैतिक के रुप में अलग अलग भागों में बांटकर वर्णित किया गया है। रोगोपचार में सद्वृत्त की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। इसी प्रकार सद्वृत्त के समान श्रेष्ठ आचरण को रसायन के समान गुणकारी एवं लाभकारी मानते हुए आयुर्वेद शास्त्र में इनके लाभों को वर्णित किया गया है। इसके साथ साथ आयुर्वेद शास्त्र में दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का उल्लेख भी स्वस्थ्य को उन्नत बनाए रखने के उद्देश्य से किया गया है। तात्पर्य यह है कि यौगिक यम–नियम की तुलना आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त एवं आचार रसायन के साथ की जा सकती है क्योंकि नाम भेद के साथ दोनों स्थानों पर मूल विषय एक समसन है।

3.3.2 यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म

प्रिय पाठकों, हठयोग में शरीर शोधन हेतु धौति, बस्ति, नेति, नौली, त्राटक एवं कपालभाति नामक छह शोधन क्रियाओं का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार योग में शरीर शोधनार्थ उपरोक्त षट्कर्मों को वर्णित किया गया है, ठीक इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में शरीर शोधन करने हेतु स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन एवं नस्य कर्म के रुप में पंचकर्मों का उपदेश किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में वात–पित्त एवं कफ नामक

त्रिदोषों को स्वास्थ्य का मूल आधार माना गया है। मानव शरीर में यह तीन दोष की साम्यावस्था में रहते हुए सभी क्रियाओं का संचालन भलि भांति करते हैं किन्तु इसके विपरित इन दोषों के विकृत होने पर शरीर में विकार अर्थात रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर में इन तीन दोषों की न्यूनता एवं अधिकता को सम बनाने हेतु योग शास्त्र में षट्कर्म एवं समान रुप में आयुर्वेद शास्त्र में पँचकर्मों का उल्लेख किया गया है।

योग के प्रमुख ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में षट्कर्म का उपदेश करते हुए योगी स्वात्माराम कहते हैं –

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्व षट्कर्माणि समाचरेत।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः।। (हठयोग प्रदीपिका 2/21)

अर्थात मेद और श्लेष्मा की अधिकता होने पर षट्कर्म का आचरण करें। जिन्हे मेद व श्लेष्मा की अधिकता नही है अर्थात जिनके दोष समभाव में स्थित हैं वे इनका आचरण ना करें। इस प्रकार शरीर में त्रिदोषों की विषमता एवं मेद व श्लेष्मा की अधिकता होने पर यौगिक ग्रन्थों में षट्कर्म का उपदेश किया गया है, समान रुप में आयुर्वेद शास्त्र में त्रिदोषों की विषमता के शमन एवं विषाक्त पदार्थों के शोधन हेतु वमन, विरेचन नामक पूर्व कर्म एवं स्नेहन, स्वेदन, अनुवासन वस्ति, निरुह वस्ति एवं रक्तमोक्षणम् नामक प्रधान कर्मों का उपदेश किया गया है। इन पँचकर्मो का उद्देश्य शरीर में रोगों को उत्पन्न करने वाले अर्थात विकृत अवस्था को प्राप्त दोषों को प्राकृत अर्थात सम बनाना होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि योग एवं आयुर्वेद दोनों ही स्थानों पर शरीर शोधनार्थ एवं वात–पित्त व कफ नामक त्रिदोषों को सम बनाने के उद्देश्य से क्रमशः षट्कर्म एवं पँचकर्म का उपदेश किया गया है।

3.3.3 योगासन एवं आयुर्वेदोक्त व्यायाम

प्रिय पाठकों, योग के एक महत्वपूर्ण अंग के रुप में योगासनों का उल्लेख आता है। योग में शरीर को स्वस्थ, लचीला एवं मन को एकाग्र बनाने के उद्देश्य से योगासनों का उपदेश योग के सभी प्रमुख ग्रन्थों में किया गया है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक योगासनों की महत्ता एवं उपादेयता का वर्ण सभी यौगिक ग्रन्थों में किया गया है। विशेष रुप में योग चिकित्सा में योगासन का प्रयोग एक अचूक शस्त्र के रुप में किया जाता है। योग के प्रमुख ग्रन्थ योग दर्शन में महर्षि पतंजलि आसन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

स्थिरसुखमासनम्।। (पा0 योगसूत्र 2/46)

अर्थात स्थिरतापूर्वक एवं सुखपूर्वक किया गया अभ्यास आसन कहलाता है।

योगासनों का सतत् अर्थात निरन्तर अभ्यास करने से शरीर स्वस्थ, लचीला, हल्का एवं अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त बनता है। इसके साथ साथ योगासन मानसिक शान्ति प्राप्त करने के अपूर्व साधन हैं। योगासनों का अभ्यास करने से शरीर में दृढता एवं स्थिरता के साथ स्फूर्ति का संचार होता है। यौगिक ग्रन्थों में शारीरिक एवं मानसिक लाभ प्राप्त करने हेतु योगासनों का उल्लेख किया गया है।

आयुर्वेद शास्त्र में योगासनों के समान लाभकारी अभ्यास के रुप में व्यायाम को वर्णित किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में व्यायाम को स्पष्ट करते हुए कहा गया है –

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायाम संख्याता मात्रया तां समाचरेत।। (चरक संहिता 7/31)

अर्थात शरीर की वह चेष्टा जो शरीर की स्थिरता के लिए की जाती है और जो शरीर के बल को बढाने वाली होती है, व्यायाम कहलाती है। इसे मात्रापूर्वक करना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि योग एवं आयुर्वेद दोनों शास्त्रों में शारीरिक एवं मानसिक लाभ हेतु क्रमशः योगासन एवं व्यायाम को वर्णित किया गया है। यद्यपि योगासन एवं व्यायाम को करने की विधि अलग अलग होती है किन्तु इन दोनों अभ्यासों का मूल उद्देश्य एक समान है।

3.3.4 प्राणायाम एवं आयुर्वेदोक्त पंचप्राण

प्रिय पाठकों, योग में आसन के समान महत्वपूर्ण क्रिया प्राणायाम को वर्णित किया गया है। प्राणायाम का अभ्यास प्राण ऊर्जा में वृद्धि करने के उद्देश्य से किया जाता है। प्राणायाम को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं –

तस्मिन सति श्वासप्रश्वाससोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।। (पा0 योगसूत्र 2/48)

अर्थात आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति में विच्छेद कर देना अर्थात श्वास प्रश्वास को अलग अलग कर देने की क्रिया प्राणायाम कहलाती है।

आयुर्वेद शास्त्र में वायु को प्राण की संज्ञा से सुशोभित किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में प्राण को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हुए कहा गया –

वायुः यन्त्रतन्त्रधरः।। (चरकसूत्र)

अर्थात वायु यन्त्र अर्थात शरीर एवं तन्त्र अर्थात इनके कायों को धारण करने वाली है। यहां पर वायु का सम्बन्ध शरीर के साथ साथ मन से भी कहा गया है। इसके साथ साथ आयुर्वेद शास्त्र में वायु के पांच भेदों को स्पष्ट किया गया है। प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान नामक पांच भेदों से वायु शरीरिक अंग–अवयवों को धारण करने के साथ साथ इनकी चेष्टाओं, गतियों व कार्यों को नियंत्रित करने का कार्य करती है। इस शरीरस्थ वायु पर नियंत्रण स्थापित करना ही प्राणायाम कहलाता है जिसका उल्लेख योग ग्रन्थों के साथ साथ आयुर्वेद शास्त्र में भी प्राप्त होता है।

3.3.5 यौगिक धारणा, ध्यान, समाधि एवं आयुर्वेद

प्रिय पाठकों, योग के अन्तर्गत धारणा, ध्यान एवं समाधि को अन्तरंग योग के रुप में वर्णित किया गया है। योगी पुरुष यम–नियम से अपनी योग साधना को प्रारम्भ करते हुए धारणा, ध्यान और समाधि का सोपान करता है। धारणा, ध्यान एवं समाधि को योग के उच्चतम् सोपान माना गया है। इन तीनों का किसी एक विषय में स्थित होना संयम कहलाता है जिसके फलस्वरुप योगी पुरुष को सिद्धि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योगसिद्धि प्राप्त करने में धारणा, ध्यान एवं समाधि अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका वहन करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में मानस रोगों की चिकित्सा करने के लिए धारणा, ध्यान एवं समाधि को अलग रुप में वर्णित किया है। आयुर्वेद शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य चरक मानस रोगों का चिकित्सा सूत्र बताते समय समाधि को वर्णित करते हैं। इसके साथ साथ समाधि से पूर्व ज्ञान, विज्ञान, धैर्य और स्मृति का उल्लेख भी आचार्य चरक द्वारा किया गया है। इस ज्ञान, विज्ञान, धैर्य और स्मृति का सम्बन्ध धारणा एवं ध्यान से ही है। आचार्य चरक स्पष्ट करते हैं कि मानस रोगों से ग्रस्त मनुष्य को धर्म–अर्थ व काम का ध्यान करना चाहिए। आचार्य चरक ने योग विद्या से प्राप्त उच्च कोटि की प्रज्ञा बृद्धि का वर्णन सत्याबुद्धि के नाम से किया है।

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि योग एवं आयुर्वेद दोनों शास्त्रों में धारणा, ध्यान एवं समाधि को वर्णित किया गया है। यद्यपि दोनों स्थानों में विधि भेद एवं नाम भेद अवश्य प्राप्त होता है किन्तु इनके लाभों एवं प्रभावों में एकरुपता को दोनों स्थानों पर स्वीकार किया गया है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– सत्य/ असत्य

(क) आयुर्वेद शास्त्र में वायु को प्राण की संज्ञा से सुशोभित किया गया है।

(ख) आयुर्वेदोक्त पंचकर्मों का उद्देश्य शरीर में प्राकृत अवस्था को प्राप्त दोषों को विकृत बनाना होता है।

(ग) योगासन मानसिक शान्ति प्राप्त करने के अपूर्व साधन हैं।

(घ) आचार्य चरक ने योग विद्या से प्राप्त उच्च कोटि की प्रज्ञा बृद्धि का वर्णन सत्याबुद्धि के नाम से किया है।

(ड) आचार्य चरक मानस रोगों का चिकित्सा सूत्र बताते समय पंचकर्म को वर्णित करते हैं।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) ––––– रोगों के प्रति उपेक्षा के भाव रखने का उपदेश महर्षि चरक के द्वारा वैध को किया गया है।

(ख) स्थिरतापूर्वक एवं सुखपूर्वक किया गया अभ्यास ––––– कहलाता है।

(ग) आयुर्वेद शास्त्र में वायु के ––––– भेदों को स्पष्ट किया गया है।

(घ) आयुर्वेद शास्त्र में योगासनों के समान लाभकारी अभ्यास के रुप में ––––– को वर्णित किया गया है।

(ड) शरीरस्थ वायु पर नियंत्रण स्थापित करना ही ––––– कहलाता है।

3– एक शब्द में उत्तर दीजिए –

(क) मानव जीवन कितने पुरुषार्थों का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है ?

(ख) शरीर की वह चेष्टा जो शरीर की स्थिरता एवं शरीर के बल को बढाने वाली होती है,क्या कहलाती है ?

(ग) आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति में विच्छेद कर देने की किया क्या कहलाती है ?

(घ) आचार्य चरक के अनुसार यन्त्र अर्थात शरीर एवं तन्त्र अर्थात इनके कायों को धारण कौन धारण करता है ?

(ड) धारणा, ध्यान एवं समाधि, इन तीनों का किसी एक विषय में स्थित होना क्या कहलाता है ?

4–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) आयुर्वेद शास्त्र में स्वास्थ्य का मूल आधार माना गया है –

(a) वात (b) पित्त

(c) कफ (d) सभी ।

(ख) हठयोग प्रदीपिका के अनुसार शरीर में मेद और श्लेष्मा की अधिकता होने पर क्या करना चाहिए –

(a) आसन (b) प्राणायाम

(c) ध्यान (d) षट्कर्म ।

(ग) योग के अन्तर्गत धारणा, ध्यान एवं समाधि को किस रुप में वर्णित किया गया है–

(a) बर्हिरंग योग (b) अन्तःरंग योग

(c) ज्ञानयोग (d) ध्यानयोग।

(घ) निम्न में से कौन सा अभ्यास आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में वर्णित नही है –

(a) कपालभाति (b) स्नेहन

(c) स्वेदन (d) वमन ।

(ड) यौगिक यम–नियम की तुलना आयुर्वेद में किसके साथ की जा सकती है–

(a) सद्वृत्त (b) आचार रसायन

(c) दोनों (d) इनमें कोई नही।

3.4 सारांश–

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई का प्रारम्भ योग एवं आयुर्वेद की उत्पत्ति से किया गया है। यहां पर स्पष्ट किया गया है कि इन दोनों विद्याओं का उद्गम एवं विकास भारत वर्ष में हुआ। इकाई में योग एवं आयुर्वेद के प्रमुख विषयों का सम्यात्मक अध्ययन किया गया है। योग में जहां योगी पुरुष हेतु आवश्यक दिशा निर्देश किए गये हैं तो वहीं दूसरी ओर आयुर्वेद शास्त्र में वैध के लिए आवश्यक उपदेशों में मूलभूत समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। योगशास्त्र में चित्त प्रसाधन अर्थात मन को प्रसन्न करने के उपाय में रुप में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा नामक चार भावनाओं का उपदेश किया गया है। इन भावों को रखने से योगी साधक का मन प्रसन्न रहता है। इसी प्रकार समान रुप से आयुर्वेद शास्त्र में महर्षि चरक वैध की इन्ही चार वृत्तियों का वर्णन करते हैं।

इकाई में आगे अष्टांग योग के आठ अंगो का सम्यक विवेचन आयुर्वेद शास्त्र के साथ किया गया है। यम–नियम के समान आयुर्वेद शास्त्र में सद्वृत्त एवं आचार रसायन को

वर्णित किया गया है। योग के अगले महत्वपूर्ण अंग आसन के समान अर्थ में व्यायाम का वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। प्राणायाम के समान अर्थ में वायु के पांच भेदों– प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। योग के अन्तरंग पक्ष अर्थात धारणा, ध्यान एवं समाधि को भी नाम भेद के साथ आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित किया गया है। अंत में योग एवं आयुर्वेद शास्त्र की मूल समानताओं के साथ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए इकाई को पूर्ण किया गया है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली–

त्रिदोष	शरीर में उपस्थित वात–पित्त–कफ नामक तीन उपयोगी द्रव्य
पादांशिक	एक निश्चित एवं सुव्यवस्थित क्रम
चेष्टा	प्रयास
आदान	लेना, ग्रहण करना
प्रदान	देना
विक्षेप	विचलन, हलचल उत्पन्न करना

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	सत्य	क.	असाध्य	क.	चार	क.	D
ख.	असत्य	ख.	आसन	ख.	व्यायाम	ख.	D
ग.	सत्य	ग.	पाँच	ग.	प्राणायाम	ग.	B
घ.	सत्य	घ.	व्यायाम	घ.	वायु	घ.	A
ड.	असत्य	ड.	प्राणायाम	ड.	संयम	ड.	C

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रो0 रामहर्ष सिंह – स्वस्थवृत्त विज्ञान – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली। (पुनःमुद्रित संस्करण 2014)
2. कल्याण आरोग्य अंक (जनवरी एवं फरवरी 2001 ई0) – गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. आचार्य बालकृष्ण – आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य, दिव्य प्रकाशन, दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट, हरिद्वार। (संस्करण फरवरी 2007)।
4. ब्रह्मवर्चस – आयुर्वेद का दर्शन, क्रिया शारीर एवं स्वस्थ वृत्त, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुँज, हरिद्वार। (छटा संस्करण 2010)
5. आचार्य राजवीर शास्त्री – वैदिक सन्ध्या हवन पद्धति – आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली। (संस्करण अक्टूबर 1999)

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न–

प्रश्न 1. योग एवं आयुर्वेद का साम्यरुप विवेचन लिखिए।

प्रश्न 2. योग एवं आयुर्वेद में समानताओं व विभिन्नताओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3. योग एवं आयुर्वेद के साम्यरुप विवेचन को स्पष्ट किजिए।

प्रश्न 4. अष्टांग योग के योगागों का आयुर्वेदोक्त कर्मों से तुलनात्मक अध्ययन किजिए।

प्रश्न 5. टिप्पणियां लिखिए :

(1) योगासन एवं आयुर्वेदोक्त व्यायाम (2) यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म

(3) यौगिक प्राणायाम एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म (4) योग एवं आयुर्वेद का सम्बन्ध

इकाई–4 अष्टांग योग परिचय

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 अष्टांग योग परिचय
4.3.1 यम
4.3.2 नियम
4.3.3 आसन
4.3.4 प्राणायाम
4.3.5 प्रत्याहार
4.3.6 धारणा
4.3.7 ध्यान
4.3.8 समाधि
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना–

प्रिय पाठकों प्रस्तुत ईकाई में हमारे अध्ययन का विषय है–''अष्टांग विवेचन''। जैसा कि आपकों ज्ञात है अष्टांग योग। योग दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है, जिसमें महर्षि पतंजलि ने यह बताया है कि किस प्रकार हम यौगिक अभ्यासों को सुव्यवस्थित एवं अनुशासित ढंग से अपनाकर अपने जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला सकते हैं एवं अपनी चेतना को उच्चतर आयामों तक पहुँचा सकते हैं। वास्तव में देखा जाये तो अष्टांग योग के माध्यम से योग के सैद्धान्तिक पक्षों को कैसे हम व्यवहार में अपना सकते हैं इसकी सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विवेचना की गई है। अष्टांग योग के 8 महत्त्वपूर्ण अंग है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इन सभी का विस्तृत अध्ययन हम इस ईकाई में करेंगे।

4.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत ईकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

- ❖ अष्टांग योग की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- ❖ अष्टांग योग के आठ अंग– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का विस्तृत विवेचन कर सकेंगे।

4.3 अष्टांग योग परिचय–

प्रिय पाठकों, जैसा कि आपको स्पष्ट हो चुका है कि महर्षि पतंजलि प्रणीत योग साधना को **अष्टांग योग** के नाम से जाना जाता है। इस साधना विधि के आठ चरण या अंग होने के कारण ही इसका नाम अष्टांग योग है। महर्षि पतंजलि ने अपने महान् ग्रन्थ योगसूत्र के द्वितीय पाद **साधनपाद** के **29वें** सूत्र में अष्टांग योग का विवेचन करते हुये कहा है–

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। –2/29

अर्थात– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि– ये आठ योग के अंग है।

वास्तव में यदि देखा जाये तो महर्षि पतंजलि के इस योगसूत्र में सम्पूर्ण योग निहित है। योग साधना की जितनी भी विधियाँ है या हो सकती हैं वे सब इस एक सूत्र में

समाहित है। अष्टांग योग की इन आठ विधियों को योगविशारदों ने चरण तथा अंग दोनों ही कहा है और इन दोनों शब्दों का प्रयोग इनके लिये अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ता है। इनको चरण इसलिये कहा गया है, क्योंकि एक के पीछे दूसरा स्वतः चला आता है अर्थात् इनके विकास का एक सतत् क्रम है, किन्तु चरण होने के साथ–साथ ये योगसाधना की देह के विभिन्न अंग भी है। जैसे शरीर के विभिन्न अंग परस्पर संबंधित होते हैं और आपस में मिलकर कार्य करते है एवं एक भी अंग के क्षतिग्रस्त हो जाने का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है उसी प्रकार योग के इन आठों अंगों में भी एक आन्तरिक जुड़ाव है, एक भी अंग के न होने पर साधना अधूरी ही रह जायेगी और अपने समग्र तथा सार्थक परिणाम प्रस्तुत नहीं कर पायेगी। योग के इन आठ अंगों का सामूहिक महत्व होने के साथ–साथ अपना अलग–अलग विशिष्ट महत्व भी है। प्रत्येक अंग की अपनी विशिष्ट साधना विधि और फल है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि यह आवश्यक नहीं कि इन्हें एक के बाद दूसरे इस क्रम में अपनाया जाये। जीवन साधना ऐसी अपनानी चाहिये जिसमें इन सभी को उचित स्थान मिले। इस सृष्टि में प्रत्येक प्राणी को परमात्मा से सीमित ऊर्जायें मिली हुयी हैं, किन्तु इन सीमित ऊर्जाओं को असीमित करने की अनंत संभावनायें हम सभी के भीतर छिपी हुयी हैं। आवश्यकता है इनके प्रति सचेत होने की। अष्टांग योग की साधना इस सीमित ऊर्जा का प्रयोग कुछ इस तरह से करना सिखाती है कि असीम ऊर्जा का द्वार खोल देती है। साधारण सा जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ज्ञान, शक्ति तथा प्रकाश का अजस्र एवं अक्षय स्रोत बन जाता है। योग के इन आठ अंगों या चरणों का परिचय निम्नानुसार है–

1. यम
2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि

4.3.1 यम– अष्टांग योग में पहला चरण 'यम' है। वास्तव में देखा जाये तो यह ऊर्जा संरक्षण की साधना विधि है। एक साधक के लिये यम का पालन करना इसलिये आवश्यक है ताकि उसकी ऊर्जा व्यर्थ में नष्ट न होने पाये, उर्जा का क्षरण रूक सके। यम का संबंध मुख्यता साधक के व्यवहार से है। यम के सतत् पालन से साधक का व्यवहार इतना परिष्कृत हो जाता है कि इससे उसके जीवन में अनेक आश्चर्यजनक परिणाम देखने को मिलते हैं।

अध्यात्म विद्या के साहित्य में, पुराणों की कथाओं में **यम** शब्द की बड़ी चर्चा की गई है। पुराणों के अनुसार यहम संयमिनी पुरी का अधिपति है, जो जीवात्माओं को अपने अनुशासन में रखता है। ऐसा माना जाता है कि संयमिनी पुरी में जीवात्माओं को विविध विधियों से पापमुक्त किया जाता है। अधिपति यमदेव वहाँ जीवात्माओं को कड़े अनुशासन में रखते हैं। अतः भगवान श्रीकृष्ण ने भी **श्रीमद्भगवद्गीता** के 10वें अध्याय के 29वें श्लोक में यम को अपनी विभूति बताते हुये महान् योद्धा अर्जुन से कहा है–

यमः संचमतामह्म– 10/29

अर्थात–''अनुशासन करने वालों में मैं यम हूँ।'' महर्षि पतंजलि के मतानुसार स्वयं के प्रति कठोरता और दूसरों के प्रति उदारता दिखाते हुये प्रत्येक योगसाधक को स्वयं ही अपने लिये यम की भूमिका निभानी पड़ती है अर्थात् अनुशासित जीवनशैली को अनिवार्यतः अपनाना होता है। जिस प्रकार यमदेव दण्ड धारण करते है, ठीक उसी प्रकार एक योग साधक को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंचमहाव्रतों का पालन करना पड़ता है। इन पंचमहाव्रतों का अनुशासन स्वीकार करने से ही वह साधना पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो पाता है। बिना अनुशासन के योग

साधना करना संभव नहीं है। महर्षि पतंजलि ने तो अपने योग का प्रारंभ ही अनुशासन से करते हुये कहा है–

अथ योगानुशासनम्। – 1/1

अर्थात–अब योग का अनुशासन शुरू होता है।

कहने का आशय यह है कि अब तक जीवन जीने की जो भी रीति थी, जो भी शैली थी वह ठीक, किन्तु अब जब योगसाधना करने का निश्चय किया है तो जीवनशैली भी बदलनी होगी, अनुशासित जीवन जीना होगा, तभी योगसाधना कर पाना संभव है, अन्यथा नहीं। इसलिये महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग के प्रथम चरण में एक योगसाधक को पंच यमों के अनिवार्य पालन के द्वारा एक संयमित, अनुशासित जीवनशैली अपनाने का निर्देश दिया है। यम के पालन से व्यक्ति का आचरण पवित्र होता है। बिना पवित्र आचरण के योगमार्ग पर एक कदम भी चलना संभव नहीं है। इस तथ्य की महिमा को उजागर करते हुये वशिष्ट धर्मसूत्र में कहा गया है–

आचारहीनं न पुनन्तिवेदा,
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकालेत्यज्यन्ति,
नीरं शकुन्ता इवजात पक्षाः।। (वशिष्ट धर्मसूत्र– 6/3)

अर्थात ''षडंगों सहित अध्ययन किये गये वेद भी आचारहीन व्यक्ति को पवित्र नहीं कर सकते। मृत्युकाल में उस आचारहीन व्यक्ति को उसी प्रकार परित्यक्त कर देते हैं (छोड़ देते है) जिस प्रकार पंख निकल आने पर पक्षी घोंसले को छोड़ देते हैं।

इसलिये एक योग साधक को अपने आचरण को पवित्र करने के लिये निष्ठापूर्वक यम का पालन करना चाहिये।

यम के भेद–अष्टांग योग के आठ अंग बताने के बाद महर्षि पतंजलि साधनपाद के अगले 30वें सूत्र में प्रथम अंग यम के भेदों का निरूपण करते हुय कहते हैं–

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।। –2/30

अर्थात–''अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम है।''

यम के इन पाँच भेदों की व्याख्या निम्नानुसार हैं–

i. अहिंसा–

यम के प्रथम अंग हे– अहिंसा। अहिंसा अर्थात् हिंसा का सर्वथा अभाव। मन, वचन एवं शरीर से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार भी दुःख न पहुँचाना अहिंसा है। दूसरों में किसी भी प्रकार का दोष न ढूँढ़ना भी अहिंसा के ही अन्तर्गत आता है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार– 'अहिंसा को धर्म धारणा में प्रमुख स्थान दिया गया है। किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना साधारणतया अहिंसा का प्रकट अर्थ समझा जाता है, पर बात इतने भर से नहीं बनती। अहिंसा निषेधात्मक है, उसका विधेयात्मक पक्ष दया, करूणा, सेवा, सहायता के रूप में उदित होता है। इस हेतु कुछ करना पड़ता है, करने से ही पुण्य बन पड़ता है न करने पर भावना मात्र से एक कल्पना ही मन पर छायी रह जाती है। उसे यदि चरितार्थ होने का अवसर न मिले तो मात्र संवेदना में औचित्य का समावेश रहते हुये भी उसका कोई प्रत्यक्ष प्रतिफल प्रस्तुत न हो सकेगा।'' (पातंजल योग का तत्त्वदर्शन)

डॉ. प्रणव पण्ड्या के अनुसार– ''योग साधक वह है जो आकाशवत् सबका होकर सब में रहे। जो आकाश के इस गुण को धारण करता है, वहीं वैरमुक्त अहिंसक होता है।'' (अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान–विज्ञान, भाग–2)

स्वामी विद्यानानंद सरस्वती के अनुसार– ''किसी के चित्त में द्रोह करना, द्वेष करना, दूसरों की भलाई न देख सकना, उनसे शत्रुता करना आदि सब हिंसा के अन्तर्गत है, ऐवा न करना ही अहिंसा है।'' (योगविज्ञान)

अहिंसा का फल–

अहिंसा के पालन से साधक के जीवन में और उसके आसपास के वातावरण में क्या परिणाम घटित होते हैं, इसी की व्याख्या करते हुये महान् योगी महर्षि पतंजलि कहते हैं–

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधै वैरत्यागः। – 2/35

अर्थात–''अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकट सब प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।''

कहने का आशय यह है कि जब योगी के हृदय में अहिंसा सुप्रतिष्ठित हो जाती है तो उसके सान्निध्य में आने वाले प्राणी अपने प्राकृतिक वैरभाव का परित्याग कर देते हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थों में हमें ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जहाँ ऋषि–मुनियों के आश्रम के आसपास विचरण करने वाले प्राणियों में प्राकृतिक वैरभाव का अभाव दिखलाया गया है। जैसे कि तुलसीदास विरचित रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में वाल्मीकि आश्रम के वर्णन में आता है–

खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं।
बिरहित बैर मुदित मन चरहीं।। – वाल्मीकि आश्रम वर्णन

अर्थात–'पक्षी और मृग आपसी वैरभाव को भुलाकर अत्यधिक कोलाहल करते हुये प्रसन्न मन से विचरण कर रहे हैं।''

यह सब उन महान् ऋषियों के अहिंसा भाव में दृढ़ प्रतिष्ठा को इंगित करता है। अतः स्पष्ट है कि यदि वातावरण में अहिंसा के भाव सघन हो तो प्राकृतिक वैर समाप्त होकर निर्वैरता व्याप्त हो जाती है।

ii. सत्य

यम के दूसरा क्रम **सत्य** का है। सत्य को धर्मशास्त्रों में प्रथम स्थान दिया गया है और कहा गया है कि इस एक व्रत का पालन करने से अन्य सभी व्रत भी सध जाते हैं। इसलिये सत्य को धर्म का मूल माना गया है। असत्य को अधर्म का पर्यायवाची माना गया है। अतः शास्त्रों में कहा गया है–

''सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न सत्यमप्रियम्''

अर्थात–''सत्य बोलना चाहिये, प्रिय बोलना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये।'' सत्य की महिमा को उद्घाटित करते हुये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है–

अमेघ्य वै पुरुषो चदनृतं वदन्ति। –शतपथ ब्राह्मण

अर्थात–'' जो व्यक्ति असत्य भाषण करता है, वह अपवित्र है।'' इस तथ्य को उपदेशित करते हुये आत्मपुराण में भी कहा गया है–

सत्यं तपो दया दानं,
चतुष्पाद्धर्म र्दूरितः।
सर्वेशपि सदा सेव्यो,
जन्मतो मरणावधि।। – आत्मपुराण

अर्थात–''सत्य, तप, दया तथा दान– ये चार पैर धर्म के हैं। अतः इनका जन्म से लेकर मृत्यपर्यन्त सेवन करते रहना चाहिये अर्थात् पालन करना चाहिये।''

सत्य क्या है– इसको स्पष्ट करते हुये पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने कहा है–

''सत्य पालन का मोटा अर्थ सच बोलना समझा जाता है पर वस्तुतः सत्य का तात्पर्य तथ्य से है। जो तथ्य है, वही सत्य है। यह कृत्य मात्र वाणी से सम्पन्न नहीं हो जाता है वरन् वचन के द्वारा उसका एक छोटा उपचार ही बन पड़ता है। सत्य शोध का विषय है, उसका उद्देश्य है– अपनी मान्यताओं और प्रवृत्तियों को सत्य की यथार्थता के अनुरूप बनाया जाये। यह एक दार्शनिक प्रक्रिया है। इसमें प्रचलनों एवं परम्पराओं से ऊँचे उठकर यथार्थता की गहराई तक पहुँचना पड़ता है। यह कार्य कठिन है, क्योंकि हम वातावरण के अनुरूप भ्रान्तियों में असाधारण रूप से जकड़े होते हैं।

जैसा देखा–सुना है उसी के अनुरूप मन बना लेते हैं वैसा ही आचरण करने लगते है। इस अन्वेषण की आवश्यकता नहीं समझते कि जो अपनाया जा रहा है वह वास्तविक हैभी या नहीं। उसका परिणाम वैसा ही हो सकता है या नहीं जैसा कि चाहा गया था। (पातंजलि योग का तत्त्वदर्शन)

डॉ. प्रणव पण्ड्या के अनुसार– ''योगी को वायु की भाँति निर्लेप होकर सच की अभिव्यक्ति करनी चाहिये। गन्ध शुभ या फिर अशुी, वायु इससे निर्लेप होकर सत्य बता देती है।'' (अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान–विज्ञान, भाग–2)

अतः योगसाधक को सर्वदा सत्य का पालन करना चाहिये।
सत्य के निम्न तीन स्वरूप बताये गये हैं–

- बौद्धिक सत्य
- वाचिक सत्य
- शारीरिक सत्य

i. बौद्धिक सत्य– सब प्रकार से निश्चय करके बुद्धि जब किसी बात को स्वीकार कर ले, उसके बाद बोलना और व्यवहार करना बौद्धिक सत्य कहलाता है। काम, क्रोध, राग, द्वेष इत्यादि से रहित बुद्धि द्वारा किया गया निश्चय ही बौद्धिक सत्य कहलाता है।
ii. वाचिक सत्य– बौद्धिक सत्य में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त लोभ, मोह, क्रोध, भय, द्वेष इत्यादि से मुक्त होकर वचन कहना ही वाचिक सत्य है।
iii. शारीरिक सत्य– विचार अर्थात् बुद्धि में और भाषण या वचन में आये सत्य को शरीर द्वारा आचरण में लाना ही शारीरिक सत्य कहलाता है।
अर्थात– सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले एवं प्रिय असत्य न बोले, यह सनातन धर्म है।'' (मनुस्मृति– 4/138)
प्रत्येक स्थिति में यह ध्यान रखना चाहिये कि सत्य कभी भी सर्वहित विरोधी न हो। इस सन्दर्भ में महाभारत में कहा गया है–

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादर्पा हिंत वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतंमय्।। (महाभारत, शा. 326/13; 287/16)

अर्थात– ''सत्य भाषण उत्तम है, हितकारक वचन बोलना सत्य से भी उत्तम है, क्योंकि हमारे मत में जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वहीं सत्य है।''

सत्य का फल–

सत्य के फल का निष्पन्न करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं कि सत्य का भली प्रकार पालन करने वाले प्राणी की वाणी में बल आ जाता है एवं उसके वचन कभी मिथ्या नहीं होते। उसका आशीर्वाद और शाप दोनों ही फलित होते हैं, लेकिन अहिंसात्मक प्रवृत्ति होने के कारण ऐसा व्यक्ति प्रायः किसी को शाप नहीं देता है। यथा–

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। –पातंजल योगसूत्र–2/36

अर्थात– ''सत्य की दृढ़ प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी पुरुष में धर्माधर्म का क्रिया, स्वर्ग एवं पृथ्वी आदि के फलों की आक्षयता आ जाती है। अर्थात् सत्य प्रतिष्ठित योगी जो भी वाक्य कहेगा वहीं यथार्थ में फलीभूत होगा।''
महाभारतकार व्यास ने भी इस सत्य का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि सत्यप्रतिष्ठित व्यक्ति की वाणी अमोघ हो जाती है अर्थात् वह कभी भी निष्फल नहीं जाती।

3. अस्तेय–

सत्य के बाद यम में तीसरा स्थान अस्तेय का है। अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है– चोरी न करना अर्थात् अनधिकृत पदार्थ को मन (बुद्धि), वचन और कर्म से त्याग देना। **भाष्यकार** व्यास ने अस्तेय का लक्षण बताते हुये कहा है–

स्तेयमशास्त्रपूर्बकं द्रव्याणां परतः स्वीकारणम्।
तत्प्रतिबेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।। (योग–2'30)

अर्थात– शास्त्राज्ञा के विरूद्ध, दूसरों से पदार्थों को ग्रहण करने का रूप स्तेय का त्याग कर देना, उनकी इच्छा भी न करना यह अस्तेय है। किसी वस्तु को न लेने की इच्छा चित्त में उठकर बुद्धि में प्रकट होती है। अतः बौद्धिक अस्तेय को दिखाते है।
वास्तव में देखा जाये तो अस्तेय सत्य का ही रूपान्तर है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे की वस्तु को चुराता है और उसे अपनी वस्तु कहता है तो यह असत्य है। इसलिये स्तेय असत्य है। इसके साथ ही स्तेय हिंसा भी है, क्योंकि जब किसी व्यक्ति की कोई वस्तु चुरा ली जाती है, तो उसे दुःख होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अहिंसा का ठीक–ठीक पालन ही अस्तेय का पालन है।
सत्य के समान ही अस्तेय के भी निम्न तीन भेद किये जा सकते हैं–

- बौद्धिक अस्तेय
- वाचिक अस्तेय

➢ शारीरिक अस्तेय

i. बौद्धिक अस्तेय– बौद्धिक अस्तेय का तात्पर्य है–''परद्रव्येषु अनभिध्यानम्'' अर्थात् दूसरों के पदार्थों की ओर ध्यान भी न करना, विचार भी नहीं करना बौद्धिक अस्तेय है।

ii. वाचिक अस्तेय– वाचिक अस्तेय का अर्थ है– अपने वचन से भी किसी को चोरी, डांके आदि में प्रवृत्त न करना।

iii. शारीरिक अस्तेय– शारीरिक अस्तेय का अर्थ है– विचार एवं कथन के अनुसार शारीरिक व्यापार से भी किसी के पदार्थ की चोरी लूट आदि न तो स्वयं करना और न ही दूसरों से करवाना।

अस्तेय का फल–

अस्तेय के फल के विषय में बताया गया है कि जो व्यक्ति अस्तेय का पालन करता है उसकी वस्तु का कोई हरण नहीं करता है। महर्षि पतंजलि ने अस्तेय के फल का निरूपण करते हुये कहा है–

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। –पातंजल योगसुत्र– 2/37

अर्थात– अस्तेय की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर संसार का ऐश्वर्य उस महापुरूष के पीछे–पीछे भागता फिरता है।

यजुर्वेद में इस संबंध में कहा गया है–

तेन व्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः व्यस्यस्विद्धनम्। – यजुर्वेद–40–1

अर्थात– सर्वोत्तम बात यही है कि मानव भगवान् के द्वारा दिये गये द्रव्यादि का ही उपयोग करे, अन्यथा माता–पिता आचार्य एवं दूसरों के द्वारा मिले द्रव्य पर सन्तोष करे, परद्रव्य की अभिलाषा ना करे।

अतः निष्ठापूर्वक अस्तेय का पालन करना चाहिये।

4. ब्रह्मचर्य–

यम का चतुर्थ अंग है– ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय ऐसे आचरण से लिया जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति ईश्वरीय सामीप्य को अधिक से अधिक प्राप्त कर सकें। इसी महान् उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण इत्यादि सभी ग्रन्थों में इसकी महिमा का गुणगान किया गया है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है– काम विकार को किसी भी प्रकार से उदित न होने देना। इस संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब तक सभी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं हो जाता तब तक काम विकार को उत्पन्न होने से नहीं रोका जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण के द्वारा कामेन्द्रिय के उपर संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते है। ब्रह्मचर्य पालन हेतु मन पर पूर्ण नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुये भाष्यकार व्यास कहते हैं–

ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। – योगभाष्य

अर्थात–गुप्तेन्द्रिय मुत्रेन्द्रिय का संयम रखना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के भी निम्न तीन भेद बताये गये है–

➢ बौद्धिक ब्रह्मचर्य
➢ वाचिक ब्रह्मचर्य
➢ शारीरिक ब्रह्मचर्य

i. बौद्धिक ब्रह्मचर्य– बुद्धि में किसी प्रकार से भी रति भावना उत्पन्न न होने देना बौद्धिक ब्रह्मचर्य है।

ii. वाचिक ब्रह्मचर्य– वाचिक ब्रह्मचर्य से तात्पर्य वाणी के संयम से है। अश्लील गीतों को न गाना, एकान्त में वार्तालाप न करना, अश्लील एवं अशिष्ट उपहास न करना, सौन्दर्य की न तो स्तुति करना और न ही निन्दा करना इत्यादि वाचिक ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आते हैं।

iii. शारीरिक ब्रह्मचर्य– उपस्थ आदि इन्द्रियों सहित शरीर द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन ही शारीरिक ब्रह्मचर्य है। स्त्रियों का स्पर्श, पर नारियों के साथ घुल–मिलकर बैठना, चुम्बन एवं आलिंगन करना इत्यादि शारीरिक कर्म ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले हैं।

ब्रह्मचर्य का फल–

वेदों, शास्त्रों, पुराणों में ब्रह्मचर्य की महिमा का गुणगान किया गया है। ब्रह्मचर्य के फल का निरूपण करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पातंजल योगसूत्र–2/38

अर्थात– ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर सुवीर्यलाभ होता है अर्थात् प्रचण्ड तेज की प्राप्ति होती है।

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहा गया है–

ब्रह्मचर्येण तपस्या देवाः मृत्युमपाहनत। – अथर्ववेद–11–4–19

अर्थात–ब्रह्मचर्य की महाशक्ति से देवों ने मृत्यु को नष्ट कर दिया, जीत लिया। ऐसे साक्ष्य के सामने होते हुये क्या अब भी ब्रह्मचर्य का पालन व्यर्थ समझा जा सकता है।

5. अपरिग्रह–

यम का अंतिम पाँचवां अंग है– अपरिग्रह। अपरिग्रह से तात्पर्य है– धन, सम्पत्ति आदि किसी भी विषय अथवा भोग्य सामग्री को अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रहीत करके न रखना एवं शरीर के साथ लगाव न रखना। भाष्यकार व्यास ने अपरिग्रह की व्याख्या करते हुये कहा है–

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। – योग–2/30

अर्थात– ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय के विषय रूप भोगों के उपभोग में अर्थात् विषयों के उपार्जन एवं संग्रह करने में, उनकी रक्षा करने और उनके स्थिर रखने में हिंसा और उनकी क्षीणता में होने वाले बौद्धिक कष्टों को देखकर उन पर विचार करके इन्हें बुद्धि अर्थात् मन, वचन और कर्म से स्वीकार न करना अपरिग्रह है।

अपरिग्रह के भी निम्न तीन भेदे बताये गये हैं–

- बौद्धिक अपरिग्रह
- वाचिक अपरिग्रह
- शारीरिक अपरिग्रह

i. बौद्धिक अपरिग्रह– गुण–दोष का निर्णय करने वाली बुद्धि जब विषयों के ग्रहण, रक्षण आदि में अकल्याण एवं हिंसा आदि पाप का निश्चय करके इन्हें सर्वथा ग्रहण नहीं करती–कराती एवं किसी भी देश, काल, दिशा, अवस्था में विषयों को अस्वीकार करती है, तब यह बौद्धिक अपरिग्रह कहलाता है।

ii. वाचिक अपरिग्रह– हर प्रकार से वाणी का संयम रखना, यथा असत्य, छलकपटयुक्त कठोर वचन न बोलना अधिक न बोलना, निन्दा न करना, काम, क्रोध, लोभ, अथवा मोह के वशीभूत होकर सर्वकाल देश जाति में वाणी का दुरुपयोग न करना वाचिक अपरिग्रह है। वाणी द्वारा विषयों में प्रवृत्त होने का आदेश भी नहीं देना चाहिये।

iii. **शारीरिक अपरिग्रह–** शारीरिक अपरिग्रह का अर्थ है– अपनी यथार्थ आवश्यकता से अधिक धन, धान्य, भूमि, वस्त्र इत्यादि का उपार्जन एवं संग्रह न करना।

अपरिग्रह का फल–

अपरिग्रह का फल बताते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्ता सम्बोधः। – पातंजल योगसूत्र–2/36

अर्थात– अपरिग्रह की दृढ़ प्रतिष्ठाा हो जाने पर योगी को पूर्वजन्म में कैसावन की स्मृति हो जाती है अर्थात् उसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। मेरा स्वरूप क्या है? मै। पिछले जन्म में कौन था? किस स्थिति में था और मृत्यु के बाद मेरी क्या गति होगी इत्यादि का ज्ञान उसे हो जाता है। इस प्रकार अपरिग्रह का पालन करने वाले व्यक्ति को तीनों कालों का ज्ञान होकर तत्संबंधी जिज्ञासायें भी निवृत्त हो जाती है।

2. नियम

अष्टांग योग में यम के बाद दूसरा स्थान नियम का है। यम के समान नियम भी पाँच बताये गये हैं–

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः।–पातंजल योगसुत्र–2/32

अर्थात शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच निमय है।

i.शौच– वाह्य एवं आन्तरिक पवित्रता।

ii.संतोष– प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहते हुये सभी प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त होना।
iii.तप– अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुये भूख, प्यास, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान, हर्ष–शोक इत्यादि सभी द्वन्द्वों को सहर्ष सहन करना।
iv. स्वाध्याय– स्वयं का अध्ययन अर्थात सद्ग्रन्थों के प्रकाश में आत्मानुसंधान करना या प्रणव जप करना।
v. ईश्वर प्रणिधान– ईश्वर शरणागति अर्थात् अपने समस्त कर्मों को फलसहित ईश्वर को समर्पित करना।
इन सभी का विस्तृत विवेचन निम्नानुसार है–
शौच– शौच का शाब्दिक अर्थ है– पवित्रता। यहाँ पवित्रता से अभिप्राय बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धि से है।
बाह्य शौच– वाह्य शौच का अर्थ है– मिट्टी, जल, गोबर, आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान आदि एवं शरीर को शुद्ध रखना, आधे पेट शुद्ध सात्विक भोजन करके शरीर को निरोग रखना धैति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक, कपालभाति आदि हठयौगिक षट्कर्मों एवं औषधियों द्वारा शरीर को शुद्ध एवं निरोगी रखना।
आभ्यान्तर या आन्तरिक शौच– आन्तरिक शौच का आशय है– चित्त को विकारमुक्त करना। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मात्सर्य (ईर्ष्या) इन छः शत्रुओं से चित्त को मुक्त रखना ही आन्तरिक शौच है।
संतोष– संतोष का अर्थ है– अपने प्रारब्धानुसार एवं अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रयास करने पर प्राप्त फल अथवा अवस्था में प्रसन्नचित्त रहना एवं उससे अधिक की लालसा न करना। जो व्यक्ति अप्राप्त वस्तु की लालसा को त्यागकर प्राप्त या उपलब्ध वस्तु में समभाव बरतता है और कभी दुःख और हर्ष का अनुभव नहीं करता वह व्यक्ति संतुष्ट कहलाता है। इसलिये संतोष को परमसुख माना गया है और असंतोष को दुःख का कारण माना गया है। इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुये मनुस्मृति में कहा गया है–

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।।– मनुस्मृति–4/12

अर्थात– सुख की इच्छा करने वाला परमसंतोषी एवं संयमी बने क्योंकि सुख का मूल कारण संतोष और दुःख का मूल कारण असंतोष है।
तप– नियम में तीसरा अंग तप है। ईश्वर परायण जीवन का निर्वाह करते हुये उसमें चाहे जितने प्रकार के कष्ट आये (शारीरिक, मानसिक आदि) उन सभी को सहर्ष स्वीकार करना ही तप है। अतः कहा गया है–

तपो द्वन्द्वसहनम्

अर्थात– सभी प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करना तप है। तप के बिना साधना सिद्ध नहीं हो पाती। अतः एक योगसाधक को तपस्वी जीवन का निर्वाह करना चाहिये।
स्वाध्याय– स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है– स्वयं का अध्ययन करना। स्वाध्याय सद्ग्रन्थों के आलोक में आत्मानुसंधान की प्रक्रिया है, जो मूलतः विचारों से संबंधित है। यह विचार शुद्धि से चित्तशुद्धि की प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम अपनी प्रकृति के अनुरूप सद्ग्रन्थ का चयन किया जाता है। इसके उपरान्त आत्ममूल्यांकन द्वारा अपने गुण–दोषों का तटस्थ अवलोकन करते हुये जो कमियाँ हैं, उनको दूर करने हेतु उस सद्ग्रन्थ या सद्विचार के अनुरूप अपने जीवन की रीति–नीति का निर्धारण किया जाता है और उसे अपने व्यावहारिक जीवन में अपनाया जाता है। जब तक विचारों के अनुरूप जीवनशैली या आचरण नहीं होता है तब तक जीवन में कोई रूपान्तरण घटित नहीं होता है। अतः महत्त्वपूर्ण यह है कि सद्विचारों के अनुरूप हमारी जीवनशैली भी हो।
ईश्वर प्रणिधान– नियम में अंतिम पाँचवाँ अंग ईश्वर प्रणिधान है। जो मूलतः भावनाओं से संबंधित है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है– ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण, ईश्वर का प्रतिपल भावभरा सुमिरन। इहलोक और परलोक के सभी ऐश्वर्यों से वैराग्य एवं एकमात्र ईश्वर के प्रति राग। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भगवान् के प्रति भावभरा समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान है।

नियम का फल–नियम का सतत् पालन करने से एक साधक के जीवन में क्या रूपान्तरण घटित होता है, इसका विवेचन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

शौच का फल– शौच के फल का निरूपण करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परेरेसंसर्गः। पातंजल योगसुत्र–2/40

अर्थात– शौच के दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर अपने शरीर की अशुद्धि के कारण उससे योगी को वैराग्य हो जाता है एवं दूसरे व्यक्तियों से संसर्ग प्रिय नहीं लगता है। आन्तरिक शुद्धि से साधक के भीतर आध्यात्मिक उन्नति प्रारंभ हो जाती है।

संतोष का फल– चित्त में संतोष भाव प्रतिष्ठित होने का क्या परिणाम होता है, इसी का विवेचन करते हुये पातंजल योगसुत्र में कहा गया है–

संतोषादनुप्तमसुखलाभः। – पातंजल योगसुत्र–2/42

अर्थात्– संतोष में प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक को निरतिशय सुख अर्थात् आनंद की प्राप्ति होती है। यह आनंद या सुख भौतिक वस्तुओं से उत्पन्न नहीं होता वरन् यह सन्तोषामृतपान से उत्पन्न अनिर्वचनीय आनंद है।

तप का फल– तप का फल बताते हुये पातंजल योगसुत्र में कहा गया है–

कायेन्द्रियसिद्धिशुद्धिक्षपात् तपसः। – पातंजल योगसुत्र–2/43

अर्थात– तप का पालन करने से क्लेशों और पापों का नाश हो जाने से शरीर में तो अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ आ जाती है एवं इन्द्रियों में सूक्ष्म व्यवहित अर्थात् दूरदर्शन, दूरश्रवण, दिव्यरस, दिव्यगन्ध आदि सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने की शक्ति भी आजाती है।

स्वाध्याय का फल– स्वाध्याय के फल का निरूपण करते हुये योगशास्त्र में कहा गया है–

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः। –पातंजल योगसूत्र–2/44

अर्थात्– स्वाध्याय का पालन करने से इष्टदेव का साक्षात्कार एवं संलाप होता है।

ईश्वर प्रणिधान– ईश्वर प्रणिधान के फल को बताते हुये महर्षि पतंजलि लिखते हैं–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानत्। – पातंजल योगसूत्र–2/45

अर्थात्– ईश्वर प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जब साधक पूरी तरह ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है तो ईश्वरीय कृपा के कारण उसकी साधना के विघ्न धीरे–धीरे दूर होने लगते हैं और तब योगसिद्धि में विलम्ब नहीं होता है अर्थात् साधक को शीघ्र ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

आसन– जिस अवस्था में शरीर स्थिरता पूर्वक दीर्घ काल तक सुख से रह सके उसे आसन कहते हैं। एक ही स्थिति में बिना हिले डुले अत्यधिक समय तक बिना किसी कष्ट के स्थित रहने को आसन कहते हैं। हठयोग में अनेक आसनों का वर्णन मिलता है। हठयोग में आसनों का मुख्य कार्य शरीर की स्वस्थ बनाना, उसके आलस्य तथा भारीपन को दूर करना है। आसनों के द्वारा शरीर में हल्कापन तथा स्फर्ती आती है। आसनों के द्वारा शरीर योग साधन करने के योग्य होता है। शरीर में शीत उष्ण आदि को सहने की शक्ति पैदा हो जाती है। पातंजल योग दर्शन के अनुसार उनका मुख्य उद्देश्य तो सुख पूर्वक अधिकतम समय तक स्थिरता पूर्वक ध्यान में बैठना है।

पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वास्तिकासन, दण्डासन, सौपाश्रय, प्रर्यङ्क, क्रौंचनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्टनिषदन, समसंस्थान आदि आसनों में से जिस आसन से साधक योगी स्थिरता सुगमता तथा सुख पूर्वक अधिक देर तक बैठ सकें उसी आसन को अपना लेना चाहिये। आसनों के विषय में आसनों की कोई भी अच्छी पुस्तक काफी ज्ञान प्रदान कर सकती है। शिव संहिता, धेरण्ड संहिता, हठयोग संहिता, हठयोग प्रदीपिका तथा योग उपनिषदों में आसनों का वर्णन किया गया है। आसन को सिद्ध करने के लिये शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को रोकना तथा अनन्त में चित्त को लीन करना चाहिये। कहने का अर्थ है कि शरीर तथा मन दोनों को ही चेष्टाहीन कर देना चाहिए तभी आसन सिद्ध होता है। चित्त बिना किसी रूकावट के निरन्तर व्यापकता से तदाकार रहने से निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है तथा शरीर का अध्यास छूट जाता है। शरीर का अध्यास छुट

जाने के कारण आसन से दुःख नहीं होता है तथा बहुत देर तक बिना हिले डुले स्थिरता के साथ साधक सुख पूर्वक बैठ सकता है। साधारणतया चित्त निरन्तर एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है, किन्तु जब उकसा व्यापकता से तदाकार हो जाता है तब वह किसी विषय पर जा हीं नहीं सकता। अतः शान्त हो जाता है। आसन के सिद्ध हो जाने पर साधक योगी को गर्मी, सर्दी, भूख–प्यास आदि द्वन्द कष्ट नहीं देते। उनमें सहनशीलता आ जाती है। अर्थात् वह तितिक्षु बन जाता है। उसमें स्वभाविक रूप से द्वन्दों को सहने की शक्ति पैदा हो जाती है। आसन–सिद्ध होने की यही पहचान है। जिसे किसी भी द्वंद से कष्ट नहीं होता अर्थात् सहन शीलता पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाती है ऐसे साधक योगी को आसन–सिद्ध समझना चाहिये। आसन मानसिक संतुलन पैदा करता है। मन को बस में करने से जो होता है वही आसन सिद्ध होने से भी होता है क्योंकि आसनों के द्वारा मन पर काबू होता है। आसनों के द्वारा काफी देर तक भूख प्यास आदि को रोके रह सकते हैं। आसन से ध्यान को उनसे हटाया जा सकता है। आसनों के द्वारा स्नायु मण्डल को शक्ति मिलती है। उनके द्वारा संकल्प शक्ति को विकसित करके, मनचाहे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। यह मन तथा शरीर दोनों को काबू में करके शक्तिशाली बनाने का साधन हैं। यही मन शरीर पर अधिकार प्राप्त करना योग का आधार है।

प्राणायाम– प्राण ही जीवन है। प्राण समस्त संसार की रक्षा करने वाली महाशक्ति है। प्राण के बिना प्राणी जीवित ही नहीं रह सकता। निम्नतम कोटि से उच्चतम कोटि के जीव के लिये प्राण अनिवार्य है। जब से जीव जन्म लेता है तब से ही श्वास प्रश्वास की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। भोजन और जल के बिना प्राणी कुछ दिन तक जीवित रह सकता है, किन्तु प्राण के बिना यह बहुत ही अल्प समय में समाप्त हो जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग में आज ठीक–ठीक सांस लेने की क्रिया भी लोगों की करीब–करीब विकृत सी हो गई हैं, क्योंकि जीवन कृत्रिम हो गया है। योग में प्राण पर विजय प्राप्त करने वाली क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। योग के पंच बहिरंग साधनों में प्राणायाम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि प्राणायाम के द्वारा ही प्राण का नियंत्रत होता है। प्राण के नियंत्रण से मन का नियंत्रण बहुत आसानी से हो जाता है क्योंकि मन और प्राण का अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राण से मन जुड़ा हुआ है। अतः प्राण पर काबू पाने पर मन पर काबू पाना स्वतः सरल हो जाता है। मन रूपी पक्षी प्राणी रूपी खूँटे से बंधा होने के कारण सर्वत्र भ्रमण करने पर भी उससे बाहर नहीं हो सकता है, सुषुप्ति में तो उसी में विश्राम करता है। व्यक्ति के लिये वह व्यष्टि है। समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ है। शरीर तथा विश्व में प्राण ही शक्ति है। हम अपने फेफड़ों की गति के द्वारा नियंत्रित कर सकते हैं। प्राण का नियंत्रण मन के नियंत्रण के लिये तथा मन का नियंत्रण आध्यात्मिक विकास के लिये अधिक आवश्यक है। मन को वश में करना सरल नहीं है। उसके लिये दीर्घ काल तक प्राण नियंत्रण का अभ्यास अपेक्षित है अन्यथा मन पर काबू पाना असम्भव है। प्राणायाम के लिये आसन का सिद्ध होना आवश्यक होता है। बिना आसन के सिद्ध हुये मन की चंचलता बनी रहती है। जिसके कारण प्राण भी स्थिर नहीं हो पाता है। अतः प्राणायाम का अधिकरी वहीं है जिसके आसन सिद्ध हो गया हो। मन को स्थिर करने के लिये शरीर की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है जो आसन के द्वारा होती है। आसन के सिद्ध होने के बाद श्वास–प्रश्वास निरन्तर स्वाभाविक रूप से चलते रहते हैं। बाहर से वायु का भीतर जिसे प्रश्वास कहते हैं दोनों ही निरन्तर स्वाभाविक रूप से जारी रहते हैं। प्रश्वास के गति विच्छेद के साथ–साथ चित्त काभी गति विच्छेद होना ही यथार्थ प्राणायाम है। इसके रोकने के विशेष नियम है। उन नियमों के अनुसार श्वास–प्रश्वाश की गति को रोकना प्राणायाम है। इस प्राण के नियंत्रण को ही प्राणायाम कहते हैं। गीता में भी इसके विषय में श्लोक हैं–

अपाने जुह्वाति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परं।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणाणमपरायणाः।। – गीता– 4–21

अर्थात्– कुछ योगी प्राण वायु को अपान में, कुछ अपान वायु को प्राण में हवन किया करते हैं तथा उनके अलावा बहुत से योगी प्राण तथा अपान की गति को अवरूद्ध करके प्राणायाम में प्रवृत्त होते हैं।

यहाँ प्राणायाम को भी एक यज्ञ माना है, तथा प्राण को प्रश्वास तथा अपान को श्वास के रूप में प्रयोग किया है। अतः प्राण को अपान में हवन करने के पूरक प्राणायाम तथा अपान को प्राण में हवन करने से रेचक प्राणायाम होता है। प्राण तथा अपान दोनों के निरोध से कुम्भक प्राणायाम होता है।

इस तरह से पातंजल योग दर्शन में भी साधारण रूप से प्राणायाम के पूरक, कुम्भक तथा रेचक तीन भेद होते है। रेचक प्राणायाम में प्राण के बहिर्गत होने से उसमें श्वास का स्वतः ही निरोध हो जाता है, अर्थात् रेचक प्राणायाम में प्रश्वास का तो सद्भाव होता है, किन्तु श्वास का अभाव स्वाभाविक रूप से हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु अगर सामान्य व्यक्तियों के अनियमित चलने वाले श्वास–प्रश्वास का अवलोकन किया जाय तो प्रश्वास की स्वाभाविक गति का भी अभाव रेचक प्राणायाम में वायु को बाहर निकाल कर वहीं धारण करने के कारण हो जाता है। इसी तरह से पूरक प्राणायमा में प्रश्वास का तो निरोध होता ही है, साथ–साथ बाहर की वायु को पीकर धारण करने की वजह से श्वास की सामान्य व्यक्तियों में स्वतः होने वाली गति का भी निरोध हो जाता है। कुम्भक प्राणायाम में प्राण वायु को जहाँ का तहाँ एकदम अवरूद्ध करने से श्वास प्रश्वास दोनों की गति का पूर्णरूप से निरोध हो जाता है। इस तरह से इन तीनों प्राणायामों में प्राणायाम की सामान्य परिभाषा ठीक–ठीक घट जाती है। यह प्राणायाम के सामान्य लक्षण हुए।

पातंजल योग दर्शन में प्राणायाम के इन तीनों (पूरक, कुम्भक, रेचक) भेदों का विवेचन किया गया है। योग उपनिषद्, घेरण्ड संहिता तथा शिवसंहिता आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन प्राप्त होता है। अमृतनादोपनिषद में त्रिविध प्राणायाम का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया गया है, जिनको रेचक, पूरक, कुम्भक नाम दिये गये हैं।

रेचक– रेचक प्राणायम में प्राण को बहुत ही मंदगति से हृदय से बाहर निकालकर अन्तर स्थान की वायु से रिक्त करके उसी अवस्था में स्थिर रखते है। इस प्राणायाम में प्रश्वास के द्वारा प्राण की स्वाभाविक गति का अभाव को रेचक प्राणायाम कहते हैं।

पूरक– जिस प्रकार से कमल नाल के द्वारा व्यक्ति जल को खींचता है, उसी प्रकार से नासिका द्वारा वायु को खींच कर भीतर ही रोकना पूरक प्राणायाम कहा जाता है। इस प्राणायाम में श्वास के द्वारा स्वाभाविक प्राण की गति का निरोध किया जाता है। यह आभ्यान्तर वृत्ति पूरक प्राणायाम के नाम से पातंजल योग दर्शन में कही गई है। श्वास को खींच कर रोकने को ही पूरक प्राणायाम कहते हैं।

कुम्भक– शरीर को निश्चल रखते हुये श्वास और प्रश्वास न लेने की अवस्था की स्थिरता को कुम्भक कहते हैं। यह श्वास–प्रश्वास दोनों की गतियों का निरोध करके प्राण को एक दम जहाँ का तहाँ रोक देने वाली स्तंभवृत्ति कुम्भक प्राणायम कही जाती है। प्राण को जहाँ का तहाँ एक दम रोकना ही कुम्भक कहलाता है, इसमें श्वास–प्रश्वास की गति का एक दम अभाव हो जाता है।

शिवसंहिता में प्राणायाम की विधि का वर्णन किया गया है। योगी को एकान्त स्थान में कुशासन पर पद्मासन लगाकर अपने शरीर कोा सीधा और स्थिर रखते हुये गुरु तथा गणेश और दुर्गा जी को प्रणाम करते हुये प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास करने वाले को अपने दाहिने अंगूठे से पिंगला (दाहिना नथना) को बंद करते हुये इड़ा (बाँया नथना) के द्वारा वायु को खींचकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोकना तथा फिर धीरे–धीरे दाहिने नथने के द्वारा छोड़ना चाहिये। इसके बाद साधक को दाहिने नासिका छिद्र से वायु को धीरे–धीरे खींचकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोक कर धीरे–धीरे बायीं नासिका से छोड़ना चाहिये। इस प्रकार की योगविधि से साधक को आलस्य तथा सब द्वन्द्वों से रहित होकर बीस कुम्भकों का प्रतिदिन चार समय (1. सूर्योदय, 2. दोपहर, 3. सूर्यास्त तथा 4. अर्धरात्रि) अभ्यास करना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणायाम के पूरक, रेचक तथा कुम्भक तीन अंग है। ये तीनों प्रकार के प्राणायाम भी देश काल और संख्या के द्वारा परीक्षित होते हैं। देश, काल और संख्या से इनको नापा जाता है। इनके द्वारा ही प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता चलता है। इनकी दीर्घता और सूक्ष्मता की परीक्षा भी देश, काल और संख्या के द्वारा की जाती है।

रेचक प्राणायाम में प्राण को बाहर निकालते समय प्राण की दूरी का अभ्यास से धीरे–धीरे बढ़ाया जाता है। इस अभ्यास के बढ़ने की परीक्षा पतली धुनी हुई रूई को रेचक प्राणायाम के समय नासिका के सामने रख कर की जाती है। जितनी दूर पर वह धुनी हुई रूई श्वास के द्वारा हिलती है, वही उसका देश है। यही देश के द्वारा रेचक की परीक्षा है। अभ्यास के द्वारा रेचक प्राणायाम में श्वास की दूरी बढ़ती जाती है। इस प्रकार से जब अभ्यास के द्वारा रेचक नासिका के अग्रभाग से 12 अंगुल पर स्थित हो जाता है तब उसे दीर्घ सूक्ष्म कहा जाता है। इस रेचक प्राणायाम में जिस प्रकार से अभ्यास के द्वारा श्वास की परिधि बढ़ती जाती है, भीतर श्वास लेने से चींटी के स्पर्श के समान श्वांस का स्पर्श प्रतीत होती है जो कि अभ्यास के द्वारा धीरे–धीरे क्रम से नाभि तथा तलुओं तक पहुँच जाता है तथा ऊपर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। जब यह नाभि तक स्थिर होता है, तो पूरक को दीर्घ–सूक्ष्म जानना चाहिये। देश के द्वारा परीक्षा केवल रेचक और पूरक की ही की जाती है। कुम्भक की स्थिति एक दम जहाँ के तहाँ श्वास–प्रश्वास को अवरूद्ध करने की स्थिति होने के कारण उसमें न तो बाहर की वायु की गति होती है और न अन्दर ही, इसलिये उसमें बाहर छिलने तथा अन्दर के स्पर्श का प्रश्न ही उदय नहीं होता। दूसरे प्रकार के कुम्भक में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसमें इड़ा के द्वारा वायु को धीरे–धीरे खींचकर सामर्थ्यानुकूल रोका जाता है और फिर पिंगला के द्वारा उसको बाहर निकाला जाता है, फिर उसके बाद पिंगला के द्वारा वायु को खींचा जाता है, और सामर्थ्य के अनुकूल रोक कर इड़ा के द्वारा बाहर निकाला जाता है। इसमें दोनों ही देश (बाह्य और अभ्यन्तर) इसका विषय हैं। इसलिये पूर्व में रेचक और पूरक के देश परीक्षण इस पर भी लागू होते हैं और उन परीक्षणों के द्वारा इसकी दीर्घता और सूक्ष्मता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। कुम्भक का स्थान रेचक तथा पूरक दोनों के द्वारा माना जाता है। श्वास क्रिया को बाहर तथा भीतर दोनों ही जगह रोका जा सकता है। रेचक तथा पूरक दोनों की क्रियाओं के अभाव से इसका निश्चय होता है। इस तरह से यहाँ देश का अर्थ श्वास की शरीर के बाहर तथा भीतर की दूरी तथा प्राण केन्द्रित स्थान है।

जिस प्रकार से देश के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा होती है उसी प्रकार से काल द्वारा भी प्राणायाम की परीक्षा होती है। मात्रा से समय का हिसाब लगाया जाता है। जितना समय घुटने के ऊपर से चारों तरफ हाथ हो फिरा कर एक चुटकी बजाने में लगता है, उसका नाम मात्रा है। मात्रा काल की इकाई है। सामान्य रूप से मात्रा को हम सेकेण्ड कह सकते हैं। प्राणायाम के अभ्यास के बढ़ते जाने से समय में भी वृद्धि होती चली जाती है। तीनों प्राणायाम मात्राओं तक प्राणायाम का समय पहुंच जाता है तब वह दीर्घ और सूक्ष्म समझा जाना चाहिये। प्राण का किसी एक विशेष केन्द्र पर केन्द्रित करने का समय भी उसके समय के परिणाम को बताता है। रेचक, पूरक और कुम्भक इन तीनों के समय में भेद रखा गया है।

संख्या के द्वारा भी तीनों प्राणायामों की दीर्घ सूक्ष्मता की परीक्षा की जाती है। जब प्राणायाम का अभ्यास बढ़ता चलता है तो प्राणायाम की संख्या भी बढ़ती जाती है। प्राणायाम के अभ्यास से बहुत से स्वाभाविक श्वास–प्रश्वास मिलकर एक ही श्वास बन जाता है। जब प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म होता है तब प्रश्वास का एक श्वास प्रथम उद्घात होता है। चौबीस स्वाभाविक श्वास प्रश्वास का जब एक श्वास होता है तो द्वितीय उद्घात कहा जाता है। इसी प्रकार से तृतीय उद्घात 36 श्वास–प्रश्वास का एक होता है। कुछ के मत से 36 मात्रा, दूसरा उद्घात 72 मात्रा तथा तीसरा उद्घात 108 मात्रा का होता है। नाभी से प्रेरित प्राण का मस्तिष्क में टकराना उद्घात् है। श्वास–प्रश्वास को रोकने से उनको ग्रहण या छोड़ने के लिये जो उद्वेग होता है उसे ही उद्घात

कहते हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार श्वास–प्रश्वास रोकना मात्र उद्घात है। सत्य तो यह है कि जिस समय तक श्वास या प्रश्वास को रोकने से प्राण को छोड़ने या ग्रहण करने की इच्छा होती है उस काल तक की रूकावट को ही उद्घात कहते है। प्रथम उद्घात अधम दीर्घ सूक्ष्म, द्वितीय उद्घात मध्यम दीर्घ सूक्ष्म और तृतीय उद्घात उत्तम (तीव्र) दीर्घ सूक्ष्म कहा जाता है। यही संख्या द्वारा दीर्घ सूक्ष्म सूक्ष्मता की परीक्षा है।
अभ्यास से प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म किया जाता है। दीर्घकाल तक रेचन या विधारण को दीर्घ तथा श्वास–प्रश्वास की क्षीणता तथा विधारण की निरायासता को सूक्ष्म कहते हैं। जब नाक के सामने की रूई न हिले तो ऐसा प्रश्वास सूक्ष्मता का द्योतक होता है।
पूरक, कुम्भक तथा रेचक में 1/4/2 का अनुपात होता है। 12 मात्रा तक श्वास खींचने में तो 48 मात्रा तक कुम्भक तथा 24 मात्रा तक रेचक करना चाहिये। यह अधम प्राणायाम का रूप है। 24 मात्रा तक श्वास खींचने में अर्थात् 24 मात्रा के पूरक में 96 मात्रा तक कुम्भक तथा 48 मात्रा तक रेचक करना चाहिये। यह अध्यम प्राणायाम हुआ। 36 मात्रा के पूरक में 144 मात्रा तक कुम्भक तथा 72 मात्रा तक रेचक करना चाहिये। यह तीसरा उत्तम प्राणायम कहा जाता है।

अपनी–अपनी इच्छा से देश, काल, संख्या के अनुसार तीनों प्राणायामों के नियमों पर चलना आश्रित है। इन तीनों को एक साथ ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है। अनेक शास्त्रों में काल का प्राणायाम के अभ्यास में अधिक महत्व दिया है।
घेरण्ड संहिता में आठ प्रकार के कुम्भक बताये हैं–

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ठकुम्भकः।। 5/46

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा तथा केवली ये आठ प्रकार के कुम्भक होते हैं।

1. सहित कुम्भक– सहित कुम्भक दो प्रकार का होता है एक सगर्भ दूसरा निगर्भ। बीज मंत्र के उच्चारण के साथ किया गया कुम्भक सगर्भ तथा बिना बीज मंत्र के किया गया कुम्भक निगर्भ है।

सगर्भ सहित कुम्भक– साधक को पूरक या उत्तर की तरफ मुख कर सुखासन से बैठ कर रक्त वर्ण रजस गुण पूर्ण 'अं' अक्षर के रूप में ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये। बाँये नासिका छिद्र से पूरक करना आरम्भ करे तथा उसके बीज मंत्र 'अ' को 16 बार जपे। उसके बाद कुम्भक करने से पूर्व उड्डियान बन्ध बाँन्धे। इसके बाद साधक श्याम वर्ण सत्त्वगुण पूर्ण हरि का ध्यान तथा कुम्भक के बीज मंत्र 'ऊं' का 64 बार जप करते हुये कुम्भक करे। उसके बाद श्वेत वर्ण तमस् गुण पूर्ण शिव का ध्यान तथा रेचक के बीज मंत्र 'मं' का 32 बार जाप करते हुये रेचक करे। फिर दाहिने नथुने से पूरक आरम्भ करके कुम्भक तथा बाँयें नथुने से रेचक रके। इसी प्रकार से सबीज प्राणायाम को दोहराता रहे। पूरक, कुम्भक तथा रेचक तीनों को ही अलग–अलग प्रणवात्मक समझकर प्रणव की उपासना की भावना रखते हुये भी तीनों में ओम् का जाप खास मात्राओं से करने को भी सगर्भ प्राणायाम कहते हैं। ब्रह्म के ध्यान के साथ भी प्राणायाम किया जाता है। इस उपयुक्त विधि से नथुनों को बदलते हुये पूरक, कुम्भक तथा रेचक को करें। पूरक, कुम्भक तथा रेचक का अनुपात 1:4:2 को होना चाहिये। आरम्भ करते समय दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिने नथुने को दबाकर बाँये नथुने से पूरक तथा कुम्भक में बाँये नथुने को दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका से दबाकर वायु को भीतर धारण करके फिर रेचक में बाँये नथुने बन्द रखते हुये दाहिने नथुने का अंगूठा हटा कर वायु को धीरे–धीरे छोड़ा जाता है। इस क्रिया के बाद फिर यही दाहीने नथुने से पूरक करके दोहराई जाती है। इसी प्रकार नथुनों को बराबर बदलते रहना पड़ता है। बाद में अभ्यास के दृढ़ होने पर प्राणायाम में नथुनों को अंगलियों से दबाने की जरूरत नहीं होती है। अगर कुम्भक में जालन्धर बन्ध लगाया हो तो भी अंगलियों से नथुनों के दबाने की आवश्यकता नहीं होती है। सत्य तो यह है कि प्राणायाम बन्धों से सहित ही करना चाहिये। पूरक के समय मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध, कुम्भक के समय मूल बन्ध तथा जालन्धर बन्ध रेचक के समय मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध करना चाहिये।

मूल बन्ध प्राणायाम में शुरू से अन्त तक रहता है। इनके बिना प्राणायाम करने से हानि होने की आशंका है। 12–48–24 मात्राओं (सेकण्डों) वाला पूरक, कुम्भक तथा रेचक अधम, 16–64–32 मात्राओं वाला पूरक, कुम्भक तथा रेचक मध्यम तथा 20–80–40 मात्राओं वाला पूरक, कुम्भक तथा रेचक उत्तम प्राणायाम घेरण्ड संहिता के अनुसार माना गया है।

निर्गर्भ सहित कुम्भक में बीज मंत्र का जप नहीं किया जाता है। निर्गर्भ प्राणायाम से सगर्भ प्राणायाम सौ गुणा अधिक शक्ति रखता है।

अधम प्राणायाम के अभ्यास से प्रचुर मात्रा में पसीना निकलने लगता है। मध्यम प्राणायाम के अभ्यास से सुष्मना में कम्पन की अनुभूति होती है तथा उत्तम प्राणायाम के अभ्यास से साधक आसन से ऊपर उठ जाता है। तीनों प्राणायामों में सफलता के ये तीनों चिह्न है।

प्राणायाम के द्वारा आकाश में स्थिति होने की शक्ति प्राप्त होती है। प्राणायाम के द्वारा रोगों से निवृत्ति होती है। इसके द्वारा आध्यात्मिक शक्ति जागृत होती है। मन शान्त तथा प्रसन्न होता है। इसका अभ्यासी सुखी होता है।**2. सूर्यभेदी कुम्भक–** पूर्ण बलपूर्वक बाह्य वायु को दाहिने नथुने से अधिक से अधिक भीतर ग्रहण कर अंगूठे से दाहिने नथुने को बन्द कर जालन्धर बन्ध लगाते हुए सतर्कता पूर्वक रोके। पसीना नाखूनों के किनारे तथा बालों में से निकलना शुरु हो जाने तक इस कुम्भक को करे। उसके बाद चन्द्र नाड़ी से वेगपूर्वक रेचक करे। इस प्रकार से बराबर सूर्य नाड़ी से पूरक और चन्द्र नाड़ी से रेचक करे या वायु को उपर की तरफ धीरे–धीरे खीचे जिससे कपाल नाड़ी की शुद्धि हो जावे। यह प्राणायाम शुरू में पांच बार करे, और धीरे–धीरे इसको बढ़ाता चले। प्रारम्भ में नाखून के किनारों तथा बालों से पसीना नहीं निकलता है। इस अवस्था पर तो धीरे–धीरे कुम्भक का समय बढ़ाने से ही पहुँचा जाता है। यह सूर्य भेदी कुम्भक की अन्तिम सीमा है। यह प्राणायाम भी प्रणव के मानसिक जप के साथ करने से अधिक उत्तम होता है।

वायु दस प्रकार की होती है– प्राण, अपान, समान, उदान, वयान, नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त तथा धनन्जय। इन दसों के अपने–अपने स्थान है। प्रथम प्राणादि पांच वायु आभ्यन्तर शरीर तथा नागादि अन्तिम पंच वायु वाह्य शरीर में अवस्थित रहती है। इस प्रकार प्राण का हृदय, अपान का गुदा, समान का नाभि, उदान का कण्ठ, वयान का समस्त शरीर स्थान होता है। श्वास क्रिया प्राण के द्वारा, मल निस्सारण क्रिया अपान के द्वारा, पाचन क्रिया समान के द्वारा, भोजन निगलना उदान के द्वार, तथा रूधिर संचार क्रिया वयान के द्वारा होती है। खांसी और डकार नाग, पलक की क्रिया कूर्म, छींकना कूकर, जंभाई देवदत्त, सम्पूर्ण स्थूल शरीर में व्याप्त रहना धनंजय का कार्य है। नाग चेतना, कूर्म नेत्र ज्योति, कूकर भूख प्यास, देवदत्त जंभाई तथा धनन्जय शब्द को उत्पन्न करता है। धन्नजय मरने के बाद भी स्थूल शरीर को नहीं छोड़ता है। सूर्य नाड़ी के द्वारा ये सब वायु अलग की जाती है।

सूर्य भेदी प्राणायाम के अभ्यास से जरा तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। मस्तिष्क शुद्ध होता है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। जठराग्नि प्रदीप्ति होती है। शरीर में उष्णता था पित्त वृद्धि होती है। कफ और बात से उत्पन्न समस्त रोग दूर होते है। आंतों के कृमि आदि नष्ट हो जाते हैं। इससे रक्तदीप और चमड़ी के रोग नष्ट होते है। वायु के द्वारा पैदा हुए चारों प्रकार के दोष दूर होते हैं। इससे गठिया आदि रोगों का इलाज किया जा सकता है।

इस सूर्य भेदी कुम्भक का एक दम उल्टा चन्द्र भेदी कुम्भक है। जिसमें बायें नथुने से पूरक और दाहिने नथुने से रेचक की क्रिया की जाती है। इसके द्वारा शरीर की थकान और गर्मी दूर होती है। सूर्य भेदी प्राणायाम पित्त प्रकृति वालों के लिये वर्जित है, तथा ग्रीष्म काल में या जिन स्थानों पर अधिक गर्मी पड़ती है वहाँ नहीं करना चाहिये। अत्यधिक शीत प्रधान स्थानों पर सूर्य भेदी प्राणायाम के द्वारा साधक को शीत नहीं सता सकता।

3. उज्जायी कुम्भक– गले से हृदय तक दोनों नथुनों से समरूप से शब्द करते हुए पूरक करके वायु को भरे। उसके बाद कुछ देर तक कुम्भक करे, जैसा कि उपर बताया जा चुका है। कुम्भक करने के पश्चात् बायें नथुने से रेचक करे। यह प्राणायाम इसी प्रकार से दुहराया जा सकता है। पाँच प्राणायाम से अभ्यास शुरू करके इसका अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाया जा सकता है। इसमें पूरक कुम्भक तथा रेचक थोड़े काल के लिये किये जाते हैं। वायु को कुम्भक में हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिये, तथा रेचक जितना भी हो सके उतना धीरे–धीरे करना चाहिए। पूरक में वायु को मुख में लिया जाता है, मुख से कण्ठ में तथा कण्ठ से हृदय में धारण किया जाता है। इसके विपरीत क्रम से रेचक किया जाता है।

इस प्राणायाम से साधक में सुन्दरता की वृद्धि होती है। जलोदर तथा धातुक्षय आदि रोग दूर होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। आमवात, उदर रोग कफ रोग, मन्दाग्नि, दमा क्षय आदि फेफड़े सम्बन्धी रोग, पेचिश, तिल्ली, खाँसी, बुखार आदि दूर होते हैं। सिर की गरमी नष्ट होती है, तथा साधक जरा और मृत्य के ऊपर विजय प्राप्त करता है।

शीतली कुम्भक– यह कुम्भक सिद्धासन, पद्मासन आदि लगाकर तथा खड़े होकर भी किया जा सकता है। इसमें जीभ को होंठ के बाहर निकाल कर, कौवे की चोंच के समान बनाकर मुख से ही धीरे–धीरे सिसकारी भरते हुए पूरक करके पेट को वायु से भरके कुम्भक करे। कुम्भक में श्वास को जितना देर आसानी से रोक सके उतनी देर रोंके। कुम्भक की स्थिति में जीभ को मुख में भीतर ही रख लेना चाहिये। इसके बाद दोनों नथुनों से रेचक करे। इस क्रिया को बार–बार करे। इस क्रिया को करने से बल और सौन्दर्य बढ़ता है, अनेक रोगों से निवृत्ति प्राप्त होती है, खून साफ होता है, प्यास तथा भूख को जीत लिया जाता है, ज्वर, तपेदिक, मन्दाग्नि, जहर के विकार, सर्प–दंश का असर दूर होता है। इसके अभ्यासी को अपनी खाल को बदलने का तथा जल तथा अन्न के बिना रहने की शक्ति प्राप्त होती हैं, शरीर में शीतलता आ जाती है। किन्तु इस प्राणायाम का अभ्यास शीतकाल में तथा अत्यन्त शीत स्थानों नहीं करना चाहिये। यह कफ प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिये हितकर नहीं होता है।

5. भस्त्रिका कुम्भक– लोहार की धौंकनी के सामन जल्दी–जल्दी पूरक तथा रेचक करना भस्त्रिका प्राणायाम होता है। इसके करने में एक विशिष्ट रूप की आवाज होती है। ठीक तरह से पद्मासन लगाकर मुँह बन्द कर दोनों नथुनों से रेचक पूरक जोर–जोर से जल्दी–जल्दी फुफकार की आवाज के साथ बिना कुम्भक के 20 बार करके अर्थात् बीसवें रेचक के बाद यथाशक्ति गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें। जितनी देर तक आसानी तक श्वास को रोक सकें उतनी ही देर तक कुम्भक करे। इस कुम्भक के बाद बहुत ही गम्भीतरा पूर्व वायु को धीरे–धीरे छोड़े। इस तरह से 20 रेचक के बाद एक कुम्भक तथा रेचक करने से भस्त्रिका की एक आवृत्ति होती है। प्रत्येक आवृत्ति के बाद साधारण श्वास लेकर विश्राम करे। इस प्रकार से तीन आवृत्तियाँ प्रतिदिन प्रातः तथा तीन सायंकाल करें। यह बहुत ही प्रबल व्यायाम है। यह कपालभाति तथा उज्जायी के मिश्रण से बना है। अतः कपाल भाति तथा उज्जायी के अभ्यास करने के बाद में यह सरल हो जाता है। उज्जायी का विवेचन किया जा चुका है। कपालभाति को भी समझाना इसके लिये उत्तम होगा। कपाल भाति कपाल को शुद्ध बनाने की एक विशिष्ट क्रिया है। इसमें पद्मासन पर बैठ हाथों को घुटने पर रखकर उग्रता पूर्वक जल्दी–जल्दी पूरक तथा रेचक करना चाहिये। इसमें कुम्भक होता है ही नहीं है। इसमें पूरक को धीरे–धीरे दीर्घता तथा कोमलता पूर्वक किया जाता है किन्तु रेचक अति शीघ्रता से किया जाता है। पूरक में पेडू की मांसपेशियों को ढीला छोड़ देना चाहिये। रेचक पेडू की मांसपेशियों को पीछे खींचते हुये करना चाहिये। पीठ तथा सिर सुझा कर कपाल भाति नहीं करना चाहिये। इन दोनों का अभ्यास हो जाने पर भस्त्रिका सरल हो जाता है। भस्त्रिका कुम्भक हर मौसम में किया जा सकता है। यह त्रिदोष नाशक है। यह पूर्व में वर्णित सब प्राणायामों में श्रेष्ठ है। इस कुम्भक से सुषुम्ना में स्थिर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि का भेदन होता है। यह आरोग्य को बढ़ाने वाला तथा शरीर की

व्याधियों को नष्ट करने वाला है। तीनों धातुओं के द्वारा हुई विकृति इससे नष्ट हो जाती है। यह मन को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी जावृत करने में अत्यधिक उपयोगी है। इसके अभ्यास से नासिका तथा छाती के रोग, कफ रोग, अजीर्णता, अग्निमंद्य के रोग दूर होते हैं। यह प्राणायाम नाड़ियों को शुद्ध करता है। शरीर को उष्णता प्रदान करता है। भस्त्रिका प्राणायाम गले की सूजन, दमा तथा तपेदिक आदि को नष्ट करता है। रोग तो इसके करने वाले के पास फटक ही नहीं सकता है। इसमें आवृत्ति की संख्या साधक की शक्ति के अनुकूल होनी चाहिये। अति नहीं करना चाहिये।

भ्रामरी कुम्भक– आधी रात बीतने के बाद, जानवर, पशु–पक्षी आदिकों के शब्दों से रहित स्वच्छ स्थान पर साधक पद्मानस या सिद्धासन लगा कर बैठ जावे। उसके बाद आँख बन्द कर भौहों के बीच ध्यान लगा कर योगी को दोनों नथुरों से भौंरे की तरह आवाज करते हुये दीर्घ स्वर से पूरक करना चाहिये। फिर सामर्थ्यानिकुल कुम्भक करके एक तान सुरीली एवं मीठी भैंरी की धीमी–धीमी आवाज के सामन ध्वनि करते हुए कण्ठ से रेचक करना चाहिये। इसे मूल बन्ध तथा उड्डीयान बन्ध के साथ करना चाहिए। घेरण्ड संहिता में हाथों से कान बन्द करके पूरक तथा कुम्भ करने के लिए कहा है। जिसके अभ्यास से उसे दाहिने कान में अनेक शब्द सुनाई पड़ते हैं। पहिले तो झींगुर शब्द के समान ध्वनि, उसके बाद क्रमशः वंशी, मेघ, झर्झरी तथा भौरें की गुन–गुन की ध्वनि सुनाई देगी। इनके बाद क्रमशः घण्टा, कांस्य, तुरी, भेरी, मृदंग, आनक, दुन्दुभि आदि शब्द सुनाई देते हैं। अभ्यास के दृढ़ होने पर अन्त में हृदय में उठा हुआ अनहद शब्द सुनाई पड़ता है। उस अनहद ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है जिसमें ज्योति होती है। उस ज्योति में मन को लीन करना चाहिये। मन के उसमें लीन होने पर यह विष्णु के परम पद पर पहुंच जाता है। इस भ्रामरी कुम्भक में सफलता प्राप्त होने पर समाधि में सफलता प्राप्त हो जाती है। इस प्राणायाम के द्वारा वीर्य शुद्ध होता है। साधक ऊर्ध्वगामी होता है। रक्त शुद्धि इस प्राणायाम के द्वारा होती है। मज्जा तन्तु भी पुष्ट और शुद्ध होते है। मन एकाग्रता को प्राप्त होता है। चित्त में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है जो कि अवर्णनीय है। जैसा सुख और आनन्द इस भ्रामरी कुम्भक के अभ्यासी को होता है, वैसा अन्य किसी भी साधारण व्यक्ति को नहीं हो सकता।

7. मूर्छा कुम्भक– यह प्राणायाम भ्रामरी प्राणायाम के ही सदृश है। अन्तर इसमें केवल इतना ही है कि दोनों कान, आँख, नाक और मुँह पर क्रमशः हाथों के अंगूठे, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठका रख कर किया जाता है। पूरक करते समय मध्यमा को थोड़ा ऊपर उठा लिया जाता है तथा कुम्भक में दोनों नथुनों को मध्यमा से दबाकर कुम्भक किया जाता है। इसी प्रकार से रेचक के समय मध्यमा को हटा लिया जाता है। इस प्राणायाम की विधि में हठयोग प्रदीपिका में पूरक करने के बाद जालन्धर बन्ध को बांधकर जो कि ठोड़ी को छाती से सटाने पर होता है, कुम्भक करने का विधान है। उसके बाद जब कुछ बेहोशी–सी आने लगे तब धीरे–धीरे रेचक करे। इसमें भौहों के बीच में मन को लगाने से मन की लयावस्था उत्पन्न होती है। इसलिये इस कुम्भक के द्वारा परमानन्द की प्राप्ति होती है। और इस प्रकार से आनन्द प्राप्त होते–होते समाधि की सिद्धि होती है। यह प्राणायाम स्वतः ही प्रत्याहार की स्थिति में पहुंचा देता है। इस कुम्भक के करने से वासनाओं का क्षय होता है। मनोनाश होने में सहायता प्राप्त होती है। यह प्राणायाम समस्त आधि और व्याधियों को नष्ट करने के लिए महान औषधि है।

8. केवली कुम्भक– कुम्भक के वास्तविक रूप से दो ही भेद होते है, एक सहित कुम्भक दूसरा केवल कुम्भक जिनका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। सहित कुम्भक में पूरक तथा रेचक के सहित कुम्भक होता है किन्तु केवल कुम्भक में पूरक तथा रेचक रहित कुम्भक होता है। बिना सहित कुम्भक के दृढ़ हुये केवल कुम्भक को ही नहीं सकता है। जब कुम्भक, पूरक तथा रेचक के बिना ही देश, काल, संख्या से रहित होकर होने लगे तब उसे केवल कुम्भक कहते हैं। हठयोग प्रदीपिका में भी कहा गया है कि केवल कुम्भक, रेचक तथा पूरक के बिना ही सुख पूर्वक वायु को धारण करने को कहते हैं।

हठ योग में केवल कुम्भक की विधि निम्नलिखित है। उसमें प्राण वायु को तीनों बन्धों (जालन्धर बन्ध, उड्डीयान बन्ध और मूल बन्ध) के साथ हृदय से नीचे ले जाया जाता

है और दूसरी तरफ अपान वायु को मूलाधार से वायु पर दोनों की टक्कर दी जाती है तब केवल कुम्भक होता है। यह विधि हानि भी पहुंचा सकती है अतः सबके लिए ठीक नहीं होती।

इसके विषय में घेरण्ड संहिता में बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। श्वास लेते समय हर व्यक्ति से स्वतः ही सः का उच्चारण होता रहता है। इसी प्रकार से श्वास के निकलते समय 'हं' का उच्चारण होता रहता है। इस प्रकार सो 'सोऽहं' वा 'हंस' मंत्र का अजपा जप स्वतः चलता रहता है। जिसका ज्ञान साधारणतः किसी को नहीं होता। यह जप अचेतन रूप से निरन्तर श्वास–प्रश्वास के साथ होता रहता है। इस प्रकार से 21 हजार 6 सौ बार (21,600) दिन रात में यह जप साधारण स्वस्थ मनुष्य का होता रहता है। इसे अजपागायत्री कहते हैं, जोकि मूलाधार चक्र अनाहत चक्र तथा आज्ञा चक्र पर जपा जाता है। यह वायु शरीर 96 अंगुल का होता है, भोजन में 20 अंगुल, चलने फिरने में 24 अंगुल, निद्रा में 30 अंगुल, मैथुन में 36 अंगुल और व्यायाम आदि में इससे भी अधिक होती है। इस स्वाभाविक 12 अंगुल के प्रमाण को घटाने से आयु बढ़ती है और उसकी स्वाभाविक गति में वृद्धि होने से आयु क्षीण होती है। जब तक शरीर में प्राण स्थित रहते हैं, तब तक मृत्यु नहीं होती है।

जब वायु की समस्त लम्बई शरीर के ही भीतर रह जाती है और उसका कोई भाग भी बाहर नहीं जा पाता तब वही केवल कुम्भक कहलाता है। सब प्राणी निश्चित संख्या में अचेतन रूप से निरन्तर अजपा मंत्र जपते रहते है किन्तु योगी को इसका जप उसकी संख्या गिनते हुए चेतन रूप से करना चाहिये। साधारण व्यक्तियों की होने वाली अजपा जप–जप की संख्या से दुगनी अजपा संख्या होने से मन एकाग्र हो जाता है। इस कुम्भक में रेचक और पूरक की प्रक्रिया नियमित नहीं होती। यह तो केवल कुम्भक है। केवली कुम्भक का जितना अधिक साधन होगा उतना ही मन लीन होता जायेगा। प्रथम अवस्था में प्राण की क्रिया को, प्राण वायु को नियमित करके संयमित करनी चाहिये। इसकी विकसित अवस्था में तो यह स्वतः ही हुआ करता है। समस्त विषयों से मन को हटाकर भौंहों के मध्य में एकाग्र करते हुये अपान और प्राण दोनों की गति को रोकने से केवली प्राणायाम होता है। क्वेली प्राणायाम को दिन में आठ बार या पांच बार जैसी गुरु की आज्ञा हो करना चाहिये। दिन में तीन बार (सुबह, दुपहर और सायंकाल) भी किया जा सकता है। जब तक इस केवली प्राणायाम में सफलता प्राप्त नहीं होती है तब तक अजपाजप की वृद्धि 1 से लेकर 5 गुनी तक करके चला जाये। केवली प्राणायाम को जानने वाला ही वास्तविक योगी है। जिसको केवली कुम्भक सिद्ध हो चुका है उसके लिये संसार में कुछ भी अप्राप्त नहीं है। इसके द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। सुषुम्ना की समस्त बाधायें मिटती हैं। इसके द्वारा समस्त आधि, व्याधि नष्ट हो जाती है। इस प्राणायाम में षट्चक्र भेदन की क्रियाएँ भी की जाती हैं, जिसके द्वारा सहस्रार चक्र में कुण्डलनी शक्ति ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करती है। इस प्राणायाम को खेचरी मुद्रा के साथ करने से विशेष लाभ होता है।

नाड़ी शुद्धि के लिये प्राणायाम– समस्त योग शास्त्रों में प्राणायाम से पूर्व नाड़ी शुद्धि का विधान है। मल से पूर्ण नाड़ियों में वायु प्रवेश नहीं हो सकता है। घेरण्ड संहिता में समान तथा निर्मानु क्रियाओं से नाड़ी की शुद्धि की जाती है। निर्मानु के लिये षट्कर्म किये जाते है। जिसमें धोती, बस्ति, नेति, लोलिकी, त्राटक तथा कपालभाति आते हैं। बीज मंत्र से समान किया जाता है। पद्मासन लगाकर बैठने के बाद शक्ति पूर्ण, धूयें के रंग के वायु के बीजाक्षर ''यं'' पर ध्यान कीजिये। बायें नथुने से वायु खींचते हुये 16 बार इस मंत्र का जप कीजिये। ऐसा करना ही पूरक है। 64 बार इस मंत्र का जप करने तक वायु को रोकिये। यही कुम्भक है। इसके बाद 32 बार इस मंत्र का जप करने के समय तक वायु को दाँये नथुने से निकाले यही रेचक है।

अग्नि तत्व का स्थान नाभि है। वहाँ से अग्नि को उठाते हुये पृथ्वी तत्व से मिलाकर दोनों के मिश्रित तत्व पर ध्यान केन्द्रित करे। दाहिने नथुने से वायु खींचते हुये अग्नि बीज मंत्र ''र'' का 16 बार जप करे। 64 बार बीज मंत्र के जप तक वायु को रोके तथा 32 बार जप करते हुये रेचक करें।

नासिका के अग्रभाग पर चन्द्रमा के प्रकाश पर ध्यान केन्द्रित करते हुये 16 बार बीज मंत्र 'ठं'' का जप करते हुये, बांये नथुने से वायु को खींचे, 64 बीज मंत्र 'ठं' का जप करने तक रोकते हुये चन्द्रमा से सभी नाड़ियों पर अमृत वास कर उनकी शुद्धि होने की कल्पना करे तथा 32 बार पृथ्वी बीज मंत्र 'लं'' का जप करते हुये दाहिने नथुने से रेचक करें।

उपर्युक्त तीनों प्राणायामों के द्वारा नाड़ी शुद्धि होती है जिसके बाद नियमित प्राणायाम प्रारम्भ किया जा सकता है। कपालभाति जो षटकर्मों में से एक है जिसका विवेचन प्राणायाम में भी किया जा चुका है, के द्वारा नाड़ी शोधन किया जाता है। इसके अतिरिक्त बांये नथुने से वायु को फेंक कर फिर बांये नथूने से वायु खींच दाहिने नथुने से वायु फेंके तथा फिर दाहिने नथुने से वायु खींचकर बांये नथुने से फेंके। इसी प्रकार बहुत बार करने से नाड़ी शोधन होता है।

चौथा प्राणायाम– अब तक जिन प्राणायामों का वर्णन किया गया है। वे सब तीन प्राणायामों के भीतर ही आ जाते हैं। इन तीनों प्राणायामों की देश, काल तथा संख्या के द्वारा साधक परीक्षा करता चलता है। प्राणायाम अभ्यास के बढ़ने के साथ–साथ दीर्घसूक्ष्म होता चलता है। प्रथम बाह्य वृत्ति प्राणायाम (रेचक सहित कुम्भक या बाह्य कुम्भक) में प्राण वायु को बाहर निकाल कर उसे जितनी देर तक सुख पूर्वक बाहर रोका जा सके रोक कर यह जांच करनी होती है कि वह बाहर कितनी दूर पर ठहरा है किस काल तक रूका है तथा उतने काल में किसतनी मात्रायें होती हैं। अभ्यास के द्वारा यह दीर्घ सूक्ष्म हो जाता है। दूसरे आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम में श्वास को भीतर खींचकर सुख पूर्वक रोका जाता है। इसमें भी श्वास भीतर कहां तक जाकर रूका कितने समय तक सुखपूर्वक रूका तथा उतने काल में कितनी मात्रायें हुई की परीक्षा की जाती है। प्राण को भीतर रोकने के कारण इसे पूरक सहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक भी कहते हैं। अभ्यास के द्वारा यह भी दीर्घ–सूक्ष्म होता जाता है। तीसरी स्तम्भ वृत्ति जिसमें प्राणवायु को जहां का तहां एक दम प्रयत्न से रोक देना होता है को केवल कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। इसमें बिना रेचक और पूरक किये स्वाभाविक रूप से प्राणवायु अन्दर गया हो या बाहर निकला हो कहीं भी किसी भी स्थिति में हो, उसी जगह उसे रोक कर साधक यह परीक्षा करता है कि प्राण किस देश में स्थित हुआ है, कब तक सुख पूर्वक स्थिर रहता है तथा उतने समय में कितनी मात्रायें हो जाती है। यह भी अभ्यास के द्वारा दीर्घ–सूक्ष्म होता है।

इन उपर्युक्त तीनों प्राणायामों का विशद विवेचन पहिले ही किया जा चुका है। यहाँ केवल चौथे प्राणायाम का इनसे भेद दिखलाने के लिये इनका वर्णन सूक्ष्म रूप से किया गया है। बहुत से विद्वानों ने केवल कुम्भक को ही चतुर्थ प्राणायाम माना है लेकिन बहुत से टीकाकार तीसरे प्राणायाम को ही केवल कुम्भक कहते है। हमारे मत से भी केवल कुम्भक और चतुर्थ के प्राणायाम में अन्तर है। पहला अन्तर तो यह है कि केवल कुम्भक में प्रयत्न पूर्वक प्राण को रोका जाता है। किन्तु चौथे प्राणायाम में इस प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें तो मन के निश्चल होने के कारण स्वतः ही प्राण की गति रूक जाती है। अन्य सभी प्राणायामों में प्राणों की गति को रोकने का अभ्या प्रयत्न द्वारा करने पर ही उसका निरोध हो पाता है। यह प्राणायाम बाह्याभ्यन्तर समस्त विषयों का चिन्तन छोड़ देने से होता है। इसमें चित्त इष्ट चिन्तन में लगा रहता है। जिससेस उसे प्राण के बाहर निकलने, भीतर जाने चलने या अवरूद्ध होने किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। इसमें तो देश, काल, संख्या के ज्ञान के बिना ही प्राणों की गति किसी भी देश में रूक जाती है। इस प्रकार से यह अन्य सब प्राणायामों से भिन्न है। प्राणायाम का अभ्यास दृढ़ता पूर्वक बहुत दिनों तक करने के उपरान्त चतुर्थ प्राणायाम साधा जाता है। इसमें गुरु की आवश्यकता पड़ती है।

प्राणायाम में पहले चित्त को आध्यात्मिक देश पर ध्यान में अभ्यास द्वारा शून्यवत कर लेना चाहिये। प्राणावरोध ही केवल प्राणायाम नहीं है। प्राणायाम में तो प्राणावरोध के साथ चित्त को एकाग्र करना चाहिये। जब तक चित्त में एकाग्रता नहीं आवेगी, तब तक प्राणायाम से योग सिद्ध नहीं होता।

प्राण का अधिष्ठान भौतिक शरीर अर्थात् अन्नमय कोश न होकर प्राणमय कोश है, जो कि अन्नमय कोश से सूक्ष्म है और उसके (अन्नमय कोश के) भीतर स्थित रहकर उसके साथ समस्त कार्य सम्पादन करता है। इस प्राणमय कोश के द्वारा ही प्राण–धारायें समस्त शरीर के अंगों में होकर बहती हैं और उन्हें अनेक प्रकार से शक्ति प्रदान करती हैं। ये प्राण एक शक्ति हैं जो कि अलग–अलग अंगों में अवस्थित रहकर कार्य का सम्पादन करते हुये अलग–अलग नामों से पुकारी जाती है। प्राणायाम के द्वारा इस प्राण शक्ति का नियंत्रण होता है। यह केवल वायु का ही नियंत्रण नहीं है जो कि शरीर में एक शक्ति का प्रकार मात्र है। प्राण और श्वास में अन्तर है जैसे कि बिजली और बिजली के द्वारा उत्पन्न गति में अन्तर है, उसी प्रकार से श्वास और प्राण में अन्तर है। किन्तु इस श्वास के द्वारा ही प्राण की भी क्रिया सम्बन्धित है। अतः दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध भी है। प्राणायाम श्वास की गति को नियमित करके प्राण शक्ति के ऊपर नियंत्रण पाना है।

प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है। अविद्या आदि क्लेशों से ज्ञान आवरित रहता है। प्राणायाम का अभ्यास उसे क्षीण कर देता है, जिससे ज्ञान का प्रकाश होने लगता है। इस प्रकार से प्राणायाम के द्वारा मल–निवृत्ति होकर स्थिरता प्राप्त होती है।

प्रत्याहार– योग के पांच बहिरंग साधनों में से प्रत्याहार अन्तिम अर्थात् पाँचवा साधन है। यम नियम तथा आसन का अभ्यास हो जाने के बाद साधक प्राणायमा के अभ्यास के योग्य होता है। प्राणायाम के अभ्यास का परिणाम प्रत्याहार है। प्राणायाम का उपर्युक्त रूप से अभ्यास करते–करते मन के समस्त मल जल जाने से मन शुद्ध हो जाता है। चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है। उसका व्यापार बन्द हो जाता है। जिससे इन्द्रियाँ भी फिर बाह्य तथा अभ्यान्तर विषयों में प्रवृत्त नहीं होती हैं। इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त न होकर चित्त में लीन होना प्रत्याहार है। इन्द्रियों का विषय विमुख होना भी प्रत्याहार है। साधक इन्द्रियों को समस्त विषयों से हटाकर चित्त को जब ध्येये में लगता है तब इन्द्रियाँ चित्त ही में लीन सी हो जाती है। ऐसा होना ही प्रत्याहार है। जब तक इन्द्रियाँ मन में विलीन नहीं होती है तब तक प्रत्याहार की सिद्धि नहीं समझी जा सकती। प्रत्याहार में इन्द्रियों का बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होना होता है। प्रत्याहार शब्द का अर्थ ही पीछे जाना या वापस होता है। इन्द्रियों को विषयों की तरफ न जाकर, बुद्धि तत्व की तरह को वापस जाना प्रत्याहार है। प्रत्याहार में तो चित्त की इच्छा ही सब कुछ है। चित्त के साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी चलती हैं। चित्त के विषयों से हटने पर वे स्वतः ही हट जाती हैं। जैसे रानी मक्खी के पीछे–पीछे ही सब मधुमक्खियाँ चलती हैं ठीक उसी प्रकार से चित्त के पीछे–पीछे ही सब इन्द्रियाँ चलती हैं। अतः चित्त के निरुद्ध होते ही इन्द्रियों का निरुद्ध होना प्रत्याहार है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ पूर्णरूप से मन के आधीन हो जाती है। सामान्य व्यक्ति इन्द्रियों का दास है । जिधर उसकी इन्द्रियाँ जाती हैं उधर ही मन को भी जाना पड़ता है। मन के संयोग के बिना तो किसी भी विषय का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। बहुत से शब्द, श्रवणेन्द्रिय से टकराने पर भी, सुनाई नहीं देते, बहुत से दृश्य चक्षु इन्द्रिय से टकराते हुये भी दिखाई नहीं देते, क्योंकि मन इनसे संयुक्त नहीं होता है। सभी इन्द्रियों से टकराने वाले विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है फिर भी कुछ विषय ऐसे हैं जिनसे मन भी विवश हो जाता है। वह जितना उनसे हटना चाहता है उतना ही फंसता है। मन के न चाहते हुये भी ध्यान उनकी तरफ जाता है। वह सम्वेदना से रहित नहीं रह पाता। किन्तु योगी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर सके। इसीलिये यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम के अभ्यास की जरूरत पड़ती है। यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों का ऐसा नियंत्रण हो जाता है कि वे मन के अनुसार चलने लगती है। मन के न चाहने पर, चक्षु विषय सन्निकर्ष होने पर भी चक्षु रूप का ज्ञान नहीं दे सकते। आंखें खुली होने तथा विषय के उनके सम्मुख रहने पर भी अगर मन नहीं चाहता तो उस वाह्य विषय का उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। यही प्रत्याहार है। इसमें बिना मन के चाहे सम्बेदना भी नहीं होती। अगर मन आवाज

नहीं सुनना चाहता तो कोई भी बाह्य शब्द कानों को प्रभावित नहीं कर सकता है। अगर मन किसी वस्तु को स्पर्श नहीं करना चाहता तो त्वक् इन्द्रिय की सम्बवेदना शक्ति का रोध हो जाता है। मन अगर गंध नहीं चाहता तो घ्राणेन्द्रिय की घ्राण शक्ति का रोध हो जाता है तथा उग्र से उग्र गन्ध भी गन्ध सम्बेदन प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार अगर मन की इच्छा स्वाद लेने की नहीं है तो रसनेन्द्रिय स्वाद प्रदान नहीं कर सकेगी। उसकी शक्ति का रोध हो जावेगा। यही प्रत्यहार है। प्रत्याहार इतना ही नहीं होता बल्कि मन का इन्द्रियों पर काबू होता है और मन जिन दृश्य को देखना चाहता या जिस शब्द को सुनना चाहता है चक्षु तथा श्रवणेन्द्रिय उसी दृश्य तथा शब्द को वस्तु जगत में दिखा या सुना देती है। जैसे की कछुवा क्रिया नहीं करना चाहता तब वह अपने हाथ पैरों को अपने शरीर के भीतर ही सिकोड़े रहता है किन्तु जब चलना चाहता है तब उन्हें निकाल कर बाहर कर लेता है। ठीक इसी प्रकार जब मन चाहता है तभी इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं अन्यथा नहीं। इन्द्रियों को विषयो से समेटकर (हटाकर) चित्त के शुद्ध स्वरूप की ओर ले चलना ही प्रत्याहार है। प्रत्यहार की अवस्था में चित्त, बाह्य विषयों से विमुख हो चेतन अभिमुख होता है किन्तु इन्द्रियाँ मन के साथ–साथ बाह्य विषयों से तो विमुख हो जाती हैं किन्तु चेतन तत्व की तरफ अभिमुख नहीं होती। इसीलिये प्रत्याहार को इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों के न ग्रहरण करने पर चित्त के स्वरूप की नकल जैसा करना कहा है।

पुरुष चित्त को विषयों से हटाकर अन्तर्मुख कर आत्मदर्शन की तरफ प्रयत्नशील होता है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ भी विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख होती है तथा चित्त का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती है।

साधारण पुरुष इन्द्रियों का गुलाम होता है किन्तु प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ मन की गुलाम हो जाती है। इन्द्रियाँ स्वतन्त्र नहीं रह जाती। मन के शासन का साधन प्रत्याहार है। इसमें मन के सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त विषयों से विमुख होने पर इन्द्रियाँ भी अपने–अपने सूक्ष्त था स्थूल समस्त विषयों से विमुख होकर मन में लीन होकर स्थिर हो जाती है। जब चित्त को आध्यात्मिक देश में निरुद्ध किया जाता है तब इन्द्रियाँ किसी विषय को भी ग्रहण नहीं करती इसके अतिरिक्त चित्त को जब किसी एक विषय विशेष पर स्थिर किया जाता है तो केवल उस विषय से सम्बन्धि ज्ञानेन्द्रिय ही अपने व्यापर को करती हैं, अन्य विषयों से सम्बन्धित इन्द्रियों के व्यापार नहीं होते। इन्द्रियाँ तो अगर यथार्थ रूप से देखा जाये, मन के साधन मात्र हैं जिन्हें पूर्ण रूप से मन के नियन्त्रण में रहना ही चाहिये। किन्तु सामान्य व्यक्ति के यहाँ तो अराजकता ही है। इसीलिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों की इस अराजकता को समाप्त करके प्रत्याहार की अवस्था प्राप्त करनी पड़ती है। यही स्वाभाविक है। योगी के लिये प्रत्याहार का सिद्ध होना अति आवश्यक है। योग के आठों अंग एक दूसरे से सम्बन्धित है। अगर यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम के द्वारा स्थूल शरीर को पूर्णरूप से नियमित नहीं किया गया है तो प्रत्याहार सिद्ध नहीं हो सकता। उसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती है।

प्रत्याहार मन के द्वारा इन्द्रियों का नियंत्रण प्रतीत होता है किन्तु सचमुच में यह चित्त का बाह्य विषयों से अपने आप को खींच कर अपने में ही लीन होता है। जब चित्त अपने में ही लीन हो जायेगा तो इन्द्रियां तो बेकार हो ही जायेंगी क्योंकि मन के बिना तो इन्द्रियाँ ज्ञान प्रदान कर ही नहीं सकती। मन के अपने में पूर्ण रूप से लीन होने से इन्द्रियों के समस्त व्यापार स्वतः ही बन्द हो जायेंगे।

अन्वेषक जब अपने अन्वेषण में लीन रहता या इसी प्रकार से जब किसी व्यक्ति का ध्यान किसी एक तरफ लगा होता है तब वह अन्वेषक या व्यक्ति वाह्य जगत् के विरूद्ध हो जाता है। इस प्रकार की विमुखता, भले ही वह कितनी ही उच्च प्रकार की क्यों न हों, अनैच्छिक होती है तथा ब्राह्म जगत् में उसके ध्यान केन्द्रित होने का कोई न कोई विषय अवश्य रहता है किन्तु प्रत्याहार विमुखता ऐच्छिक होती है और वाह्य जगत् में मन का कोई विषय नहीं होता है। उसका तो सारा व्यापार अपने ही भीतर रहता है। अपनी

इच्छा से वह समस्त बाह्य जगत से विमुख रहता है या आध्यात्मिक देश में निरुद्ध रहता है।

प्रत्याहार के विवेचन से बहुत से व्यक्तियों को यह भ्रम हो जायेगा कि उन्माद तथा हिस्टीरिया आदि भी एक प्रकार के प्रत्याहार ही है। किन्तु ऐसा नहीं है दोनों में महान् अन्तर है। ये तो मानसिक रोग है किन्तु प्रत्याहार मानसिक स्वास्थ्य की उच्च अवस्था है। एक में तो शरीर तथा इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण रूप अनियंत्रण रहता है, दूसरे में पूर्ण नियंत्रण। उन्माद आदि में बाह्य विषयों से विमुखता तथा मानस भाव में रहने की स्थिति बाध्यता के कारण होती है किन्तु प्रत्याहार यह पूर्ण रूप से स्वेच्छाधीन होती है। चाहने पर प्रत्याहार सिद्ध व्यक्ति सूक्ष्म विषयों का भी प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है। उसकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती बल्कि वे तो पूर्ण स्वस्थ होने के कारण पूर्ण सामर्थ्यवान हो जाती है। यह बात अवश्य है कि वे सच्चे आज्ञाकारी सेवक की तरह पूर्ण रूप से मन के नियंत्रण में रहती है। मन की इच्छा के बिना वे किसी विषय की तरफ आकृष्ट नहीं हो सकती।

सम्मोहित व्यक्ति सम्मोहित अवस्था में सम्मोहित करने वाले व्यक्ति के संकेतों को पूर्ण रूप से मानता है। उस अवस्था में उसे भी प्रत्याहार होता है। संकेतानुसार इन्द्रियाँ कार्य करती है। बाह्य वस्तु जगत से उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता। वह सम्मोहित करने वाले के संकेतों को पूरी तरह से मानता है। समानता प्रतीत होते हुये भी इन दोनों में महान् अन्तर है। सम्मोहित व्यक्ति का चित्त सम्मोहित करने वाले व्यक्ति के आधीन होता है। उसी के व्यक्ति के नियंत्रण में सम्मोहित व्यक्ति की इन्द्रियाँ रहती हैं। उसका चित्त स्वनियंत्रित नहीं रहता। प्रत्याहार सिद्ध व्यक्ति के चित्त के व्यापार अपने स्वयं के आधीन होकर होते हैं। वह दूसरे के हाथ की कठपुतली नहीं होता। यह अवश्य है कि जिस प्रकार सम्मोहित करने वाले व्यक्ति सम्मोहित व्यक्ति को जो चाहे उसी दृश्य, शब्द, गंध,रस तथा त्वक् सम्वेदना को दिखा, सुना, सुंघा, चखा तथा अनुभव करवा सकता है उसी प्रकार प्रत्याहार सिद्ध व्यक्ति का भी अपनी इन्द्रियों पर पूरा काबू होने के कारण जिन विषयों को वह देखना, सुनना, सूंघना, चखना तथा अनुभव करना चाहे कर सकता है। जब तक सम्मोहित करने वाला नहीं चाहता है तब तक सम्मोहित व्यक्ति मान प्रकाश को भी नहीं देखता, तोप की आवाज को भी नहीं सुनता, तीव्रतम गंध को भी नहीं सूंघता, तीक्ष्ण से तीक्षण या कटु से कटु वस्तु के स्वाद से भी प्रभावित नहीं होता, तथा तीव्र से तीव्र सम्वेदना का भी अनुभव नहीं करता। प्रत्याहार सिद्ध योगी का भी यही हाल है कि बिना उसकी इच्छा के इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण कर ही नहीं सकती हैं। दोनों में इतना अन्तर स्पष्ट है कि एक में दूसरे व्यक्ति के शासन में शरीर, इन्द्रियाँ आदि रहते हैं, किन्तु दूसरे में शरीर, इन्द्रियाँ आदि अपने स्वयं के शासन में रहते हैं। क्लोरोफार्म आदि औषधियों द्वारा भी व्यक्ति सम्वेदना रहित हो जाता है। किन्तु इन सब में पूर्ण स्वेच्छा की कमी होने से इनके द्वारा प्रदान की गई स्थिति प्रत्याहार से बिलकुल भिन्न है।

योग उपनिषदों में पाँच प्रकार का प्रत्याहार बताया गया है।

प्रथम प्रकार का प्रत्याहार ज्ञान इन्द्रियों को, उनके विषयों की तरफ जाने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति को, शक्ति पूर्वक रोकना है।

दूसरे प्रकार का प्रत्याहार मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य जगत् में ब्रह्म के ही दर्शन करना या उनकी आत्मरूप समझना है।

तीसरे प्रकार का प्रत्याहार समस्त इन्द्रिय सुखों से मुख मोड़ना है।

पांचवें प्रकार का प्रत्याहार 18 मर्मस्थानों पर प्राण वायु का एक निश्चित क्रम से स्थापना करते चलना है।

प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक पूर्ण रूप से जितेन्द्रिय हो जाता है। चित्त के निरुद्ध होते ही इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है। प्रत्याहार से होने वाली इन्द्रिय जय ही सर्वोत्तम है। क्योंकि इसके सिद्ध होने पर इन्द्रिय जय के लिये किसी अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं होती है। प्राणायाम के सिद्ध होने से चित्त के आवरण हट जाने पर साधक को शुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त होता है जिसमें उसे इतना आनन्द आता है

कि वह बाह्य विषयों से विमुख हो जाता है। यही प्रत्याहार की सिद्धि उसे इन्द्रियों का स्वामी बना देती है। इसके अभ्यासी के समस्त सांसारिक रोग तथा पाप पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। उनके नष्ट होने से तप बढ़ता है तथा मन निर्मल होता है।

यम, निमय, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन है जिनके द्वारा मन का शरीर पर पूरा–पूरा शासन हो जाता है तथा साधक धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास योग्य हो जाता है।

धारणा– चित्त वृत्तियों का निरोध योग है। चित्त वृत्तियों का निरोध शनैः शनैः होता है। धीरे–धीरे ही समस्त विकर्षणों को दूर कर चित्त को निरोध की तरह ले जाया जाता है। सर्व प्रथम तो बाह्य विक्षेपों को दूर करना अति आवश्यक हो जाता है। बाह्य विकर्षणों से निवृत्ति के लिये ही योग के पंच बहिरंग साधन है, जिनका विवेचन किया जा चुका है। बाह्य विक्षेपों में प्रमुख विक्षेप अनियमित उद्वेगों तथा इच्छाओं के द्वार होते हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि निश्चित रूप से चित्त को विक्षिप्त करते है। इन विक्षेपों के निवारणार्थ ही योग में यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) का पालन अति आवश्यक माना गया है। इन दोनों का विषद विवेचन पूर्व में हो चुका है। इसके बाद स्थूल शरीर से होने वाले विकर्षण आसन तथा प्राणायाम से दूर होते है। आसन तथा प्राणायाम का भी विवेचन हो चुका है। जब सब प्रकार से बाह्य विकर्षणों से साधक मुक्त हो जाता है तब वह इस योग्य हो जाता है कि मन को इन्द्रियों से हटा सके। यही प्रत्याहार है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक का बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है जिससे उसे बाह्य जगत् जन्य कोई बाधा नहीं होती है। अतः वह बिना किसी बाह्य बाधा के चित्त को निरोध करने का अभ्यास करने योग्य हो जाता है। बिना योग के इन पांचों अंगों का अभ्यास दृढ़ हुये धारणा, ध्यान एवं समाधि का सफलता पूर्वक अभ्यास सम्भव नहीं है। योग के इन अंगों का अभ्यास दृढ़ हुये बिना ही जो योगाभ्यास करना चाहते हैं वे महान भूल करते हैं। इनके बिना ध्यान समाधि की तो कौन कहें धारणा का साधारण अभ्यास भी बहुत कठिन है। कल्पना तथा तथ्यों में बड़ा भेद है। अगर साधक बिना इसके सिद्ध हुये ध्यान करने लगता है तो उसका थोड़ी दूर चल कर मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। आखीर तक तो सब योगांगों का सिलसिलेवार अभ्यास करने वाला ही पहुँच सकता है। पूर्व जन्म का अभ्यास भी काम करता है। बहुत से विरक्त पैदा होते हैं। कतिपय व्यक्ति तो योग को उच्च अवस्था के अभ्यास को लेकर जन्मते हैं। उनके लिये नीचे से चलना आवश्यक नहीं होता, क्योंकि वे उतना मार्ग चल चुके हैं। एक जन्म में तो योग सिद्धि साधारणतः होता नहीं। कुछ भी धारणा के अभ्यास के लिए उससे पूर्व के पाँचों योगाङों का दृढ़ अभ्यास अनिवार्य सा है चाहे वह इस जन्म में किया गया हो या पिछले जन्मों में। साधक इन उपर्युक्त साधनों द्वारा जब बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में प्रवेश करता है तभी वह वहाँ विचरण कर सकता है। अभ्यास द्वारा इस स्थिति में पहुँचने पर ही साधक इस योग्य होता है कि वह चित्त को अन्य समस्त विषयों से हटाकर किसी एक स्थान विशेष (शरीर के भीतर या बाहर कहीं भी) में वृत्ति मात्र से ठहरना ही धारणा है। बाह्य तथा आभ्यान्तर विषय (स्थूल या सूक्ष्म) में चित्त को अन्य विषयों से हटाकर ठहराना ''धारणा'' है। चित्त को अनुभव के द्वारा आध्यात्मिक देश में बांधा जाता है तथा इन्द्रिय वृत्ति के द्वारा बाह्य देश में ठहराया जाता है। नाभिचक्र, हृदय कमल, मस्तिष्क स्थित ज्योति, नासिका का अग्रभाग, भ्रकुटी, जिह्वा का अग्रभाग, षट्चक्र या द्वादश चक्र आदि आध्यात्मिक देश है। धारणा का मुख्य स्थान प्राचीन काल में हृदय कमल तथा सौषुम्न ज्योति थी। बाद में धारणा का विषय षट्चक्र (मूलाधार चक्र, स्वाधिष्टान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र) या द्वादश चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, कण्ठ, जिह्वामूल, भ्रू, निर्वाण, ब्रह्मरंध्र के ऊपरर अष्टदल कमल, समष्टि कार्य अहंकार, कारण महत्तत्व तथा निष्कल) हुये। बाह्य विषय सूर्य, चन्द्र, देवमूर्ति आदि है।

बाह्य विषयों को चित्त वृत्ति मात्र से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहरण करता है। इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर भी चित्त ध्येय–विषय को वृत्तिमात्र से ही ग्रहण करता है। यह वृत्ति

स्थिर रूप से ध्येय विषय के स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है। इसी प्रकार से आध्यात्मिक देश का ध्येय विषय, जिस पर चित्त को ठहराया जाता है, प्रकाशित होने लगता है। इस तरह से जिस विषय पर चित्त को ठहराया जाता है उसी विषय का ज्ञान होता है, इन्द्रियाँ अपने–अपने अन्य विषयों को ग्रहण ही नहीं करती, क्योंकि प्रत्याहार के द्वारा वे पूर्ण रूप से चित्त के अधीन हो जाती है जिससे चित्त की इच्छा के विरुद्ध विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसीलिये धारणा के पूर्व प्रत्याहार की सिद्धि अति आवश्यक है।

इस धारणा अवस्था में विषयाकार वृत्ति समान रूप से प्रवाहित नहीं होती है। इसके बीच–बीच में अन्य वृत्तियाँ भी आती रहती है। जब ऐसा होता है तभी फिर ध्येय विषय की वृत्ति पर चित्त पहुँच जाता है। धारणा का अभ्यास करने में साधक को चित्त को निरन्तर विषय विशेष के चिन्तन में लगाये रखना चाहिये तथा बहकते ही फिर वहीं ले आना चाहिये। वह बहकने को जितना हो सके कम करता चले तथा प्रयत्न के द्वारा इस बहकने को बिलकुल बन्द कर दे। इसके साथ–साथ विषय पर पूर्ण रूप से प्रयत्न द्वारा चित्त को केन्द्रि करे। विषय के धुन्धलेपन से स्पष्टतम प्रकाशन की ओर प्रयत्न बढ़ता चलना चाहिये।

विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न रूप से धारणा का अभ्यास प्रतिपादित है। सांख्यमतावलम्बी ज्ञानयोगियों की तो तत्त्वज्ञानमयी धारणा होती है। इसका मुख्य विषय तत्त्वज्ञान है, भले ही उन्हें इन्द्रिय आदि आभ्यान्तर विषयों पर धारणा करते चलना पड़ता है। विषयों की धारणा करने वालों के मुख्य विषय शब्द तथा ज्योति है। शब्द धारणा में अनाहत नाद की धारणा प्रधान रूप से की जाती है। जिसका अभ्यास शान्त स्थान में किया जाता है। अनेक नाद भीतर भिन्न–भिन्न समस्त शरीर स्थानों पर सुने जाते हैं। धारणा द्वारा ही षट्चक्रभेदन होता है।इसमें कुन्डलिनी की धारणा करनी पड़ती है तब योगी एक–एक चक्र का भेदन करते हुये उसी ज्योतिर्मयी ऊर्ध्वगामिनी धारा की धारणा के द्वारा आज्ञा चक्र तक तथा वहाँ से सहस्रार तक पहुंच जाता है।

योग–उपनिषदों में भी धारणा का विवेचन किया गया है। अमृतनादोपनिषत् के अनुसार संकल्प पूर्ण मन को आत्मा में लीनन करके परमात्मचिन्तन में लगाना धारणा है। योग तत्वोपनिषद् के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा योगी जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, चखता तथा स्पर्श करता है, उन सब में आत्म विचार करना धारणा है। तीन घंटे तक इस धारणा का बिना आलस्य के अभ्यास करने से दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवण शक्ति, दिव्य गमन शक्ति, शरीर परिवर्तन शक्ति, अदृश्य होने की शक्ति, लोहे तांबे जैसी साधारण धातुओं को पेशाब द्वारा स्वर्ण में परिवर्तित करने की शक्ति, आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है। योग मार्ग में ये सिद्धियाँ बाधक होती है। इस बात का ध्यान रखते हुये योगी को अपने योगाभ्यास में लगा रहना चाहिये।

शाण्डिल्योपनिषद् में भी धारणा विशेष से सब प्रकार के रोगों से निवृत्ति बताई गई है। इस उपनिषद् में पाँच प्रकार की धारणा का विवेचन है। मन को आत्मा में स्थिर करना, बाह्य आकाश को हृदय आकाश में स्थिर करना, तथा पंचब्रह्म (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव) के पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) में स्थिर करना ही पाँच प्रकार की धारणा है। बाह्य पंच धारणा निम्न प्रकार से है–

1. किसी भी स्थूल पदार्थ (फूल, चित्र, किसी भी धातु, पाषाण या मिट्टी की मूर्ति) में मन को ठहराना।
2. जलाशय, नदी, समुद्र आदि के शान्त जल में मन को ठहराना।
3. अग्नि, दीपक, मोमबत्ती आदि की लौ पर मन को ठहराना।
4. निरन्तर स्पर्श के ऊपर मन को ठहराना।
5. किसी भी शब्द पर मन को ठहराना।

यही पंच भूतों की धारणा है।

उपर्युक्त धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है समाधि की यह पहली अवस्था है। यह समाधि का अति आवश्यक अंग है। इसे समाधि से अलग नहीं किया जा सकता

है। यह समाधि का प्रवेश द्वार है। धारणा की अवस्था में योगी के समाधि पथ में कोई भी वाह्य विषय बाधक नहीं हो सकता है।

ध्यान– धारणा के विषय में चित्त का व्यवधान रहित निरन्तर प्रवाहित होते रहना ध्यान है।

जिसमें चित्त को ठहराया जाय उसी ध्येय विशेष में चित्त वृत्ति का निरन्तर दीप शिखावत् प्रवाहित होते रहना ध्यान है। ध्यान में चित्त ध्येय वस्तु में पूर्णरूप से एकाग्र हो जाता है, इसमें दूसरी वृत्ति का बिलकुल ही उदय नहीं होता है। धारणा में बीच–बीच में दूसरी वृत्तियाँ उठ जाया करती हैं, किन्तु ध्यान में केवल ध्येय वस्तु रूपी वृत्ति ही निरन्तर चलती रहती है। वही वृत्ति धारा रूप से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इस रूप से ध्यान में केवल ध्येय विषय की चित्तवृत्ति ही निरन्तर उदय होती रहती है। धारणा के अभ्यास के दृढ़ होने के बाद ही जब ध्येय वस्तु से चित्त का बहकना बिलकुल बन्द हो जाता है तब ध्यान की अवस्था आती है। ध्यान में त्रिपुटी (धातु, ध्यान, ध्येय) की विषयाकार वृत्ति व्यवधान रहित नहीं होती हैं किन्तु खण्ड रूप में धारावाहिक क्रम से चलती रहती है। धारणा तथा ध्यान में यहीं अन्तर है कि धारणा में कभी–कभी विकर्षण होते रहते है किन्तु ध्यान में ऐसा नहीं होता है, उसमें तो बारम्बार एक ही वृत्ति उदय होती रहती है जिसमें विक्षेप नहीं आता है। अभ्यास से ध्यान शक्ति पैदा हो जाती जो किसी भी ध्येय विषय पर लगाई जा सकती है।

उपर्युक्त सूत्र के एक–एक शब्द का विवेचन करने से ध्यान ठीक–ठीक समझ में आ जायेगा।

सूत्र का पहला शब्द 'तत्र' है। तत्र का अर्थ 'वहाँ' 'उस देश में' 'उस जगह' होता है। यहाँ इसका अर्थ चित्त के उस केन्द्र से है जिस पर वह लगा है या जिससे उसका सम्बन्ध है। धारणा द्वारा जिस देश में चित्त वृत्ति को ठहराया जाये उसी ध्येय के आधार भूत देश को यहाँ 'तत्र' शब्द व्यक्त कर रहा है। यहय देश नाभिचक्र, आदि कुछ भी हो सकता है जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। अतः यहाँ 'तत्र' शब्द, बाह्य, आभ्यान्तर, स्थूल या सूक्ष्म ध्येय धातु विषयक देश को व्यक्त करता है, जिसमें चित्त को बांधा जाता है।

सूत्र का दूसरा शब्द 'प्रत्यय' है। प्रत्यय का यहाँ अर्थ है ध्येयकार चित्त वृत्ति। जिस विषय में चित्त को लगाया जाता है चित्त उसी विषय के आकार वाला हो जाता है। चित्त के इस विषयकार होने को ही चित्त वृत्ति कहते हैं। साधारण रूप से एक चित्तवृत्ति के बाद दूसरी भिन्न चित्तवृत्ति आती रहती है। इस प्रकार चित्तवृत्तियों की धारा बहती रहती है। इन चित्त वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। पंच बहिरंग साधन के अभ्यास के बाद साधक की ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह किसी भी जगह चित्त को ठहरा सकता है। ऐसा करने से बहुत सी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह चित्त का किसी ध्येय विशेष में ठहराना ही धारणा है। इसमें ध्येय विशेष के ही आकार वाला चित्त हो जाता है। इस ध्येयविषयाकार चित्तवृत्ति को ही यहाँ 'प्रत्यय' कहा है जो कि धारणा में ध्येय के तदाकार होकर उसके स्वरूप से भासती है।

सूत्र का तीसरा शब्द है 'एकतानता'। 'एकतानता' शब्द का अर्थ 'निरन्तरता' होता है। इससे धारा रूप से एक ही ध्येयाकार चित्त वृत्ति प्रवाहित होती रहती है। अर्थात अखण्ड धारा प्रवाह एक ही वृत्ति का बराबर जारी रहता है तथा धारणा के समान रूक–रूक चलने वाला धारा प्रवाह नहीं होता है। धारणा तथा ध्यान का भेद इस एकतानता के कारण ही है। धारणा में एकतानता नहीं होती उसमें व्यवधान रहता है किन्तु ध्यान में नदी के जल के प्रवाह या तेली की धारा के समान एक ही ध्येयाकार चित्तवृत्ति व्यवधान रहित रूप से प्रवाहित होती रहती है। धारणा का प्रत्यय सर्वदा एक सा नहीं रहता है। प्रत्यय की निरन्तरता ही के कारण ध्यान धारणा से भिन्न होता है। धारणा को अभ्यास करके दृढ़ करते–करते, धारणा ही कुछ काल बाद ध्यान में परिणत हो जाती है जिसमें साधक को ध्येय के अलावा देश, काल आदि का बोध तक भी नहीं होता है। जितने समय तक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उस समय तक की स्थिति को ध्यान कहते हैं। ध्यान के दृढ़ हुये बिना समाधि सम्भव नहीं है। ध्येय से बहकने का अर्थ चित्त का चंचल

होना, अन्य चित्त वृत्तियों का बीच–बीच में उदय होना होता है। जिसके होते रहने से समाधि सम्भव नहीं है, क्योंकि समाधि चित्तवृत्तियों की निरोध अवस्था को कहते हैं। अतः ध्यान समाधि का पूर्व रूप है जो समाधि के लिये परमावश्यक है।

धारणा के अभ्यास के बढ़ते रहने से मन पर नियन्त्रण भी बढ़ता जाता है तथा ध्यानावस्था आने पर ही मन समाधि अभ्यास में पहुँचने की तैयारी करने योग्य होता है। धारणा समाधि का प्रवेश द्वारा तथा ध्यान समाधि में पहुँचने का दूसरा द्वार है।

ध्यान अनेक प्रकार का होता है। जिस ध्येय पर साधक रूचि तथा उत्साह के साथ अपने चित्त को टिका सकें वही उसके ध्यान का विषय होता है। सब की रूचियों में व्यक्तिगत भेद हैं अतः सबके ध्यान का विषय एक ही ध्येय वस्तु नहीं हो सकती है। भेद होते हुये भी सभी ध्यान अन्त में एक ही मूल ध्येय में लीन हो जाते है। शास्त्रों में अनेक प्रकार के ध्यान का निरूपण है। योग उपनिषदों में सविशेष ब्रह्मख निर्विशेष ब्रह्म, प्रणव, त्रिमूर्ति, हृदय, सगुण तथा निर्गुण ध्यान का वर्णन है। घेरण्ड संहिता में स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्म त्रिविधि ध्यान का वर्णन है। किसी देवमूर्ति या गुरु में चित्त की एकाग्रता स्थूल ध्यान है। ज्योतिरूप ब्रह्म या प्रकृति में चित्त की एकाग्रता ज्योतिध्यान होता है। विन्दुरूप ब्रह्म तथा कुण्डलिनी शक्ति में चित्त की एकाग्रता सूक्ष्म ध्यान होता है। स्थूल ध्यान में अपने इष्ट देव की स्थूल मूर्ति के ऊपर चित्त को लगाकर उस मूर्तिरूपी ध्येय के आकार वाला चित्त हो जाता है। जब निरन्तर व्यवधान रहित ध्येयाकार चित्तवृत्ति (इष्टदेव की) उत्पन्न होती रहती है तो उसे स्थूल ध्यान कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से गुरु के स्थूल मूर्त रूप की चित्तवृत्ति का धारा रूप से निरन्तर प्रवाहित होते रहना भी स्थूल ध्यान के अन्तर्गत आता है। स्थूल ध्यान के ध्येय विषय के अन्तर्गत, साधक के मनोनीत कोई भी स्थूल विषय जिसको मूर्तिरूप से धारण किया जा सके आता है। मूलाधार चक्र में सर्पाकार कुंडलिनी शक्ति विराजमान है। जहाँ ज्योतिरूप जीवात्मा स्थित है। इसे ज्योतिरूप ब्रह्म समझकर चित्त को इस पर ठहराना चाहिये। जब निरन्तर व्यवधान रहित यही चित्त वृत्ति प्रवाहित होती रहती है तो इसे ज्योर्तिध्यान कहते है। इसी प्रकार से दोनों भोहों के मध्य में ऊँ रूप ज्योति है, साधक का इस ज्योति पर चित्त को एकाग्र करना भी जिससे इस ध्येयाकार चित्तवृत्ति का निरन्तर प्रवाह जारी रहता है, ज्योर्तिध्यान कहलाता है। ज्योर्तिध्यान में तेजोमय कल्पना के द्वारा ब्रह्म ध्यान किया जाता है। यह ध्यान नाद, हृदय, भ्रूमध्य, तीनों ही स्थानों पर किया जा सकता है। कुण्डलिनी, जागृत होने पर आत्मा से मिलकर स्थूल शरीर को छोड़ नेत्रों के छिद्रों को छोड़ कर एस्ट्रल ज्योति में घूमती है।। सूक्ष्मता तथा चंचलता के कारण यह किसी को दिखाई नहीं देती है। ऐसी स्थिति में योगी को शाम्भवी मुद्रा के द्वारा ध्यान को सिद्ध करना चाहिये।

स्थूल ध्यान से ज्योर्तिध्यान सौ गुना उत्तम माना गया है और ज्योर्तिध्यान से लाख गुना उत्तम सूक्ष्म ध्यान माना गया है।

योग में ध्यान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। बिना ध्यान के चित्त के शुद्ध–सात्विक रूप का तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान असम्भव है। योग में ध्यान शब्द एक विशिष्ट अर्थ रखता है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार ध्यान निरन्तर परिवर्तनशील अर्थात् चंचल है। पह प्रतिक्षण एक विषय से दूसरे विषय पर जाता रहता है। सामान्य मानव के ध्यान के विषय में इस तथ्यात्मक सत्य के अतिरिक्त ध्यान की अन्य किसी स्थिति का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान में प्राप्त नहीं होता किन्तु योग में ध्यान चित्त की स्थिरता का द्योतक है। चित्त का स्थायी रूप से निरन्तर एक ही ध्येय के आकार वाला होते रहना ध्यान है। अतः ध्यान का योग और आधुनिक मनोविज्ञान में भिन्न–भिन्न अर्थ निकलता है। वैसे तो आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान में ध्यान चित्त को एकाग्र करके किसी विषय विशेष पर लगाने को ही कहते हैं, किन्तु उनके अनुसार चित्त एक क्षण से अधिक उस विषय पर स्थिर नहीं रह सकता। साधारण रूप से यह कथन यथार्थ ही है तथा इसी कारण से योगाभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार के क्रम से अभ्यास के द्वारा साधक चित्त की दासता को हटाकर उसे अन्तर्मूख कर इन्द्रियों को विषयों से

विमुख कर पाता है। इसके बाद ही उसमें चित्त को ध्येय पर ठहराने की शक्ति प्राप्त होती है जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। इस धारणावस्था की परिपक्वता ही ध्यान है। इस प्रकार से योग में ध्यान की अभ्यास से प्राप्त होने वाली परमावस्था का विवेचन है। अभ्यास के द्वारा ध्यान की आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है। जिसके द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त कर समस्त ज्ञान सरल हो जाता है। अभ्यास द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है। वह भी तथ्यात्मक होने से विज्ञान के अध्ययन का विषय है। अतः आधुनिक मनोविज्ञान का इस विषय में अधूरा ज्ञान है।

समाधि– ध्यान की पराकाष्टा समाधि है। ध्यान के अभ्यास करते–करते जब ध्यान करने वाला, ध्यान करने की शक्ति तथा ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) इन तीनों की स्वतंत्र सत्ता समाप्त सी हो जाय तब वही समाधि अवस्था कहलाती है। ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों से मिश्रित चित्तवृत्ति समान रूप से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, अर्थात् इसमें ध्याता, ध्यान ये दोनों ही ध्येय के साथ–साथ बने रहते हैं, जिसके कारण से विषय पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो पाता। ध्यान की अभ्यास के द्वारा जब प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है और ऐसी अवस्था आ जाती है कि जिसमें ध्याता और ध्यान दोनों ही ध्येयाकार वृत्ति से अभिभूत हो जाते हैं तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। इसमें ध्यान करते–करते आत्म विस्मृति की स्थिति पहुँच जाती है तथा ध्येय से भिन्न अपना पृथकत्वज्ञान नहीं होता। ध्येय विषय की सत्ता के अतिरिक्त किसी की भी पृथक उपलब्धि नहीं होती। चित्त की स्थिरता की यह सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। समाधि अवस्था में ध्यान ध्येय से अभिन्न रूप होकर भासने लगता है। इसीलिये उसके स्वरूप का अस्तित्व समप्त सा प्रतीत होने लगता है किन्तु वास्तव में ध्यान का सर्वदा अभाव नहीं होता। यह नीचे दिये सूत्र से स्पष्ट हो जाता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशुन्यमिव समाधिः। पा. योगसुत्र–3/3

''ध्यान में केवल ध्येय मात्र से भासना तथा ध्यान का अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा होना समाधि है।''

इस प्रकार से समाधि में त्रिपुटी (ध्याता, ध्यान, ध्येय) का भान नहीं होता है। इसमें जल में घुली हुई मिश्री की डली के समान ध्यान भी ध्येय रूप से ही भासता है। समाधि अवस्था में ध्यान नहीं रहता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर ध्येय का प्रकार ही असम्भव हो जायेगा। ध्येय का प्रकाशक ध्यान ही होता है। यह अवश्य है कि समाधि अवस्था में ध्यान के विद्यमान होते हुये भी उसकी प्रतीति नहीं होती है। ध्यान में तो त्रिकुटी का भान होता है किन्तु समाधि में सब ध्येयाकार हो जाता है अर्थात् ध्यान भी ध्येय रूप से ही निरन्तर भासता रहता है। ध्येय के अतिरिक्त समाधि में किसी का भी भान नहीं होता है।

जब ध्येय वस्तु को मन, विकर्षण रहित होकर ग्रहण करता है तब ध्येय का समान्य विचारणा के द्वारा प्राप्त ज्ञान से, कहीं स्पष्ट तथा अधिक ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु फिर भी ध्येय का वास्तविक तथा सूक्ष्म ज्ञान नहीं प्राप्त होता। स्वचेतनता, तथा ध्यान चेतना ध्येय के पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान में बाधक है। इन दोनों के ध्येय विषय में लीन होकर एक रूप होने पर ही ध्येय पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। सूत्र में ''स्वरूपशून्यम् इव' इस उपर्युक्त कथन को ही व्यक्त करता है। जब ध्याता तथा ध्यान दोनों ही ध्येयाकार हो जाते हैं अर्थात ध्येय में लीन होकर अपने स्वरूप को ही मानो खो चुके हों, तब ही ध्येय की यथार्थता का ज्ञान होता है। ध्यान की वह परिपक्व अवस्था ही समाधि है। धारणा की विकसित अवस्था ध्यान, तथा ध्यान की विकसित अवस्था समाधि है। समाधि अवस्था विकर्षणों, स्वचेतना तथा ध्यान चेतना तीनों से पूर्ण रूप से मुक्त है। केवल ध्येयाकार वृत्ति ही निरन्तर प्रवाहित रहती है। चेतना क्षेत्र में उसके अतिरिक्त कुछ रहता ही नहीं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठों अंग, सम्प्रज्ञात समाधि के अंग हैं।

उपर्युक्त अष्टांग योग की समाधि, अंग समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि अंगी समाधि है। इस प्रकार से तो अंग समाधि सम्प्रज्ञात समाधि, तथा असम्प्रज्ञात समाधि ये तीन

समाधियाँ हुई। किन्तु अंग समाधि ध्यान की ही अवस्था विशेष तथा सम्प्रज्ञात समाधि का अंग होने से स्वयं समाधि नहीं कहीं जा सकती हैं, अतः समाधि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दो ही मानी गयी है। अंग समाधि के अभ्यास के बाद ही साधक अग्रिम समाधियों में पहुँचता है। अंग समाधि ध्यानात्मक समाधि है किन्तु सम्प्रज्ञात ज्ञानात्मक प्रकाश रूप समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त विषयों का ज्ञान हो जाता है किन्तु अंग समाधि में ध्येय पदार्थ के सिवाय कुछ भी नहीं भासता है। सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है। समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध तो असम्प्रज्ञात समाधि में ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों एक ही अवस्था के उत्तरोत्तर विकसित रूप है। तीनों में एकाग्रता की भिन्नता के कारण भेद है। एकाग्रता की निम्नतम अवस्था धारणा से प्रारम्भ होती है,तथा ध्यान की अवस्था को पार करती हुई समाधि की अवस्था तक पहुँच जाती है। यह एक अविच्छिन्न प्रक्रिया है जो कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलती चली जाती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का धारणा से प्रारम्भ होकर समाधि में अन्त हो जाता है। योग में इस सम्पूर्ण प्रक्रिया जो संयम कहते हैं। धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों का एक विषय में होना ही संयम है। संयम ध्येय विषय के ज्ञान का साधन हैं। किसी भी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिये उसके समस्त पहलुओं पर समस्त दृष्टिकोण से धारणा, ध्यान, समाधि करनी पड़ेगी। अतः एक संयम में अनेक बार की धारणा, ध्यान, समाधि सम्मलित हो सकती है। इसीलिये धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों साधनों को ही योग में संयम कहते हैं।

संयम–जय होने से अर्थात् धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों के दृढ़ अभ्यास के द्वारा साधक को संशय, विपर्यय आदि रहित यथार्थ ज्ञान (सम्यक ज्ञान) प्राप्त होता है। संयमजय से भ्रमहीन, शुद्ध, सात्विक, योग सिद्धियों को प्रदान करने वाली समाधिजन्य दिव्य बुद्धि प्रकाशित होती है, जिससे ध्येय वस्तु का अवरोक्ष प्रमाज्ञान प्राप्त होता है। जैसे–जैसे संयम में दृढ़ता होती जाती है, वैसे–वैसे ही यह समाधि–प्रज्ञा निर्मल होती जाती है। प्रज्ञा समाधि की अवस्था में ही उत्पन्न होती है। इसको समाधि जन्य बुद्धि कहा जा सकता है। संयम के दृढ़ होने पर ही सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था आती है। सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत (जिसका कि अग्रिम अध्याय में विशिष्ट विवेचन किया जायेगा) समाधि की कई अवस्थाएँ आती हैं, उन सब अवस्थाओं में यह समाधि जन्य बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा विद्यमान रहती है। इस प्रज्ञा का कार्य विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त होने तक चलता रहता है। विवेक ख्याति पूर्ण ज्ञान की अवस्था है, जिससे पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से संयम के जय से प्राप्त समाधि प्रज्ञा के द्वारा ध्येय का यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त होकर अन्त में विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त होती है।

संयम के द्वारा ही विश्व ज्ञान भण्डार का द्वार खोला जाता है। आधुनिक विज्ञान भी उस गहरे ज्ञान भण्डार के निम्नतम भाग को प्राप्त करने में अभी तक सफल नहीं हो पाया है जिसका पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान क्रमशः निम्न भूमि से उच्चतर भूमि में संयम के करते चलने से होता है। जिस प्रकार से निशाना लगाने का अभ्यास करने वाला पहले स्थूल लक्ष्य पर निशाना मारने का अभ्यास कर सूक्ष्म लक्ष्य भेदने की तरफ चलता है, ठीक उसी प्रकार से संयम भी स्थूल विषय से सूक्ष्मतर विषय की तरफ चलता है। संयम से प्रथम भूमि को जीत लेने पर ही दूसरी भूमि में संयम किया जा सकता है दुसरी भूमि को संयम अभ्यास से जीतकर तीसरी भूमि में संयम किया जा सकता है, तीसरी को जीतकर ही चौथी भूमि में संयम किया जा सकता है। बिना इस अन्तिम भूमि को जीते समाधि प्रज्ञा नहीं प्राप्त होती है। अतः संयम की एक विशिष्ट प्रयोग–विधि है। प्रारम्भ में किसी स्थूल पदार्थ पर संयम किया जाता है। स्थूल विषय पर संयम का अभ्यास दृढ़ हो जाने से वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें पूर्व में न देखे, न सुने, न अनुमान किये संशय विपर्यय रहित उस स्थूल विषय के साथ समस्त स्थूल विषयों का अवरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इस भूमिपर विजय प्राप्त होने के बाद सूक्ष्मतर विषयों (पंचतन्मात्राओं तथा इन्द्रियों) पर संयम कर लेने से विचारानुगत

सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, जिससे इस सूक्ष्मतर विषयों का संशय विपर्यय रहित अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इस भूमि को भी विजय कर लेने के बाद साधक को पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त, जिसे अस्मिता कहते हैं, वे ऊपर संयम के अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार से इन चारों भूमियों पर संयम के द्वारा विजय करने पर ही समाधि–प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इन भूमियों में अग्रिम भूमि के जय होने पर पूर्व की भूमि का समस्त ज्ञान स्वतः ही हो जाता है किन्तु जिसने पूर्व की भूमि को विजय नहीं किया है, वह आगे की भूमि को जय नहीं कर सकता, अर्थात् वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाने पर ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो सकती है, तथा इस आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध होने पर ही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि पूर्व पुण्य, महात्माओं की कृपा तथा ईश्वर भक्ति आदि के द्वारा पूर्व की भूमियों के जय किये बिना ही अन्तिम भूमि सिद्ध हो जाय। ईश्वर कृपा से अन्तिम भूमि सिद्ध होने से पूर्व भूमियों को सिद्धि का फल स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अतः उनमें संयम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सम्प्रज्ञात समाधि के यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग साधन है, और धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन उसके अन्तरंग साधन है। धारणा, ध्यान तथा समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि के तो अन्तरंग साधन है किंतु असम्प्रज्ञात समाधि के ये बहिरंग साधन ही होते है। उसका अन्तरंग साधन तो पर–वैराग्य हे। साधन के बिना साध्य को सिद्धि नहीं हो सकती। धारणा, ध्यान, समाधि के बिना भी असम्प्रज्ञात समाधि पर–वैराग्य द्वारा सिद्ध होती है। इसलिये पर–वैराग्य ही इसका अन्तरंग साधन हुआ, धारणा, ध्यान, समाधि नहीं।

अभ्यासा प्रश्न–

प्रश्न–1 अष्टांग योग के प्रणेता हैं–

(अ) महर्षि व्यास (ब) महर्षि पतंजलि

(स) महर्षि कपिल (द) महर्षि गौतम

प्रश्न–2 यम की संख्या है–

(अ) चार (ब) पाँच

(स) छः (द) सात

प्रश्न–3 अष्टांग योग का पाँचवां अंग है–

(अ) धारणा (ब) आसन

(स) नियम (द) प्रत्याहार

प्रश्न–4 निम्न में से कौन सा नियम का अंग है–

(अ) अहिंसा (ब) सत्य

(स) ईश्वर प्रणिधान (द) अपरिग्रह

4.4 सारांश–

प्रिय पाठकों, उपर्युक्त विवेचन से आप अष्टांग योग की अवधारणा को भली–भाँति समझ गये होंगे। एक साधारण मनुष्य भी किस प्रकार अपने जीवन में यौगिक अभ्यासों को क्रमबद्ध ढंग से अपना जीवन उत्कृष्टतम बना सकता है। इसी की सुन्दर विवेचना अष्टांग योग में की गई है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन आठ अंगों में जीवन के प्रत्येक आयाम को विकसित करने की व्यावहारिक प्रक्रिया का अत्यन्त सुन्दर वर्णनकिया गया है। आठ अंग होने के कारण ही इसे अष्टांग योग का नाम दिया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अष्टांग योग योगदर्शन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसे व्यावहारिक जीवन में अपनाकर हम अपने जीवन का चहुँमुखी नियोजित विकास कर सकते हैं।

4.5 शब्दावली

❖ शौच – पवित्रता

- ❖ ईश्वर प्रणिधान –ईश्वर शरणागति अर्थात् ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण।
- ❖ स्वाध्याय –स्वयं का अध्ययन अर्थात् सद्ग्रन्थों के प्रकाश में आत्मानुसंधान की प्रक्रिया।
- ❖ प्रत्याहार – इन्द्रियों का अपने–अपने स्रोत की ओर लौटना या इन्द्रियों का अन्तर्मुखी होना।

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न–1 (ब)
प्रश्न–2 (ब)
प्रश्न–3 (द)
प्रश्न–4 (स)

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पातंजल योगप्रदीप– ओमानंद तीर्थ, गीताप्रेस गोरखपुर।

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

योगपरम्परा और आयुर्वेद– डॉ. अच्छेलाल यादव, कला प्रकाशन, वाराणसी।
अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान–विज्ञान, भाग–2, डॉ. प्रणव पण्ड्या, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुंज, हरिद्वार।

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न–1 अष्टांग योग की अवधारणा का विस्तृत वर्णन कीजिए।
प्रश्न–2 यम–नियम की विस्तृत विवेचना कीजिए।

इकाई – 5 अष्टांग आयुर्वेद परिचय

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 अष्टांग आयुर्वेद परिचय
5.3.1शल्य तंत्र
5.3.2 शालाक्य तंत्र
5.3.3 काय चिकित्सा तंत्र
5.3.4 भूतविद्या
5.3.5 कौमारभृत्य
5.3.6 अगदतन्त्र
5.3.7 रसायन तंत्र
5.3.8 वाजीकरण तंत्र
5.4 सारांश

5.5 शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.9 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों इससे पूर्व की ईकाई में आपने योग के आठ अंगों का अध्ययन किया है। प्रस्तुत ईकाई में हमारे अध्ययन का विषय है – **अष्टांग आयुर्वेद परिचय।** जिस प्रकार **महर्षि पतंजलि** ने **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि** के रूप में योग के आठ अंग बताये हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आयुर्वेद को भी आठ अंगों में वर्गीकृत किया गया है, जिन्हें **आयुर्वेद के अष्टांग** कहा जाता है।

पाठकों, आपके मन में सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न हो रही होगी कि आयुर्वेद के ये आठ अंग कौन – कौन से है और इन अंगों का संबध कौन – कौन से विषयों से है?

पाठकों, आयुर्वेद के ये आठ अंग है –

1. **शल्य तंत्र**
2. **शालाक्य तंत्र**
3. **काय चिकित्सा तंत्र**
4. **भूतविद्या**
5. **कौमारभृत्य**
6. **अगदतन्त्र**
7. **रसायन तंत्र**
8. **वाजीकरण तंत्र**

प्रस्तुत ईकाई में प्रत्येक अंग का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

5.2 उद्देश्य

विद्यार्थियों, प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन के उपरान्त आप –

1. आयुर्वेद के **अष्टांग विभाजन** का वर्णन कर सकेंगे।
2. आयुर्वेद के **शल्य तंत्र** अंग का स्पष्ट कर सकेंगे।
3. आयुर्वेद के **काय चिकित्सा अंग** का वर्णन कर सकेंगे।
4. आयुर्वेद के **भूतविद्या** का वर्णन कर सकेंगे।
5. आयुर्वेद के **कौमारभृत्य अंग** को स्पष्ट कर सकेंगे।
6. आयुर्वेद के **अगदतन्त्र अंग** का विवेचन कर सकेंगे।
7. आयुर्वेद के **रसायन तंत्र अंग** का वर्णन कर सकेंगे।
8. आयुर्वेद के **वाजीकरण तंत्र** का वर्णन कर सकेंगे।
9. आयुर्वेद के अष्टांगों का तुलनात्मक विश्लेषण कर सकेंगें।

5.3 अष्टांग आयुर्वेद परिचय–

प्रिय विद्यार्थियों, आयुर्वेद शाश्वत जीवन विज्ञान है। इसके आठ अंगों के विषय में अध्ययन करने से पूर्व संक्षेप में यह जान लेना अति आवश्यक है कि आयुर्वेद का अवतरण कैसे हुआ अर्थात् यह ज्ञान देवलोक से कैसे मनुष्य लोक तक पहुँचा।

ऐसा माना जाता है कि सर्वप्रथम **ब्रह्माधी** ने आयुर्वेद को जानकर इसका उपदेश **दक्ष प्रजापति** को दिया और **दक्ष प्रजापति** ने **अश्विनीकुमारों** को और अश्विनी कुमारों ने **षतक्रतव अर्थात् इन्द्र** को इसका उपदेश दिया और आयुर्वेद का ज्ञान देवलोक तक ही सीमित रहा। स्वयंभू ब्रह्मा से इन्द्र पर्यन्त समस्त देवगण **बुद्धि, मेधा, स्मृति** आदि में विलक्षण होने के कारण आयुर्वेद के ज्ञान को यथावत् ग्रहण करने में समर्थ हुये। इसलिये आयुर्वेद एक ही रूप में विद्यमान रहा, इसका विभाजन नहीं हुआ, किन्तु जब आयुर्वेद का अवतरण देवलोक से मृत्युलोक या पृथ्वीलोक पर हुआ, तो यह अनेक भागों में विभाजित हो गया। मनुष्यलोक से कुछ ऋषिगण आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के

लिये इन्द्र के पास पहुँचे। इन्द्र ने मनुष्यों की अल्पमेधाशक्ति को देखते हुये आयुर्वेद को आठ भागों में वर्गीकृत कर भिन्न – भिन्न महर्षियों को पृथक – पृथक ढंग से आयुर्वेद के एक – एक अंग का उपदेश प्रदान किया। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुये सुश्रुत संहिता में कहा गया है –

''इह खल्वायुर्वेदमष्टांगमुपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः ष्लोकषत– सहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः। ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। तद्यथा–षल्यं, षालाक्यं कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यं, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति।

(सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/6–7)

अर्थात''प्राणि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ही ब्रह्मा ने अथर्ववेद के उपांग रूप आयुर्वेद को एक लक्ष श्लोक और एक हजार अध्यायों में निर्मित किया। तत्पश्चात् मनुष्यों की अल्पायु और अल्प बुद्धि देखकर पुनः उसे आठ भागों में विभाजित किया। आयुर्वेद के आठ अंग निम्न है। –

1. **शल्य तंत्र** 2. **शालाक्य तंत्र** 3. **काय चिकित्सा** 4. **भूतविद्या**
5. **कौमारभृत्य** 6. **अगदतन्त्र** 7. **रसायन तंत्र और** 8. **वाजीकरण तंत्र**

पाठकों, अब आप जान गये होंगे कि किस प्रकार अनादि, शाश्वत ज्ञान आयुर्वेद का आठ अंगों में विभाजन हुआ।''

आयुर्वेद का अष्टांग विभाजन

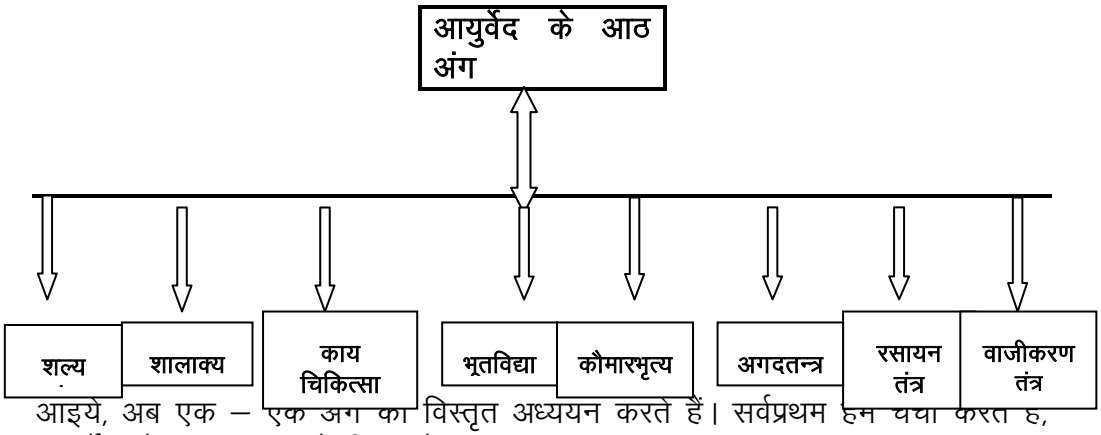

आइये, अब एक – एक अंग का विस्तृत अध्ययन करते हैं। सर्वप्रथम हम चर्चा करते है, आयुर्वेद के **'शल्य तंत्र'** के विषय में।

5.3.1 शल्य तंत्र (Surgery) - पाठकों, आयुर्वेद का प्रथम अंग है– **'शल्य तंत्र'।** क्या आप जानते हैं कि **शल्य** शब्द किस अर्थ का प्रतीक है? शल्य शब्द ''**शल्हिंसायाम्''** अर्थात् **हिंसा अर्थ में प्रयुक्त** होने वाली **शल् धातु** से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – ''बाण''। प्राचीनकाल में युद्ध के दौरान सैनिकों के बाण द्वारा घायल होने पर उससे होने वाले व्रण के उपचार के लिये ही इस शास्त्र की उत्पत्ति हुयी। समय के साथ इसका विस्तार होता गया और शल्य शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अब शल्य शब्द का प्रयोग बाण के समान पीड़ित करने वाले आगन्तु द्रव्य मात्र के लिये ही नहीं किया जाता वरन् शरीर में संचित, वृद्धि एवं प्रकोप को प्राप्त हाने वाले **वात–पित्त–कफ** आदि दोष और मानसिक पीड़ा पहुँचाने वाले विभिन्न प्रकार के मनोविकारों को भी शल्य की संज्ञा दी जाती है।

''सुश्रुत संहिता'' में शल्य तंत्र के विषय में विवेचन करते हुये कहा गया है –

'तत्र षल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांषुलोहलोष्ठास्थिबालनखपूया–स्रावान्तर्गर्भषल्योद्धरणार्थं यन्त्रषस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिष्चयार्थं च।'

(सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)

अर्थात''इनमें विभिन्न प्रकार के तृण (तिनके या घास), लकड़ी, पत्थर, धूलि, लोहा (धातु), मिट्टी का ढेला, अस्थि, केश, पूय, विभिन्न प्रकार के आस्राव, अन्तर्गर्भ (मूढ़गर्भ आदि) रूप शल्यों को बाहर निकालने के लिये, यन्त्र– शस्त्र–क्षार–अग्नि का प्रयोग करने तथा व्रण का विनिश्चय करने के लिये **''शल्य''** नामक अंग होता है।''

सुश्रुत संहिता में वर्णित शल्य तंत्र के लक्षणों के आधार पर ज्ञात होता है कि जिस शास्त्र में विविध प्रकार के तृण इत्यादि शल्यों का ज्ञान, शल्यों के बाहर निकालने की विधि का ज्ञान, भिन्न – भिन्न प्रकार के यन्त्रों और शास्त्रों का परिचय, क्षार के प्रयोग की विधि, अग्नि प्रयोग की विधि, व्रण के लक्षण और व्रण के विनिश्चय इत्यादि का प्रतिपादन किया गया हो, उसे **''शल्य तंत्र''** कहते हैं।

सुश्रुत के टीकाकार **आचार्य डल्हण** ने शल्य शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। इनके मतानुसार शल्य का आशय केवल तृण, काष्ठ इत्यादि से ही नहीं है, बल्कि शरीर में संचित दोष या मल भी शल्य के अन्तर्गत ही आते हैं। जैसे कि –

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा षरीरिणां स्थावरजंगमानाम्।
यत्किंचिदाबाधकरं षरीरे तत्सर्वमेवः प्रवदन्ति षल्यम्।।

अर्थात''–स्थावर जंगम प्राणियों के शरीर में अति मात्रा में बढ़ा हुआ मल या दोष जो शरीर में पीड़ा कारक होता है वह **षल्य'** कहलाता है।''

सुश्रुत संहिता के अनुसार भी जिस – जिस कारण से शरीर या मन को पीड़ा पहुँचती है, वे सभी द्रव्य अथवा भाव शल्य कहलाते हैं। कहा भी गया है –

''मनः शरीराबाधकराणि शल्याणि।'' (सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 7/4)

अर्थात–''मन एवं शरीर को पीड़ित करने वाले समस्त द्रव्य अथवा भाव शल्य कहलाते हैं। ''

5.3.2 शालाक्य तंत्र (ऊर्ध्वांग) – **शल्य तंत्र** के बाद दूसरा अंग **''षालाक्य तंत्र'' है,** जिसे **ऊर्ध्वांग** भी कहा जाता है। इस शास्त्र में गर्दन से ऊपर के भाग में स्थित **कान, आँख, मुख, नासिका** आदि अंगों में उत्पन्न होने वाले रोगों का निदान एवं उपचार किया जाता है। नेत्ररोग के उपचार हेतु **षलाका** का प्रयोग किये जाने के कारण इसका नाम शालाक्य तंत्र पड़ा। **महर्षि सुश्रुत** ने शालाक्य तंत्र के विषय में लिखा है कि –

'शालाक्यं नामोध्वंजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधि–
नमुपशमनार्थम्।'' (सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)

अर्थात ''उर्ध्वजत्रुगत (ग्रीवा से ऊपर के भाग में स्थित) कर्ण, नेत्र, मुख, नासिका आदि में स्थित व्याधियों के उपशमनार्थ जिस शास्त्र का प्रतिपादन किया गया हो उसे **षालाक्य** (शालाक्यतन्त्र) कहते है।''

हारीत संहिता में शालाक्य तंत्र के स्वरूप को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है –

शिरोरोगाः नेत्ररोगाः कर्णरोगा विषेषतः।
भ्रुकण्ठषंखमन्यासु ये रोगाः सम्भवन्ति हि।।
तेषां प्रतीकारकर्म नस्यवर्त्यञजनानि च।
अभ्यंगमुखगण्डूषक्रिया षालाक्यसम्मिताः।।

अर्थात ''– विशेषतः शिरोरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग तथा भौं, कण्ठ, शंख और दूसरे स्थानों में जो रोग होते हैं उन का प्रतिकार करने हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले **नस्य, वर्ति, अञजन, अभ्यंग, मुखगण्डूष** आदि कर्म शालाक्य के अन्तर्गत आते हैं।''

5.3.3 काय चिकित्सा तंत्र (Medicine)–

आयुर्वेद का तीसरा अंग **काय चिकित्सा** है। इस अंग के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिये पहले **''काय'' ष**ब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। आचार्य चरक के अनुसार 'काय' से आशय **''जठराग्नि''** से है। ऐसा माना जाता है कि मानव शरीर में कुल **13** प्रकार की अग्नियाँ होती है, जो निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित है –

1. **जठराग्नि – एक**
2. **भूताग्नि – पाँच**
3. **धात्वाग्नि – सात**

आयुर्वेदाचार्यो ने जठराग्नि का स्थान आमाशय और पक्वाशय के मध्य माना है, जो पाचक पित्त के रूप में विद्यमान रहती है। सभी 13 अग्नियों में **जठराग्नि** ही प्रधान है और इसी से अन्य सभी अग्नियाँ बल प्राप्त करती है। अतः आरोग्य की प्राप्ति के लिये जठराग्नि का नियमित होना अत्यावश्यक है, क्योंकि इसमें विकृति अनेक रोगों को जन्म देती है। इसलिये सबसे पहले इस जठराग्नि की चिकित्सा की जाती है। जठराग्नि का

ही दूसरा नाम **'कायाग्नि''** भी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जठराग्नि से संबधित विकृतियो, उनके निदान एवं उपचार से संबधित शास्त्र काय चिकित्सा है। इसी को भिन्न – भिन्न आयुर्वेदाचार्यो ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है –

'कायचिकित्सा नाम सर्वागसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तषोषोन्मा–दापरमारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपषमनार्थम्।' **(सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)**

अर्थात ''ज्वर, रक्तपित्त, राजक्ष्मा, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर होने वाले रोगों के उपशमन के लिये जिस शास्त्र में चिकित्सा का उल्लेख हो, वह काय चिकित्सा कहलाता है।''

'कायोऽत्राग्निरूच्यते, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा।'

(सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 7/1 पर डल्हण)

अर्थात –'काय' शब्द से यहाँ अग्नि अभिप्रेत है, उसकी चिकित्सा '**काय चिकित्सा'** कहलाती है।

'कायस्यान्तरग्नेष्चिकित्सा कायचिकित्सा।' (चरक संहिता, सूत्र स्थान 30/28 पर चक्रपाणि)

''काय अर्थात् अन्तः अग्नि की चिकित्सा ही कायचिकित्सा कहलाती है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि काय चिकित्सा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

5.3.4 भूतविद्या तंत्र (Science Of Demonic Seizures Psychology) –

पाठकों, पुरातन काल में आयुर्वेद का यह अंग अत्यन्त विकसित एवं समुन्नत था। जैसा कि आपको नाम से ही स्पष्ट हो रहा होगा कि आयुर्वेद की इस शाखा में देवता, पितर, भूत, ग्रह इत्यादि के कोप से पीड़ित व्यक्तियों के कष्टों को दूर करने के लिये इन देवताओं, पितरों आदि के लिये पूजा, बलि, दान इत्यादि का विवेचन किया गया है। **सुश्रुत संहिता** में **भूतविद्या तंत्र** के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा गया है –

'भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिषाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां षान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपषमनार्थम्।' (सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)

अर्थात

''देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ (पितर) पिशाच, नागग्रह आदि से पीड़ित चित्त वाले लोगों के ग्रहादि दोषों के उपशमन के लिये शान्ति कर्म के रूप में हवन आदि तथा बलि आदि का विधानोल्लेख जिस शास्त्र में किया गया है वह **भूतविद्या तन्त्र** कहलाता है।''

5.3.5 कौमारभृत्य (बाल रोग – Paediatrics)-यह आयुर्वेद की पाँचवी शाखा है। **''अष्टांग संग्रह'' ''अष्टांग हृदय'' और ''हारीत संहिता''** में आयुर्वेद के इस अंग को **''बाल चिकित्सा''** नाम से संबोधित किया गया है। **महर्षि सुश्रुत ने कौमारभृत्य** के सन्दर्भ में वर्णन करते हुये कहा है कि –

''कौमारभृतयं नाम कुमारभरणभाः रदोषसंषोधनार्थ दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामप्रषमनार्थम्।'' (सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)

अर्थात ''बालकों के पालन – पोषण करने तथा धात्री (धाय) के दूध के दोषों का संशोधन करने के लिये दूषित दूध और बालग्रह से समुत्पन्न व्याधियों के उपशमन के लिये विभिन्न विषयों का उल्लेख जिस शास्त्र में किया गया है वह **'कौमारभृत्य तन्त्र''** कहलाता है।''

''हारीत संहिता'' में बाल चिकित्सा का वर्णन निम्नानुसार किया गया है–

''गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रम तथा।
बलानां रोगषमनं क्रिया बालचिकित्सितम्।।

अर्थात''गर्भ सम्बन्धी विषय, सूतिका सम्बन्धी विषय तथा बालकों को होने वाले रोगों की चिकित्सा सम्बन्धी विषय ये सब बाल चिकित्सा कहलाते हैं।''

पाठकों, ऐसा प्रतीत होता है कि **महर्षि सुश्रुत** के अनुसार **कौमारभृत्य** का संबध बालक के जन्म के पश्चात् केवल उसके भरण – पोषण और उसे होने वाले विभिन्न प्रकार के रोगों के निदान एवं चिकित्सा से संबधित विषयों से ही है, किन्तु **हारीत संहिता** में बाल चिकित्सा या कौमारभृत्य का जो लक्षण प्रतिपादित किया गया है, उससे स्पष्ट

होता है कि बालकों के लालन – पालन तथा बाल रोगों के साथ – साथ गर्भ संबधी एवं स्त्री रोग संबधी सभी विषय कौमारभृत्य के अन्तर्गत ही आते है।

प्रिय पाठकों, यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है और वह यह कि **''कुमार''** शब्द का अर्थ सामान्यतः **''छोटे बच्चों''** से ही लिया जाता है, किन्तु कौमारभृत्य तंत्र में **कुमार** शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया है। यहाँ विद्याभ्यास और विवाह पर्यन्त पुरूष को कुमार कहा गया है। इस तथ्य की पुष्टि में **महर्षि सुश्रुत** के निम्न वचन दृष्टव्य है–

''शक्तिमन्त्रं चैनं ज्ञात्वा यथावर्ण विद्यां ग्राहयेत्''। (सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान 10/52)

अर्थात

''उस कुमार को शक्तिसम्पन्न जानकर अर्थात् विद्योपार्जन सुलभ क्लेश के सहन करने मे समर्थ जानकर उसे वर्ण के अनुसार उद्यित विद्या ग्रहण कराये।''

इसी सन्दर्भ में आगे पुनः महर्षि सुश्रुत लिखते हैं–

''अथास्मै पंचविषंतिवर्षाय षोडषवर्षां पत्नीमावहेत्।''(सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान)

अर्थात ''जब कुमार 25 वर्ष का हो जाये तो उसके लिये षोडश वर्षीय पत्नी विवाहित करके लाये। ''

इस प्रकार स्पष्ट है कि **शैषवास्था, बालावस्था और किशोरावस्था, कौमारभृत्य** के अन्तर्गत आती है।

पाठकों, आपकी जानकारी के लिये बता दें कि **सुश्रुत संहिता में कौमारभृत्य तंत्र** के कुछ विषयों का वर्णन सूत्रस्थान के साथ – साथ **''शरीर स्थान''** में भी किया गया है। निम्नलिखित कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है–

''कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम्।''

अर्थात (''कौमारभृत्य तंत्र का कुछ विषय का वर्णन शारीरस्थान में किया गया है।'')

अतः इससे स्पष्ट होता है कि **सुश्रुत संहिता** के **शारीर स्थान** में **प्रसूति तंत्र** के संबध में जो वर्णन किया गया है, वह सब कौमारभृत्य तंत्र के अन्तर्गत ही आता है।

इस प्रकार पाठकों, आप समझ गये होंगे कि कौमारभृत्य तंत्र केवल बाल रोग चिकित्सा मात्र नहीं है, वरन् कुमार के पालन – पोषण और बाल रोगों की चिकित्सा के अतिरिक्त इसमें प्रसूति तंत्र और स्त्री रोग चिकित्सा का समावेश भी किया गया है।

5.3.6 अगदतन्त्र (दंष्ट्रा – Toreicology)

पाठकों, आयुर्वेद के इस छठे अंग के लिये भिन्न – भिन्न आयुर्वेदाचार्यो ने अलग – अलग शब्दों का व्यवहार किया है। आचार्य **बाग्भट्ट ने इसे 'दंष्ट्राचिकित्सा''** का नाम दिया है तो महर्षि चरक ने इसे **''विशगरवैरोधिक प्रशमन''** कहा है और **आचार्य सुश्रुत** ने इसको **''अगदतन्त्र''** नाम से व्यवहृत किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे **''विषविज्ञान'' (Toreicology)** के रूप में जाना जाता है।

अगततंत्र के लक्षणों का विवेचन करते हुये **सुश्रुत संहिता में** कहा गया है–

''अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतावृष्चिकमूषकादिदष्टविषव्यंजनार्थ विविध–
विषसंयोगोपषमनार्थं च। '' (सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)

अर्थात

''सर्प, कीट, लूता, वृश्चिक, मूषक आदि के द्वारा डसे जाने पर उत्पन्न हुये विष के लक्षणों के ज्ञान के लिये तथा विभिन्न (स्वाभाविक) विषों, संयोगज विषों और गर विषों (कालान्तर में प्रकुपित होने वाले विषों) के लक्षणों के ज्ञान तथा उनके निवारण के लिये जिस शास्त्र मे उपदेश रहता है वह **'अगदतन्त्र'** कहलाता है।

पाठकों, वर्तमान समय में वैद्यों को अगदतंत्र के साथ – साथ **''न्यायवैधक''** या व्यवहारायुर्वेद **(Medical Jurisprudence)** का भी ज्ञान प्रदान किया जाता है। व्यवहारायुर्वेद में विष द्वारा स्व पर प्राणाघात फांसी या जल में डूब कर मर जाना, मृतक परीक्षण, शवच्छेदन, वैद्य की न्यायाधीश के समक्ष साक्षी इत्यादि विषयों का ज्ञान अपेक्षित है। अतः न्यायवैधक को भी अगदतन्त्र का विषय ही मानना चाहिये।

5.3.7 रसायन तंत्र (जरा Science Of Rejuvenation)-

पाठकों, शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर **''रसायन''** शब्द का अर्थ है– **रस–रक्तादि सप्त धातुओं की प्राप्ति।**

रस + अयन = रसायन

स – रक्तादि सप्त धातु इस प्रकार जो द्रव्य **रस–रक्त– माँस–मेद–अस्थि–मज्जा एवं षुक्र–** इन सप्त धातुओं को प्रशस्त करते हैं, वे **''रसायन''** कहलाते है।

रसायन तंत्र के स्वरूप का विवेचन करते हुये **महर्षि सुश्रुत** लिखते हैं–

''रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाकरं रोगापहरणसमर्थं च।''

(सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 1/8)

अर्थात ''वयः स्थापन (तरूणावस्था को यथोचित काल तक या उससे भी अधिक समय तक स्थापित करने वाला) आयु और बुद्धि को बढ़ाने वाला तथा रोगापहरण करने में समर्थ जो अंग या शास्त्र है वह **''रसायन तन्त्र''** कहलाता है।''

महर्षि सुश्रुत के उपर्युक्त सूत्र पर टिप्पणी करते हुये **आचार्य डल्हण** कहते हैं –

''वयःस्थापनं वर्षशतमायुःस्थापनम्। आयुष्करं शताधिकमपि करोति।
अन्ये तु वयस्थापनं जरापहरणम्, तारूण्यं बहुकालं स्थापयतीत्यर्थः।''

अर्थात ''वय स्थापन का तार्त्य है सौ वर्ष की आयु का स्थापन। आयुष्कर सौ वर्ष से भी अधिक आयुष्य को करता है। अन्य विद्वानों के अनुसार वयः स्थापन का तात्पर्य है वृद्धावस्था को नहीं आने देना, अर्थात् दीर्घकाल तक तारूण्य स्थापित करता है।''

रसायन के लाभ का वर्णन करते हुये **आचार्य चरक** कहते हैं –

'दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरूणं वयः।
प्रभावर्णस्वरोदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्।।
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्।''

(चरक संहिता, चिकित्सा स्थान 1/1/6)

''मनुष्य रसायन से दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरूणावस्था, प्रभा, वर्ण, स्वर की उदारता, शरीर और इन्दियों का उत्तम बल, वाणी की सिद्धि, प्रणति (लोगों की वन्दनीयता) और कान्ति को प्राप्त करता है।''

5.3.8 वाजीकरण तंत्र

आयुर्वेद का अन्तिम अंग वाजीकरण तंत्र है। इसका लक्षण प्रतिपादित करते हुये **सुश्रुत संहिता** में कहा गया है –

''वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणरेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं
प्रहर्षजननार्थं च।''

अर्थात अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य, शुष्कवीर्य लोगों में वीर्यपुष्टि, वीर्यशोधन वीर्यवृद्धि और वीर्योत्पादन के लिये तथा (स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय) हर्ष बढ़ाने के लिये जो अंग होता है उसे **'वाजीकरण तन्त्र'** कहते हैं।

''चिकित्सा स्थान'' में वाजीकरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुये **आचार्य सुश्रुत** लिखते हैं

''सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान्।
नारीस्तर्पयतो तेन वाजीकरणमुच्यते।। (सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान 26/6)

अर्थात ''यथोचित रूप में जिसका सेवन करने से अश्व की भाँति अत्यन्त वेगवान् होता हुआ जो स्त्री को सन्तुष्ट करता है उससे वह **'वाजीकरण'** कहलाता है।''

इसी सन्दर्भ में **आचार्य चरक** ने लिखा है –

''येन नारीषु सामर्थ्य वाजीवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्याधिकं येन वाजीकरणमेव तत्।।'' (चरक संहिता, चिकित्सा स्थान 2/4/51)

अर्थात ''जिसका प्रयोग करने से पुरूष अश्व के समान स्त्रियों में सामर्थ्य को प्राप्त करता है और वह अत्यधिक (बार – बार) समागम कर सकता है, वाजीकरण कहलाता है।

पाठकों, कालान्तर में यह वाजीकरण तंत्र **''कामशास्त्र''** के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस विषय पर **वात्स्यायन का कामसूत्र** नामक ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध है। कामशास्त्र में वाजीकरण नामक इस अंग का उल्लेख **''औपनिषदिक''** नाम से मिलता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से आप समझ गये होंगे कि किस प्रकार आयुर्वेद का आठ अंगों में विभाजन हुआ और प्रत्येक अंग की विषय वस्तु क्या है।

अभ्यासार्थ प्रश्न–

सत्य / असत्य

1. आयुर्वेद का आठ अंगों में विभाजन वैदिक काल में हुआ था। **(सत्य/असत्य)**
2. अगदतंत्र में बाल रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। **(सत्य/असत्य)**
3. शालाक्य तंत्र में नेत्र, कर्ण, मुख, नासिका आदि अंगों में उत्पन्न होने वाले रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा का विवेचन है। **(सत्य/असत्य)**
4. स्त्री रोग चिकित्सा का संबध आयुर्वेद के भूतविद्या तंत्र से है। **(सत्य/असत्य)**
5. जठराग्नि से संबधित रोगों की चिकित्सा काय चिकित्सा तंत्र में वर्णित है। **(सत्य/असत्य)**

5.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों, उपरोक्त विवरण से आप जान गये होंगे कि आयुर्वेद केवल एक **चिकित्साशास्त्र** ही नहीं वरन् **शाष्वत जीवन विज्ञान** है। इसमें जीवन के प्रत्येक पहलू पर अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है और उनसे संबधित विविध समस्याओं के निदान एवं समाधान भी प्रस्तुत किये गये हैं।

जहाँ तक आयुर्वेद के आठ अंगों में विभाजन की बात है तो इस संबध में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि विभाजन का यह कार्य वैदिक काल के बाद ही हुआ है क्योंकि वैदिक वाड्.मय में आयुर्वेद के सभी अंगों से सम्बद्ध विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है, किन्तु पृथक – पृथक अंग के रूप उनका वर्णन नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि यह विभाजन वैदिक काल के बाद का है।

इस प्रकार आठ शाखाओं (**शल्य तंत्र, शालाक्य तंत्र, काय चिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन तंत्र और वाजीकरण तंत्र)** के रूप में आयुर्वेद में मानव जीवन से संबधित सभी विषयों का अत्यन्त व्यापक एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

5.5 शब्दावली

व्रण – घाव

शाष्वत – नित्य, जिसका कभी नाश न हो।

ग्रीवा – गर्दन

पुरातन – प्राचीन

कोप – क्रोध

विद्योपार्जन – विद्या प्राप्ति

लूता – मकड़ी

भूताग्नि – आयुर्वेद में पंच महाभूतों के आधार पर पाँच भूताग्नियाँ बताई गई हैं। इनके नाम निम्नानुसार हैं–

1. **नाभसाग्नि** (आकाश तत्व से संबधित)
2. **वायवग्नि** (वायु तत्व से संबधित)
3. **तेजोऽग्नि** (अग्नि तत्व से संबधित)
4. **आप्याग्नि** (जल तत्व से संबधित)
5. **पार्थिवाग्नि** (पृथ्वी तत्व से संबधित)

धात्वाग्नि_–आयुर्वेद के अनुसार धातुएँ सात हैं और इन्हीं सप्त धातुओं के अनुसार हमारे शरीर में सात प्रकार की अग्नियाँ भी पायी जाती है, जो निम्न हैं –

1. **रस अग्नि**
2. **रक्त अग्नि**
3. **माँस अग्नि**
4. **मेद अग्नि**
5. **अस्थि अग्नि**
6. **मज्जा अग्नि**

7. **शुक्र अग्नि**

5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. असत्य 2 असत्य 3 सत्य 4 असत्य 5 सत्य

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. त्रिपाठी, रविदत्त। (2005) अष्टांग संग्रह (सूत्र स्थान), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहरनगर, दिल्ली।
2. जैन, राजकुमार। (2011), आयुर्वेद परिचय , चौखम्बा ओटियन्टालिया, दिल्ली।

5.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास (2005) आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखंभा ओरियन्टालिया, वाराणसी।
2. योग और आयुर्वेद (2011) आचार्य राजकुमार जैन, चौखंभा ओटियन्टालिया, दिल्ली।

5.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद के अष्टांग विभाजन पर प्रकाश डालिये।

इकाई–6 –अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद–सारूप्य विवेचन

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद सारूप्य विवेचन
6.4 सारांश
6.5 शब्दावली
6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.9 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 – प्रस्तावना

प्रिय पाठको इससे पूर्व की इकाइयों में आपने अष्टांग योग, अष्टांग आयुर्वेद, योग एवं आयुर्वेद का संबंध इत्यादि के विषय में विस्तृत अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है– अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद **सामाप्य** विवेचन। अर्थात–योग के आठ अंगो, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि एवं आयुर्वेद के आठ अंगों–शल्यतंड, शालाक्य तंत्र, काय चिकित्सा, भूत विद्या तंत्रा, कौमारभृत्य, अगद तन्त्र, रसायन तंत्रा, एवं वाजीकरण तंत्र में क्या–क्या समानतायें है।

पाठकों, आप इस तथ्य से भली–भाँति परिचित हो चुके हैं कि योग एवं आयुर्वेद ज्ञान की ये दोनों शाखायें हमारे जीवन से अत्यन्त गहरे रूप में जुड़ी हैं तथा दोनों विषय परस्पर पूरक है, क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य प्राणियों का कल्याण करना है।

तो आइये, अब हम अध्ययन करते हैं अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद के **सामाप्य** के विषय में।

6.2 – उद्देश्य–

प्रिय विद्यार्थियों प्रस्तुत ईकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद में क्या समानतायें है, इसे स्पष्ट कर सकेंगे।
- अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद में क्या असमानतायें है, इसे स्पष्ट कर सकेंगे।

6.3– अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद **सारूप्य** विवेचन–

जिज्ञासु पाठकों, आप जानते हैं कि महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग बताये हैं जो निम्नानुसार है–

1. यम
2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि

इन आठ अंगों का उल्लेख करते हुये **पातंजलयोगसूत्र** के **साधनपाद** में कहा गया है–

''यमनियमासन्प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्योऽष्टावंगानि।''

(पातंजल योगसूत्र/साधनपाद/29)

अर्थात–''यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि योग में विवेक ज्ञान की प्राप्ति हेतु अष्टांग योग का प्रतिपादन किया गया है।

पाठको, आप इस तथ्य से सुपरिचित हो चुके हैं कि जब तक आयुर्वेद का ज्ञान देवलोक तक सीमित रहा, तब तक इसका विभाजन नहीं हुआ, किन्तु जब पृथ्वीलोक पर आयुर्वेद का अवतरण हुआ और कुछ महर्षिगण जब आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए देवराज इन्द्र के पास पहुँचे तो इन्द्र ने मनुष्यों की अल्पमेधाशक्ति और अल्पायु को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद का आठ अंगों में विभाजन किया और प्रत्येक ऋषि को अलग–अलग आयुर्वेद के एक–एक अंग का उपदेश दिया।

आयुर्वेद के ये आठ अंग निम्नानुसार है–

1. शल्यतन्त्र
2. शालाक्य तंत्र
3. काय चिकित्सा
4. भूतविद्या
5. कौमारयृत्य
6. अगदतंत्र
7. रसायन तंत्र
8. वाजीकरण तंत्र

पाठकों, अब चर्चा करते हैं, योग एवं आयुर्वेद के इन आठ अंगों में समानता और असमानता की।

(1) यम –अष्टांग योग का प्रथम अंग है–यम। जो सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यक्ति किस प्रकार समाज में समायोजन स्थापित करते हुए एक अच्छे नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत कर सकता है, इस दृष्टिकोण से यम की अत्यधिक उपादेयता है। योग के समान आयुर्वेद में भी यम की महत्ता को स्वीकार किया गया है, तथा सद्वृत्त एवं आचार रसायन के अन्तर्गत इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

पाठकों, जैसा कि आप जानते हैं कि महर्षि पतंजलि ने यम के पांच भेद किये हैं–

''अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'' (पातंजल योगसूत्र/साधनपाद/30)

अर्थात्–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं।

अहिंसा– यम में प्रथम स्थान अहिंसा का है। प्रिय विद्यार्थियों, मन, वचन एवं शरीर से किसी भी प्राणी की हिंसा न करना अर्थात् उसे दुःख न देना और दूसरों में दोष न देखना अहिंसा है। योग में अहिंसा की महत्ता को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। अहिंसा के महत्व का विवेचन करते हुये महर्षि पतंजलि ने कहा है–

''अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'' (पातंजल योगसूत्र/साधनपाद/35)

अर्थात्– अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकट सब प्राणी वैर का त्याग कर देते है।

कहने का आशय यह है कि जो प्राणी सर्वदा सर्वत्र अहिंसा का पालन करता है, उस प्राणी के प्रति किसी के भी मन में शत्रुभाव, द्वेष भाव नहीं रहता। अर्थात्–सभी उसके मित्रा बन जाते हैं। पाठकों, इतिहास के ग्रन्थों पर हम एक नजर डालें तो ज्ञात होता है कि जहाँ कहीं ऋषि–मुनियों के आश्रम का वर्णन है। जैसे वाल्मीकि आश्रम, अगस्त्य आश्रम उनमें हिंसक जीवों के स्वाभाविक वैर का अभाव दिखलाया गया है। यह उन महान् ऋषियों के अहिंसा भाव में प्रतिष्ठित होने का ही परिणाम है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचरण शुद्धि के लिये अहिंसा का पालन करना अत्यावश्यक है।

योग के समान आयुर्वेद में भी हिंसा को त्यागने की बात कहीं गयी है।

आयुर्वेदाचार्यों के अनुसार हिंसा तम का प्रतीक हैं। तथा इसे पापकर्म कहकर त्यागने का निर्देश दिया गया है। आयुर्वेद में अहिंसा का वर्णन सद्वृप्त एवं आचार रसायन के अन्तर्गत किया गया है।

सत्य– पाठकों, मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिये सत्य का पालन करना अति आवश्यक है। विद्वानों ने सत्य को वाणी का आभूषण बतलाया है। सत्य का पालन करने से एक ओर वाणी में आकर्षण शक्ति पैदा होती है तो दूसरी ओर मन भी निर्मल होता चला जाता है, किन्तु पाठकें, सत्यपालन के सन्दर्भ में इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि सत्यवचन ऐसे हों, जिनसे किसी का अहित न हो, जो किसी को कष्ट न पहुँचाये। ऐसे सत्यवचन ही कल्याणकारी माने गये है। इसलिये शास्त्रों में कहा गया है–

'' सत्यं ब्रूचात्प्रियं ब्रूचात् मा ब्रूचात्सत्यम प्रियम्।।''

अर्थात–''ऐसे सत्यवचन कहने चाहिये जो प्रिय हो अर्थात् जिनसे दूसरों का हित या कल्याण हो, अप्रिय (क्लेशकारी) सत्य वचन नहीं बोलने चाहिये।''

सत्य का पालन करने वाले साधक की वाणी में अद्भुत शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुये महर्षि पतंजलि ने कहा है–

''सत्यप्रतिष्ठायांक्रियापफलाश्रचत्वम्।।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/36)

अर्थात–''सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर योगी में क्रियापफल के आश्रय का भाव आ जाता है।''

कहने का आशय यह है कि सत्य का पालन करने वाले योगी में उस कर्म का पफल प्रदान करने की शक्ति भी आ जाती है, जो कर्म किसी प्राणी ने नहीं किया है। अर्थात् वह योगी जिस प्राणी को जो भी आशीर्वाद या शाप देते हैं, वह फलित होने लगता है।

चित्तशुद्धि हेतु योग के समान आयुर्वेद में भी सत्य का पालन करने पर बल दिया गया है। आयुर्वेद में आचाररसायन के अन्तर्गत सर्वप्रथम सत्यवादिनम् ही कहा गया है तथा सद्वृत्त में मिथ्या भाषण के लिये मना किया गया है।

''नानृतब्रूचात्.....।'' (चरकसूत्रस्थान/8:19)

अर्थात्–''असत्य नहीं बोलना चाहिये।''

अस्तेय– आचरण शुद्धि हेतु अस्तेय का पालन भी अनिवार्य है। अस्तेय का अर्थ होता है–चोरी न करना। जब व्यक्ति स्वार्थ एवं लोभ से ग्रसित होता है तो वह दूसरों की वस्तुयें प्राप्त करने के लिये प्रेरित होता है अर्थात् चोरी करने का प्रयास करता है। अतः मन को निर्मल बनाने के लिये व्यक्ति को निरन्तर अस्तेय का पालन करना चाहिये तथा आत्मसंतोष के साथ जीवन व्यतीत् करते हुये ईश्वर ने हमें जो कुछ प्रदान किया है, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहिए।

पाठको, अस्तेय का पालन न केवल कर्म या शरीर से वरन् इसके साथ–साथ मन एवं वाणी से भी होना चाहिये। अर्थात् मन में भी और वाणी में भी दूसरे प्राणियों की वस्तुओं को चुराने का भाव नहीं होना चाहिये। अस्तेय के फल का विवेचन करते हुये पातंजल योगसूत्र में कहा गया है–

''अस्तेयप्रतिष्ठायांसर्वरत्नोपस्थानम्।''

(पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/37)

अर्थात्–अस्तेय की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के सामने सभी प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं।''

आयुर्वेदाचार्य **वाग्भट्ट** ने स्तेय को दस प्रकार के पाषकर्मों के अन्तर्गत बताया है तथा मन, वचन, कर्म से इसे त्यागने के लिये कहा है।

ब्रह्मचर्य– पाठको, ब्रह्मचर्य का पालन मानव जीवन का प्रधान अंग है।

''ब्रह्मचर्य परं तपः।''

अर्थात्–''ब्रह्मचर्य प्ररम तप है।''

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है– ब्रह्म अर्थात् परमात्मस्वरूप अपनी आत्मा में रमण करने वाला। साधना की सफलता हेतु ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य माना गया है।

ब्रह्मचर्य के फल का विवेचन करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायांवीर्यलाभः।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/38)

अर्थात्– ''ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा होने पर सामर्थ्यलाभ होता है।''

आयुर्वेद में जीवन के तीन उपस्तंभ बताये गये है, जिनमें से ब्रह्मचर्य भी एक है।

आचार रसायन में मद्य एवं मैथुन से दूर रहने के लिये कहा गया है। आचार्य चरक के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने से ज्वर से छुटकारा मिलता है–

''ब्रह्मचर्येण ज्वरात् प्रमुच्चते।'' (चरक संहिता)

इस प्रकार स्पष्ट है कि योग और आयुर्वेद दोनों में ही ब्रह्मचर्य की महत्ता को स्वीकार किया गया है।

अपरिग्रह– पाठकों, जैसा कि आप जानते है कि अपरिग्रह का तात्पर्य है, संचय की वृत्ति का त्याग करना। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि इन्द्रियगम्य समस्त पदार्थों में अनासक्ति रखना ही अपरिग्रह है। अपने गहरे अर्थ में अपरिग्रह का अर्थ है– ''किसी भी प्रकार के कर्मसंस्कारों को संचित न करना।'' व्यक्ति की परिग्रह की वृत्ति ही यह दर्शाती है कि उसे इस संसार में बने रहना है, उसे संसार से मुक्ति नहीं चाहिये। अतः जो मुमुक्षु हैं, उन्हें अपरिग्रह का पालन अवश्य करना चाहिये।

अपरिग्रह के फल का विवेचन करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''अपरिग्रह थैर्ये जन्मकथन्नासंबोधः।''

अर्थात '' अपरिग्रह में प्रतिष्ठा होने पर योगी को अपने पूर्वजन्मों की और वर्तमान जन्म की सब बाते मालूम हो जाती है।''

योग के समान आयुर्वेद में भी सद्वृत्त विवेचन के अन्तर्गत लोभ, मोह न करने तथा दान देने के लिये कहा गया है।

पाठकों, उपरोक्त विवरण के आधार पर आप जान गये होंगे कि योग में जिन पाँच यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का वर्णन किया गया है, उन पाँ यमों का आयुर्वेद में भी सद्वृत्त एवं आचार रसायन के अन्तर्गत उसी रूप में वर्णन किया गया है।

यम के बाद अब हम अध्ययन करते हैं–नियम के बारे में।

(2) नियम– पाठकों, जैसा कि आपको ज्ञात है अष्टांग योग में यम के बाद अगला क्रम नियमों का है। यम की भाँति महर्षि पतंजलि ने नियम भी पाँच बताये हैं, जो निम्नानुसार हैं–

''शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः।''

(पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/32)

अर्थात्– ''शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये पाँच नियम है।''

मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधकों के लिये यमों की भाँति नियमों का पालन करना भी अत्यावश्यक है। यम जहाँ प्राणी की बाह्य प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते है, वहाँ नियम मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करके उसके भीतर आत्मानुशासन का विकास करते है। अतः उत्कृष्ट व्यक्तित्व हेतु यम और नियम दोनों का पालन करना अनिवार्य है।

यम के समान नियमों का वर्णन भी आयुर्वेद में सद्वृत्त एवं आचाररसायन के अन्तर्गत किया गया है, नियमों को क्रमशः विवेचन निम्नानुसार है–

शौच– शौच का शाब्दिक अर्थ है–'पवित्रता'। यह पवित्रता बाह्य एवं आन्तरिक दोनों दृष्टियों से होनी चाहिये। बाह्य शुद्धि का अर्थ है कि हम शारीरिक दृष्टि से शुद्ध हों और आन्तरिक शुद्धि का तात्पर्य है कि हमारा मन निर्मल हो, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या इत्यादि मनोविकारों से रहित हो। बाह्य शुद्धि का फल बताते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''शौचात्स्वाङ्कुगुत्सापरैरसंसर्गः।।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/40)

अर्थात्–''शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।''

आन्तरिक शुद्धि का फल बताते हुये कहा गया है–

''सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनम् योग्यत्वानि च।''

अर्थात्–''इसके अतिरिक्त अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता चित्त की एकांगता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता ये पाँचों भी होते है।''

योग के समान आयुर्वेद में भी शौच का वर्णन किया गया है। आयुर्वेदाचार्य महर्षि चरक ने उत्तमवैद्य के चार गुणों में शौच को एक मुख्य गुण माना है। योग में जिसे बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि कहा गया है, आयुर्वेद में उसे ही कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुद्धि की संज्ञा दी गई है। आयुर्वेद में शारीरिक शुद्धि हेतु स्नान, अंग–प्रक्षालन, दन्तधावन इत्यादि कर्मों का उल्लेख किया गया है।

संतोष– नियमों में दूसरा स्थान संतोष का है। जीवन में सुखी रहने का सर्वोत्तम उपाय संतोष ही है। क्योंकि कामनायें तो अनन्त है और उनकी पूरी तरह पूर्ति संभव नहीं है। संतोष का भाव अपनाकर ही व्यक्ति जीवन में प्रसन्न और आनंदित रह सकता है। इसलिये महर्षि पतंजलि ने कहा है–

''संतोषादनुप्तमसुखलाभः।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/42)

अर्थात्–''संतोष से, जिससे उत्तम कोई दूसरा सुख नहीं है, ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।''

आयुर्वेद में भी संतोष की महत्ता को स्वीकार करते हुये लोभ को कष्ट उत्पन्न करने वालों में श्रेष्ठ कहा गया है।

''लौत्यंक्लेशकाराणां श्रेष्ठम्।'' (चरकसूत्र स्थान/25)

दुख का कारण होने से ही आयुर्वेदाचार्यों ने लोभ को धारणीय वेगों की श्रेणी में रखा है।

तप– मानव जीवन में तप का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तप के पालन से व्यक्तित्व में ऐसी प्रखरता और आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलना सामान्य मनुष्य से नहीं की जा सकती।

पाठकों, आप सोच रहे होंगे की आखिर तपस्वी कैसा होता है? उसकी जीवनशौली किस प्रकार की होती है? वस्तुतः ईश्वर परायण जीवन जीते हुये उसमें जो भी कष्ट–कठिनाइयाँ आये, उनको सहर्ष सहन करना तप है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ईश्वरपारायण जीवन जीना ही तप है। तपस्वी जीवन जीने के क्या परिणाम होते है? इसका वर्णन करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्विक्षयात्तपसः।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/43)

अर्थात्–'तप के प्रभाव से अशुद्धियों के नष्ट होने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है।''

आयुर्वेद में भी तप का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि प्रतिदिन जप, शौच, दान तथा तपस्या करनी चाहिये एवं देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य तथा गुरु की सेवा में संलग्न रहना चाहिये।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार दिन में तीन बार गायत्री मंत्र का जप करना चाहिये।

''गायत्री त्रिपदा जपते।'' (आचार्य सुश्रुत)

स्वाध्याय– विचार तंत्र की विकृतियों को दूर करने के लिये स्वाध्याय एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। सद्विचारों या सद्ग्रन्थों के प्रकाश में आत्मानुसंधान की प्रक्रिया ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय केवल कुछ विचारों का अध्ययन करने का नाम स्वाध्याय नहीं

है, वरन् उन विचारों के आलोक में आत्ममूल्यांकन करना और उन विचारों के अनुसार जीवन जीने का नाम स्वाध्याय है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वाध्याय एक प्रकार से अपने इष्ट का सतत् स्मरण करना है; जो हमारे भीतर प्रज्ञा को आलोकित करते है। साधना के लिये वैचारिक अवलम्ब प्रदान करने का कार्य स्वाध्याय द्वारा ही होता है। महर्षि पतंजलि ने न केवल अष्टांग योग में अपित1 क्रियायोग के दूसरे अंग के रूप में भी स्वाध्याय की महत्ता को स्वीकार किया है। स्वाध्याय पालन के कितने अद्भुत परिणाम प्राप्त होते है, इसको स्पष्ट करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/44)

अर्थात्– ''स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।''

आयुर्वेद में भी स्वाध्याय को दिनचर्या का एक महत्वपूर्ण भाग बतलाकर प्रातःकाल, दोपहर एवं रात्रि में स्वाध्याय करने का निर्देश दिया गया है।

ईश्वरप्रणिधान– नियमों में अन्तिम पाँचवाँ अंग ईश्वरप्रणिधान है। स्वाध्याय जहाँ साधना के लिये वैचारिक अवलम्ब प्रदान करता है। वहीं ईश्वर प्रणिधान भावनात्मक अवलम्ब देता है। यह हमारी श्रद्धा का स्रोत है। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का नाम ही ईश्वरप्रणिधान है।

ईश्वरशरणागति का भाव इतना अधिक प्रभावशाली है कि इससे सीधे समाधि की प्राप्ति संभव है।

''समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/45)

अर्थात्–''ईश्वर प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति होती है।''

आयुर्वेद में भी दैवत्यपाश्रय चिकित्सा का आधार ईश्वरप्रणिधान ही है। अतः आयुर्वेद में मानसिक रोगों की चिकित्सा हेतु ईश्वर का ध्यान, पूजा–पाठ करने का निर्देश दिया गया है। ज्वर आदि की चिकित्सा के लिये विष्णुसहस्रनाम के जप आदि का विधान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मानुशासन के लिये योग एवं आयुर्वेद दोनों में ही नियमों के महत्व को समान रूप से स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार पाठकों, आप समझ गये होंगे कि जिस प्रकार योगशास्त्रा में यम–नियम द्वारा आचरण शुद्धि पर विशेष रूप से बल दिया गया है, उसी प्रकार आयुर्वेदशास्त्रा में भी सद्वृत्त एवं आचाररसायन के रूप में इन यम–नियम की महिमा का ही गुणगान किया गया है और इनके द्वारा सदाचरण एवं सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। इस सन्दर्भ में महर्षि चरक ने कहा है–

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्त मद्यमैथुनात्।
अहिंसाकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।।
जपशौचपरं धीयं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगौब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।।
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं कारुण्यवेदिनम्।
समजागरणस्वत्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्।।
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनंहंकृतम्।
शस्त्राचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्।।
उपासितारं वृद्धानामास्तिकाना जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रापरं विद्यान्नरंनित्यंरसायनम्।। (चरक संहिता, चिकित्सास्थान/1/4/30–34)

अर्थात्– ''सत्य बोलने वाले, क्रोध न करने वाले, मद्यू सेवन एवं मैथुन से दूर रहने वाले, हिंसा नहीं करने वाले, श्रम न करने वाले, शान्त रहने वाले, प्रिय बोलने वाले, जप एवं पवित्रता में तत्पर, धैर्य धारण करने वाले, नित्य दान करने वाले, तपस्वी, देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु और वृद्धजनों की पूजा में तत्पर रहने वाले, सदैव क्रूरता से दूर रहने वाले, सदैव करुणापूर्ण हृदय वाले, यथोचित समय तक जागृत रहने और यथासमय शयन करने वाले, देश, काल और प्रमाण को जानने वाले, युक्तिपूर्वक कार्य करने वाले, अहंकार रहित, उत्तम आचार–विचार वाले, संकीर्णता से रहित, अध्यात्मविद्या में प्रवण, वृद्धजन, आस्तिक और धितात्म पुरुषों की सेवा करने वाले, धर्मशास्त्रों के अध्ययन–चिन्तन,मनन, अनुशीलन में तत्पर रहने वाले मनुष्य को सदैव रसायन से युक्त

समझना चाहिए अर्थात् सद्गुणों से युक्त मनुष्य यदि रसायन का सेवन नहीं भी करता है, तब भी उसे रसायन के सभी गुण प्राप्त होते हैं।''

आसन– प्रिय पाठकों, जैसा कि आपको ज्ञात है कि अष्टांग योग में यम, नियम के बाद तृतीय अंग के रूप में आसन का वर्णन किया गया है। न केवल महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में अपितु हठयोग तथा उपनिषदों जैसे कि ध्यानबिन्दूपनिषद्, योगचूड़ामणिउपनिषद्, अमृतनादोपनिषद् आदि में भी आसन की महत्ता को स्वीकार किया गया है। आसन को परिभाषित करते हुये पातंजल योगसूत्र में कहा गया है–

''स्थिरसुखमासनम्।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/46)

अर्थात्–''स्थिर और सुखपूर्वक बैठना आसन है।''

पाठकों, महर्षि पतंजलि के द्वारा दी गई आसन की उपर्युक्त परिभाषा अत्यन्त मौलिक एवं गूढ़ है। इस परिभाषा के द्वारा उन्होंने आसनों की जटिलता के स्थान पर सहजता का चयन किया है, क्योंकि उनका प्रधान उद्देश्य प्राणी की चेतना का उर्ध्वगमन करके उसे भगवान् से लयबद्ध करना है। इसलिये उन्होंने हठयोग के समान विभिन्न प्रकार के आसनों का वर्णन नहीं किया, वरन् साधक जिस आसन में स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बैठ सके, शरीर से अपना ध्यान हटाकर मानसिक रूप से अधिकाधिक एकाग्र हो सके, वही आसन उसके लिये सर्वाधिक उपयुक्त है। चाहे वह सुखासन हो या अन्य कोई आसन। आसन का प्रधान उद्देश्य शरीर को सुदृढ़ एवं स्थिर बनाना है, जिससे कि शरीर के कारण साधना में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो और मन एकाग्र हो सके। आसन की इसी महत्ता का वर्णन करते हुये महर्षि पतंजलि ने कहा है–

''ततोद्वन्द्वानभिघाप्तः।'' (पातंजलयोगसूत्र/साधनपाद/48)

अर्थात्–''उस आसन की सिद्धि से द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता अर्थात् आसन के सिद्ध होने पर (शरीर के लिए होने से) शरीर सर्दी–गर्मी की और मन सुख–दुःख की पीड़ा से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आसन के नियमित अभ्यास से देह में स्थित प्राण संतुलित होता है और शरीर तथा मन दोनों स्वस्थ रहते हैं।

पाठकों, यद्यपि आयुर्वेद में आसनों का वर्णन उस रूप में नहीं किया गया है, जिस रूप में हठयोग में है, किन्तु आयुर्वेद में स्थिरता एवं सुखपूर्वक बैठने की अनेक अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद में कहा गया है कि समतल पवित्र स्थान में एकाग्र मन से बैठकर अपने एवं दूसरों के दोष को समझने का प्रयास करना चाहिये–

''समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनः पुरः सराभिर्वाग्भिः। (चरक संहिता)

इसके अतिरिक्त सद्वृत्त एवं आचार रसायन के अन्तर्गत अनेक ऐसी शारीरिक स्थितियों का उल्लेख मिलता है जिनमें अधिक देर तक न बैठने का निर्देश दिया गया है। जैसे कि घुटनों को ऊपर उठाकर देर तक न बैठना, शरीर को टेढ़ा करके भोजन, शयन इत्यादि न करना।

प्रिय विद्यार्थियों, जैसा कि आप जानते है, आयुर्वेद में स्वस्थ रहने के लिये स्वस्थ वृत्त एवं सद्वृत्त के पालन का निर्देश दिया गया है और स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का वर्णन किया गया है। दिनचर्या में प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में जागने से लेक सायंकाल तक की दैनिक गतिविधियों का उल्लेख है। प्रातःकाल के कार्यों में उषापान, मालिश, स्नान आदि के साथ–साथ अपनी क्षमतानुसार व्यायाम करने का निर्देश भी दिया गया हैं

व्यायाम से भी शरीर सुगठित, सुन्दर बनता है तथा रोगों से दूर रहता है। अतः कुछ हद तक व्यायाम से भी वही कार्य सम्पन्न होता है, जो आसनों से सम्पादित होता है। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि व्यायाम और आसन बिल्कुल समान है, किन्तु व्यायाम की तुलना में आसनों की महत्ता और उपयोगिता कहीं ज्यादा है, तथापि स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से दोनों को समान माना जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयुर्वेद में आसनों का वर्णन विभिन्न स्थलों पर विभिन्न रूपों में किया गया है।

प्राणायाम– प्रिय विद्यार्थियों, यम, नियम और आसन के बाद अष्टांग योग के चतुर्थ अंग के रूप में प्राणायाम का वर्णन मिलता है। प्राणायाम विश्वव्यापी ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से सम्पर्क स्थापित करने की वैज्ञानिक विद्या है। प्राणायाम का वर्णन करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदःप्राणायामः।' (पातंजलयोगसूत्र 2/49)

अर्थात्– ''श्वास–प्रश्वास की गति का विच्छेद होना प्राणायाम कहलाता हैं''

प्राणायाम से न केवल दीर्घायु की प्राप्ति होती है, वरन् इससे अज्ञान नष्ट होकर मानसिक एकाग्रता में वृद्धि होती है। प्राणायाम के महत्व का विवेचन करते हुए महर्षिपतंजलिकहते हैं–

'ततःक्षीचतेप्रकाशवरणम्।'' (पातंजलयोगसूत्र 2/52)

''धारणायुयोग्यतामनसः।'' (पातंजलयोगसूत्र 2/53)

अर्थात्– ''और मन की धारणा में योग्या हो जाती है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राणायाम के माध्यम से वायु का निरोध होने पर दीर्घायु के साथ–साथ मन की चंचलता पर नियंत्रण स्थापित होता है।

जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है–

''चलेवाते चलं चिप्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधचेत्।।

अर्थात्–''वायु के चलायमान होने पर मन भी चंचल रहता है और वायु के निश्चल रहने पर मन भी निश्चल हो जाता है। तब योगी स्थिरता को प्राप्त करता है। अतः वायु को वश में करना चाहिये।

इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा वायु पर नियंत्रण के महत्व को स्पष्ट किया गया है।

जिज्ञासु विद्यार्थियों, आयुर्वेद में भी वायु के महत्व को स्वीकार किया गया है और वायु को आयु कहा गया है। शरीर में होने वाली समस्त क्रियाओं, इन्द्रियों और मन का नियंत्रणकर्त्ता वायु को ही माना गया है। इसी का उल्लेख करते हुये चरक संहिता में कहा गया है–

'' वायु यत्र–तत्र को धारण करने वाली प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान ये आत्मा के रूप में और यही शरीर की सम्पूर्ण चेष्टाओं का नियंत्रण एवं प्रणयन करती हैं। सभी इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त करने वाली यही है।''

आयुर्वेद के अनुसार शरीर की स्वस्थ अवस्था में कारणभूत त्रिदोषों की साम्यता एवं रोगावस्था में कारण भूत दोषवैषम्य में वायु ही प्रधान है। वायु के कारण ही पित्त एवं कफ सत्यि रहते हैं। वायु के बिना इन दोनों में कोई गति नहीं होती। ये निष्क्रिय बने रहते हैं। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार वायु के द्वारा बादल चलायमान होते है, ठीक उसी प्रकार शरीर में दोष, धातु और मल भी वायु के माध्यम से गतिशील होते हैं। इसके अतिरिक्त भी आयुर्वेद में अनेक स्थानों पर वायु की महत्ता को बलाया गया है। शरीर को निरोग बनाये रखने के लिये वायु की साम्यावस्था अति आवश्यक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि योग एवं आयुर्वेद दोनों में ही प्राणवायु के महत्व को अंगीकार किया गया है।

प्रत्याहार– पाठको, जैसा कि आपको ज्ञात है कि अष्टांग योग के पंचम् अंग के रूप में प्रत्याहार का वर्णन किया गया है। प्रत्याहार बहिरंग योग और अन्तरंग योग के बीच की कड़ी है। प्रत्याहार के बाद क्रमशः धारणा, ध्यान एवं समाधि के रूप में अन्तरंग योग का प्रारंभ होता है।

प्रत्याहार का तात्पर्य है, इन्द्रियों की शक्तियों का अपने स्रोत में वापस लौट आना अर्थात–इन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को सब ओर से समेटकर मन में विलीन करने के अभ्यास को 'प्रत्याहार' करते है। प्रत्याहार को परिभाषित करते हुये कहा गया है–

''स्वविषयासम्प्रयोगेचित्तस्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणांप्रत्याहारः।''(योगसूत्र 2/54)

अर्थात–''अपने विषयों के संबंध से रहित होने पर जो चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना है, वह प्रत्याहार है।''

कहने का आशय है कि प्रत्याहार वह अभ्यास या साधना है, जिससे इन्द्रियाँ साधक के वश में हो जाती है। प्रत्याहार के फल का वर्णन करते हुये कहा गया है–

''ततःपरमवश्यतेन्द्रिपाणाम्।' (योगसूत्र)

अर्थात–''उस अर्थात्–प्रत्याहार से इन्द्रियों की परमवश्यता हो जाती है। अर्थात् प्रत्याहार की सिद्धि से साधक जितेन्द्रिय बन जाता है।''

पाठको, यद्यपि आयुर्वेद में प्रत्याहार का वर्णन उस रूप में नहीं किया गया है, जिस रूप में योग में मिलता है, किन्तु आयुर्वेद में भी मन के कर्म का उल्लेख करते समय बताया गया है कि इन्द्रियों को संचालित करना तथा स्वयं को अहित कर विषयों में संलग्न होने से रोकना मन के कार्य हैं।

''इन्द्रियाभिग्रहःकर्ममनसःस्वस्य निग्रहः (चरकसंहिता/शरीरस्थान/1:21)

इसके साथ–साथ मन तथा सभी इन्द्रियों को स्वस्थ रखने का निर्देश दिया गया है। साम्य इन्द्रियार्थसंयोग द्वारा बुद्धि से ठीक प्रकार से विचार करके कार्यों को सही ढंग से करना, स्थान, समय और आत्मा के विपरीत गुणों का सेवन न करना एवं इन्द्रिय विषयों का अतियोग, मिथ्यायोग और अयोग न करना तथा प्रज्ञापराध न करना इत्यादि कहा गया है। ये सभी प्रत्याहार के ही रूप है।

इस प्रकार योग के समान आयुर्वेद में भी इन्द्रियसंयम के रूप में प्रत्याहार के महत्व को स्वीकार किया गया है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि–

अष्टांग योग में प्रत्याहार के बाद क्रमशः छठवे, सातवे और आठवें अंग के रूप में धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया गया है। ये तीनों क्रमशः उच्चतर स्थितियाँ हैं, अर्थात् धारणा के नियमित एवं दीर्घकालीन अभ्यास से स्वतः ध्यान लग जाता है और अन्ततः यही ध्यान साधक को समाधि की ओर लेकर जाता है। धारणा को स्पष्ट करते हुये महर्षि पतंजलि कहते हैं–

''देशबन्धश्चित्तस्यधारणा'' (योगसूत्र/विभूतिपाद/1)

अर्थात्– बाहर या शरीर के भीतर कही भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है।'' ध्यान को परिभाषित करते हुये कहा गया है–

''तत्राप्रत्ययैकतानताध्यानम्'' (योगसूत्र विभूतिपाद/2)

अर्थात्–जहाँ चित्त को लगाया जाये, उसी में वृहत्त का एकतार चलना ध्यान है।

समाधि के स्वरूप का उल्लेख करते हुये कहते हैं–

'तदेवार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिषसमाधिः'

(पातंजलयोगसूत्र/विभूतिपाद/3)

अर्थात्–जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वही ध्यान ही समाधि हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि धारणा, एकाग्रता है, ध्यान तल्लीनता है और समाधि एकात्मता है।

प्रिय पाठकों, आयुर्वेद में मानस दोष चिकित्सा प्रकरण में धारणा, ध्यान एवं समाधि का विवेचन किया गया है। धारणा तथा ध्यान का धी, धृति एवं आत्मा में मन को लगाने के रूप में वर्णन मिलता है तथा समाधि का उसी शब्द से उसी रूप में वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त योग में जिस प्रकार विभूतियों के रूप में अष्टसिद्धियों का वर्णन है, उसी प्रकार आयुर्वेद में भी आठ प्रकार के ऐश्वर्यों का विवेचन किया गया है और इन्हें योगी की स्वाभाविक शक्ति कहा गया है, जो सामान्यजन में नहीं होती है।

योग के अनुसार अष्टसिद्धियाँ निम्नानुसार हैं–

1. अणिमा
2. महिमा
3. लघिमा
4. प्राप्ति
5. प्रकाम्य

6. ईशित्व
7. वशित्व
8. कामानसात्व

आयुर्वेद में उल्लिखित अष्टऐश्वर्य निम्न हैं–

1. आवेश– दूसरे के शरीर में प्रवेश करना।
2. चेतसोज्ञानम् – दूसरे के मन की बात को जानना।
3. अथानां छन्दतः क्रियाः– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन इन्द्रिय विषयों को स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त करना।
   अर्थात–योग साधक जिस विषय को प्राप्त करना चाहे या जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहे, अपने मन के अनुकूल उसे प्राप्त करना।
4. दृष्टि– अतीन्द्रिय वस्तुओं को देखने की शक्ति।
5. श्रोत्र– कर्णेन्द्रिय द्वारा अभीष्ट शब्दों को सुनने की सम्मर्थ्य, याहे वे दूर हों अथवा समीप।
6. स्मृति– स्मरण शक्ति की वैशिष्ट्ययुक्त सम्पन्नता।
7. कान्ति– शरीर का दैवीय कान्ति से युक्त होना अर्थात् शरीर के रंग एवं कान्ति में अत्यधिक आकर्षण।
8. इस्तृतश्चाप्य दर्शनम्– अपनी इच्छानुसार अन्तर्ध्यान और प्रकट होने की क्षमता अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर को गोपनीय बना लेना तथा प्रकट करना।

इस प्रकार योग के समान आयुर्वेद में भी धारणा, ध्यान, समाधि और यौगिक विभूतियों का विवेचन किया गया है।

अभ्यास प्रश्न सत्य/असत्य

1. योग के सामन आयुर्वेद के भी आठ अंग है। (सत्य/असत्य)
2. अष्टांग योग का प्रथम अंग ईश्वर प्रणिधान है। (सत्य/असत्य)
3. आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त, कफ–ये तीनों धातुयें हैं। (सत्य/ असत्य)
4. प्रत्याहार की साधना से साधक जितेन्द्रिय हो जाता है। (सत्य/असत्य)
5. पातंजलयोगसूत्रा के समाधिपाद में यम का वर्णन है। (सत्य/असत्य)
6. आयुर्वेद में सद्वृत्त एवं आचाररसायन के अन्तर्गत यम–नियम का वर्णन है। (सत्य/असत्य)
7. आयुर्वेद में कफ को यत्र–तत्र को धारण करने वाला कहा गया है। (सत्य/असत्य)
8. आयुर्वेद में मानसदोष चिकित्सा प्रकरण में ईश्वरप्रणिधान का वर्णन मिलता है। (सत्य/असत्य)
9. योग दर्शन के अनुसार संतोष का पालन करने से इष्ट देवता के दर्शन होते हैं। (सत्य असत्य)
10. तप के पालन से शरीर, इन्द्रिय एवं मन की शुद्धि होती है। (सत्य/असत्य)

6.4 सारांश

प्रिय पाठको, उपरोक्त विवरण से आप समझ गये होंगे कि अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद दोनों में काफी समानता है, क्योंकि भिन्न–भिन्न शास्त्र होते हुये भी दोनों का उद्देश्य मानव कल्याण ही है। योग दर्शन, सांख्य दर्शन का व्यवहारिक या क्रियात्मक रूप है, जिसमें मोक्षप्राप्ति की प्रयोगात्मक विधियाँ बतायी गयी हैं, जो पूर्णता वैज्ञानिक है। योगशास्त्र ने अध्यात्मविद्या के सैद्धांतिक पक्ष को व्यावहारिक रूप प्रदान करके इसे अत्यन्त सुगम एवं सर्वजनोपयोगी बनाया।

आयुर्वेद मुख्यतः आरोग्यशास्त्रा एवं चिकित्साशास्त्र के रूप में जाना जाता है, किन्तु वास्तव में देखा जाये तो यह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है, जिसमें मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक सभी पक्षों का अपूर्व सामंजस्य है।

अतः स्पष्ट है कि योग एवं आयुर्वेद दोनों में तुलनात्मक रूप से अत्यधिक समानतायें हैं।

6.4 शब्दावली

मिथ्याभाषण – झूठ बोलना।
कृतज्ञता – आभार / धन्यवाद्।
ममुक्षुत्व – मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाला।
स्तेय – चोरी करना।
परिग्रह – संचय या इकठ्ठा करने की प्रवृत्ति।
प्रज्ञा – परिष्कृत बुद्धि
अवलम्ब – आधार
कायिक – शारीरिक
देश – स्थान
श्वास – प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना।
प्रश्वास – प्राण वायु का शरीर से बाहर निकलना।
प्राण, आपान, समान, उदान, व्यान– पंचप्राण
कणेन्द्रिय – कान की वह क्षमता, जिसके कारण शब्द सुनायी देते हैं।
विभूति – विशिष्ट ऐवर्श्य
कान्ति – चमक, आभा।
अतीन्द्रिय – ज्ञानेन्द्रियों की सीमा से परे।

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

1. सत्य
2. असत्य
3. असत्य
4. सत्य
5. असत्य
6. सत्य
7. असत्य
8. सत्य
9. असत्य
10. सत्य

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1) जैन, राजकुमार (2010), योग और आयुर्वेद। चौखंभा पब्लिशर्स, वाराणसी, भारत।
2) सिंह, रामहर्ष (2007), स्वस्थ्यवृत्त विज्ञान। चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

6.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1) योग एवं यौगिक चिकित्सा–प्रो. रामहर्ष सिंह, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, भारत।
2) योग दर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तरप्रदेश, भारत।
3) अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान–विज्ञान, डॉ. प्रणव पण्ड्या, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुंज, हरिद्वार, उत्तराखण्ड।

6.8 निबंधात्मक प्रश्न–

प्रश्न–1 अष्टांग योग एवं अष्टांग आयुर्वेद का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

इकाई 7 यौगिक षट्कर्म परिचय

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य

7.3 यौगिक षट्कर्म
7.3.1 धौति कर्म
7.3.2 वस्ति कर्म
7.3.3 नेति कर्म
7.3.4 लैलिकी कर्म
7.3.5 त्राटक कर्म
7.3.6 कपालभाति
7.4 सारांश
7.5 शब्दावली
7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
7.8 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों हठ योग आधुनिक समय में विशेष रूप से प्रचलित योग है। हठ योग मे योग के सात अंगों का वर्णन किया गया है। इन सात अंगों में प्रथम अंग के रूप में षट्कर्म का उपदेश किया गया है इन्ही षट्कर्मों को यौगिक षट्कर्म की संज्ञा दी जाती है। षट्कर्म दो शब्दों षट्+कर्म से मिलकर बना है–षट् का अर्थ है छह एवं कर्म का अर्थ क्रियाओं से होता है अर्थात षट्कर्म छह क्रियाओं का समूह है। ये छह क्रियाएं शरीर में वात, पित्त, कफ दोष की विषमताओं को दूर करती है, मेद श्लेष्मा एवं अन्य अशुद्धियों को दूर करती हुई शरीर का कायाकल्प करती है।

शरीर को राजयोग की साधना हेतु उपयुक्त बनाने के लिए एवं पूर्ण स्वस्थ बनाने के उद्देश्य से षट्कर्मों का उपदेश ऋषियों द्वारा किया गया। ये क्रियाएं मानव शरीर का कायाकल्प करके दीर्घायु, स्वस्थ, रोगमुक्त एवं निरोगी जीवन का निमार्ण करती है। इन क्रियाओं का अभ्यास करने से शरीर की स्थूलता दूर होती है। मेद एवं श्लेष्मा आदि की अधिकता दूर होती है तथा शरीर का शोधन होता है। इन क्रियाओं का अभ्यास शरीरस्थ कोषों एवं मन को भी स्वच्छ एवं निर्मल बनाता है। इन क्रियाओं के महत्व पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते है –

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्राया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।। (घे0 सं0 1/10)

अर्थात षट्कर्मों से शरीर का शोधन होता है, आसनों से शरीर दृढ होता है, मुद्राओं से स्थिरता एवं प्रत्याहार का पालन करने से धैर्य की प्रप्ति होती है।

इस इकाई में यौगिक ग्रन्थों में वर्णित षट्कर्मों का वर्णन किया गया है।

7.2 उद्देश्यः–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन बाद आप–

1 यौगिक षट्कर्मों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेगे।
2 घेरण्ड संहिता के अनुसार षट्कर्मों का वर्गीकरण करने में सक्ष्म हो सकेंगे।
3 हठ प्रदीपिका के अनुसार षट्कर्मों का वर्गीकरण करने में सक्ष्म हो सकेंगे।
4 प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए प्रश्नों का उत्तर देने में सक्ष्म हो सकेंगे।

7.3 यौगिक षट्कर्म–

प्रिय पाठकों, घेरण्ड संहिता एवं हठप्रदीपिका हठयोग के दो प्रमुख ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों में षट्कर्म का वर्णन किया गया है। घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड षट्कर्मों का वर्णन प्रथम उपदेश के अर्न्तगत करते हुए कहते हैं–

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिः लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।। *(घे0 सं0 1/12)*

अर्थात धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति, इन छः कर्मों का आचरण योगी के लिए आवश्यक है।

इसी प्रकार हठप्रदीपिका कार स्वामी स्वात्माराम योगी षट्कर्मों पर प्रकाशडालतेहुएकहते हैं–

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते।। *(ह0 प्र0 2/22)*

अर्थात धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति ये छः शोधन क्रियाएं है। यौगिक ग्रन्थों में वर्णित इन षट्कर्मों का संक्षित परिचय इस प्रकार है–

7.3.1 धौति कर्म

यहां धौति शब्द धोने अथवा सफाई करने के अर्थ में लिया गया है। उदर प्रदेश की वायु, जल एवं वस्त्र के द्वारा शुद्धिकरण की क्रिया धौति कर्म कहलाती है। इसके भेद करते हुए महर्षि घेरण्ड पुनः कहते है–

अन्तधौर्तिर्दन्तधौतिह्रर्दद्धौतिमूलशोधनम्।
धौति चतुर्विधा कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम्।। (घे0 सं0 1/13)

अर्थात अन्तधौति, दन्तधौति, ह्रद्धधौति और मूलशोधन के भेद से धौति कर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्वारा योगीजन अपने शरीर को स्वच्छ बनाते हैं।

अन्तधौति भी चार प्रकार से की जाती है–

(क) वातसार अन्तधौतिः– वात का अर्थ वायु से होता है अर्थात वायु के द्वारा उदर प्रदेश को धोना वातसार अन्तधौति कहलाता है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि कौवे की चौंच के समान ओठो से करके वायु को पीयें पूर्ण रूप से वायु ग्रहण करने के उपरान्त वायु का पेट में परिचालन करते हुए वायु को मुख से निकाल दें'।

(ख) वारिसार अन्तधौतिः–वारि र्का अर्थ जल से होता है अर्थात जल के द्वारा उदर प्रदेश का शोधन करना वारिसार अन्तधौति कहलाता है। वारिसार अन्तधौति की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया–

मुख से धीरे–धीरे जल पीते हुए कण्ठ तक जल भर लेते है। इसके बाद उदर को चलाकर जल को अधोमार्ग से निकाल दें'।

प्रिय पाठकों वारिसार अन्तधौति को शंख प्रक्षालन की संज्ञा भी दी जाती है चूंकि हमारी आंतो की संरचना शंख के समान होती है तथा प्रक्षालन का अर्थ धोने से होता है अर्थात आंतो को धोने की यह वारिसार अन्तधौति की क्रिया शंख प्रक्षालन भी कहलाती है। इस क्रिया में गुनगुने नमकीन पानी को पीने के बाद ताडासन, तिर्यकताडासन, कटिचक्रासन, भुजंगासन एवं उदराकर्षण आसन का अभ्यास किया जाता हैं। इन आसनों का अभ्यास करने से जल आतों में आगे की ओर बढता जाता है तथा आतों का शोधन करने के उपरान्त अधोमार्ग से बाहर निकल जाता है।

(ग) वह्निसार अथवा अग्निसार अन्तधौति :–इसे अग्निसार अन्तधौति की संज्ञा भी दी जाती है। धौति के इस कर्म में अग्नि तत्व की व्द्धि कर उदर प्रदेश की सफाई की जाती है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि प्राण वायु को रोक कर नाभि को मेरू पृष्ठ भाग में लगायें।

इस अभ्यास के लिये श्वास को बाहर निकालने के बाद पेट को संकुचित करते हुए कमर के साथ लगाते हैं। बार–बार यह क्रिया करने से नाभि में स्थित मणिपुर चक्र (सूर्य चक्र) जाग्रत होता है एवं शरीरस्थ अग्नि की वृद्वि होती है।

(घ) बहिष्कृत अन्तधौतिः– धौति के इस प्रकार में भी वायु के द्वारा उदर प्रदेश को शुद्ध बनाया जाता है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि कौवे की चौच के समान ओठों को करके वायु को पेट में भरने से इस वायु को आधे प्रहर (डेढ घण्टा) उदर में रोक कर परिचालित करते हुए अधोमार्ग से निकाल दें।

धौति क्रिया का दूसरा प्रकार दन्तधौति है, यह क्रिया पांच प्रकार से की जाती है–दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र और कपालरन्ध्र। ये चार प्रकार की धौतियाँ हुई, इनमें दोनों कानों के रन्ध्रों से होने वाली दो धौति मानी गयी है। इस प्रकार दन्त धौति के पाँच प्रकार हुए। इनका वर्णन इस प्रकार है–

(क) दन्तमूल धौतिः– दांतों की सफाई करने की क्रिया दन्तमूल धौति कहलाती है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि जब तक मैल न छूटे तब तक खादिर के रस अथवा विशुद्ध मिट्टी से दातों की जड़ों को माँजना चाहिए। योगियों को यह साधन अपने दातों की रक्षा के लिए नित्य प्रातःकाल अवश्य कराना चाहिए। यह दन्तमूल धौति कहलाती है।

(ख) जिह्वामूल धौति अथवा जिह्वाशोधन धौति –जिह्वा की सफाई करने की क्रिया जिह्वामूल धौति कहलाती है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तीनों अंगुलियों को एक साथ मिलकर कंठ में डाल जिह्वा की जड़ को स्वच्छ करना चाहिए। धीरे–धीरे कोमलता से रगड़ने से कफ दोष का निवारण होता है।

(ग) कर्णरन्ध्र धौति–कानों की सफाई करने की क्रिया कर्णरन्ध्र धौति कहलाती है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि तर्जनी और अनामिका को मिलाकर योगीजन दोनों कानों के छिद्रों की सफाई करते हैं। इस योग विधि के नित्य अभ्यास से साधक नाद की अनुभूति करने में सक्षम होता है। यह अभ्यास कर्णरन्ध्र धौति कहलाती है।

(घ) कपालरन्ध्र धौति –सिर में स्थित कपाल रन्ध्र को शुद्ध करने की क्रिया कपालरन्ध्र धौति कहलाती है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों को समेटकर एक कप की आकृति बनाकर उस कप की आकृति वाले हाथ में पानी भरकर कपालरन्ध्र में (बहारन्ध्र) में थपकी देनी चाहिए। यह अभ्यास कपालरन्ध्र धौति कहलाती है।

धौति क्रिया के तीसरे भेद ह्रदधौति के तीन प्रकार होते हैं –

(क) दण्डधौति –इस क्रिया में दण्ड का प्रयोग कर उदर प्रदेश का शोधन किया जाता है इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि केले के मृदु भाग के डण्डे अथवा हल्दी के डण्डे को ह्रदय के मध्य बार–बार घुसाकर धीरे–धीरे निकालना चाहिए।

(ख) वमन धौति – यह धौति क्रिया का अत्यन्त सरल एवं उपयोगी प्रकार है। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि भोजन के अन्त में कण्ठ प्रर्यन्त जल पीकर वमन द्वारा निकाल देना चाहिए।

यह अभ्यास प्रातः काल खाली पेट भी किया जा सकता हैं। इसके लिये हल्का गर्म अथवा गुनगुना नमकीन जल पीकर कण्ठ तक भर लेते हैं। इसके बाद सामने की ओर झुककर मुह में अंगुली डालकर गले से स्पर्श करने पर पिया हुया पानी वमन के रुप में बाहर निकलने लगता है।

(ग)वस्त्र धौति – वस्त्र के द्वारा उदर प्रदेश का शोधन करना वस्त्र धौति कहलाता इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि महीन वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी पट्टी लेकर धीरे–धीरे निकालना चाहिए।

वस्त्र धौति के अभ्यास के लिये कागासन में बैठकर 22 फुट लम्बे एवं 4 अंगुल चौडे मलमल अथवा सूती वस्त्र के एक सिरे को जीभ पर रखकर अन्दर निगलते जाते हैं। आठ से दस मिनट के समय में पूरा वस्त्र अन्दर निगल लेते हैं तथा इसके बाद वमन के रुप में इस वस्त्र को पूरा बाहर निकाल देते है।

धौति क्रिया के चौथे भेद के रूप में मूलशोधन क्रिया का वर्णन किया गया है

मूल शोधन– शरीर के मूल भाग के शोधन क्रिया मूल शोधन कहलाती है इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा गया कि हल्दी की जड़ अथवा मध्यमा अंगुली के द्वारा जल योग से पुनः–पुनः प्रक्षालन करना चाहिए।

इस क्रिया के लिये हाथ की मध्यमा अंगुली के द्वारा गुदा की सफाई की जाती है।

घेरण्ड संहिता में वर्णित धौति क्रिया को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है

(क) अन्तर्धौति	(ख) दन्त धौति	(ग) हृद्धौति	(घ) मूलशोधन
(i) वातसार अन्तर्धौति	(i) दन्तमूल धौति	(i) दण्ड धौति	
(ii) वारिसार अन्तर्धौति	(ii) जिह्वामूल धौति	(ii) वमन धौति	
(ii) अग्निसार अन्तर्धौति	(iii) कर्णरन्ध्र धौति	(iii) वस्त्र धौति	
(iv)बहिष्कृत अन्तर्धौति	(iv) कपालरन्ध्र धौति		

योग के दूसरे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हठप्रदीपिका में स्वात्माराम योगी धौति क्रिया पर प्रकाश डालते हुए इसके दो प्रकारों का वर्णन करते हैं –

(क) धौति कर्म –

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिस्टमार्गेण सिक्तं वस्त्र शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरे च्चैतदुदितं धौति कर्म तत्।। (हठप्रदीपिका 2/24)

अर्थात् 4 अंगुल चौड़ा 15 हाथ लम्बा कपड़ा, जल में भिगोकर गुरू के निर्देश के अनुसार धीरे–धीरे निकालना चाहिये। पुनः धीरे–धीरे बाहर निकालना चाहिए, इसे धौति क्रिया कहते हैं।

(ख) गजकरणी –

गज हाथी का प्रर्यायवाची शब्द है, जिस प्रकार हाथी सूंड में पानी भरकर उसे पुनः बाहर निकालता है, उसी प्रकार इस क्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया –

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले।
क्रमपरिचयवश्चनाडिचक्रा गणकरणीति निंगद्यते हठज्ञैः।। (हठप्रदीपिका 2/38)

अर्थात नाड़ी समूहों पर नियंत्रण कर अपानवायु को ऊपर उठाकर, कण्ठनली में लाकर, उदर में स्थित पदार्थों का वमन करना गजकरणी क्रिया कहलाता है।

7.3.2 वस्ति कर्म –वस्ति का अर्थ पशुओं के मूत्राशय से होता है। यह आंतों को धोने एवं स्वच्छ करने की एक सरल क्रिया है। घेरण्ड संहिता में इस कर्म पर प्रकाश डालते हुएकहा गया –

जल वस्तिःशुष्कवस्तिर्वस्ती च द्विविधौ स्मृतौ।
जल वस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ।। (घे.सं. 1/45)

अर्थात वस्ति कर्म दो प्रकार का होता है – जल वस्ति एवं शुष्क वस्ति

जल वस्ति का अभ्यास जल में तथा शुष्क वस्ति का अभ्यास भूमि (सूखे स्थान) पर किया जाता है।

(क) जल वस्ति–जल द्वारा बड़ी आत की सफाई की क्रिया जल वस्ति कहलाती है। इस क्रिया के अभ्यास हेतु जल में शरीर के नाभि तक के स्थान को डुबाकर उत्कट आसन लगाते हुए गुदा का आकुन्चन–प्रसारण करते हैं।

(ख) शुष्क वस्ति –वायु के द्वारा बड़ी आंत की सफाई की क्रिया शुष्क बस्ति अथवा स्थल वस्ति कहलाती है। इसके अभ्यास के लिए पश्चिमोत्तान आसन में बैठकर अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुंचन एवं प्रसारण करना चाहिए।

हठप्रदीपिकार स्वात्माराम योगी वस्ति क्रिया को बस्ति की संज्ञा देते हुए इसकी विधि को इस प्रकार वणित करते हैं –

नाभिदघ्नजले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत्।। (हठप्रदीपिका 2/26)

अर्थात नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर गुदा में एक नली डालकर गुदा का संकोचन करते हुए अन्दर के भाग को धोना बस्ति कर्म कहलाता है।

7.3.3 नेति कर्म –प्रिय पाठकों दूध बिलौने वाली रस्सी को नेति कहा जाता है। इसी की भांति छोटी सूत की रस्सी द्वारा नासिका अथवा शीर्ष प्रदेश की सफाई की क्रिया नेति क्रिया कहलाती है। इस क्रिया का वर्णन करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं –

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखात्रिर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम्।। (घेरण्ड संहिता 1/50)

अर्थात आधा हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में घुसाये और मुख से बाहर निकाल दें, इसे नेति कर्म कहते हैं। नेति क्रिया सम्पूर्ण शीर्ष प्रदेश को स्वच्छ, सक्रिय एवं स्वस्थ बनाने की क्रिया है। आधुनिक समय में इस क्रिया के महत्व को देखते हुए इसे सरल रूप में परिवर्तित करते हुए सूत्र नेति से पूर्व जल नेति क्रिया का अभ्यास विकसित किया गया है। जल नेति क्रिया के अभ्यास में एक विशेष आकार के टोंटीदार लोटे में हल्का गर्म (गुनगुना) एवं नमकीन जल लेकर, नासिका का जो स्वर चल रहा हो, में लोटे की टोंटी को लगाते हैं तथा मुख खोलकर श्वास–प्रश्वास की क्रिया मुंह से करते हैं, इससे जल एक नासिका छिद्र से प्रवेश कर दूसरी नासिका छिद्र से आने लगता है। यह अभ्यास जल नेति कहलाता है।

हठप्रदीपिकार स्वात्माराम योगी नेति क्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं –

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखात्रिर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते।। (हठप्रदीपिका 2/29)

अर्थात चिकनी और लगभग नौ इंच लम्बी सूत्र को नासिका में डालकर मुख से बाहर निकालना नेतिकर्म कहलाता है।

सूत्रनेति के अभ्यास के लिये सूत की बनी रस्सी को नासिका से प्रवेश कराते हैं, जब यह रस्सी मुख में आ जाती है तब इसे अंगुलियों की सहायता से बाहर निकालकर इसका चालन करते हैं।

नेति कर्म षट्कर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं व्यापक कर्म है जिसके अन्तर्गत जलनेति, रबरनेति, सूत्रनेति, दुग्धनेति एवं घृतनेति आदि क्रियाओं का वर्णन आता है। ये अभ्यास शीर्ष प्रदेश का शोधन करने के साथ शीर्ष में स्थित नाडियों को स्वच्छ, सक्रिय एवं मल रहित बनाते हैं।

7.3.4 लौलिकी कर्म–लौलिकी शब्द की व्युत्पत्ति 'लोल' शब्द से हुई है जिसका अर्थ उत्तेजना पूर्व इधर–उधर घुमाने से है। यहां पर उदर की मांसपेशियों को उत्तेजनार्वूक इधर–उधर घुमाने के अर्थ में लौलिकी कर्म का वर्णन किया गया है। इस कर्म को नौलि क्रिया के नाम से भी जाना जाता है। सम्पूर्ण शरीर की ऊर्जा का केन्द्र नाभि स्थान होता है। इस स्थान पर ऊर्जा कम होने पर पाचन तंत्र सम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं। नौलि कर्म उदर की मांसपेशियों को उत्तेजित कर नाभि केन्द्र एवं शरीर को ऊर्जावान बनाती है। नौलिकर्म पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं

अमन्दवेगेन तुन्दं भ्रमयेदुभपार्श्वयोः।
सर्वरोगात्रिहन्तीह देहानलविवर्द्धनम्।। (घे0सं0 1/52)

अर्थात उदर को दोनों पार्श्वों में अत्यन्त वेगपूर्वक घुमाना चाहिए। यह लौलिकी (नौलि) कर्म सब रोगों का नाशक तथा जठरानल का उद्दीपक है।

नौलि कर्म उदरीय मांसपेशियों के साथ तन्त्रिका तत्रं को भी नियन्त्रित एवं सुव्यवस्थित बनाने का अभ्यास हैं। महर्षि घेरण्ड नौलिकर्म के चार भेदों का वर्णन करते हैं–

(क) मध्यम नौलि (ख) वाम नौलि
(ग) दक्षिण नौलि (घ) भ्रमर नौलि

(क) मध्यम नौलि –इस क्रिया में उदर के मध्य की मांसपेशियों को उत्तेजित किया जाता है इसकी विधि इस प्रकार है –

उत्कट आसन में खड़े होकर, श्वास निकाल कर उड्डियान बंध का अभ्यास करते हुए हाथों को दृढ़तापूर्वक जांघों पर रखते हुए पेट की मांसपेशियों पर दबाव डालकर उन्हें बीच में लाना चाहिए। ऐसा करने पर उदर की बडी मांसपेशी बाहर की ओर निकल कर आती है। यह अभ्यास मध्यम नौलि कहलाता है।

(ख) वाम नौलि –वाम का अर्थ बायें भाग से होता है। इस क्रिया में उदर के बांये भाग की मांसपेशियों को उत्तेजित किया जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है –

ऊपर वर्णित विधि अनुसार मध्यमा नौलि का अभ्यास करते हुए दाहिनी ओर की मांसपेशियों को ढीला छोड़कर बांयी ओर की मांसपेशियों को संकुचित करना चाहिए। यह अभ्यास वाम नौलि कहलाता है।

(ग) दक्षिण नौलि –दक्षिण का अर्थ दाहिने भाग से होता है। इस क्रिया में उदर के दाहिने भाग की मांसपेशियों को उत्तेजित किया जाता है। इसकी विधि का वर्णन इस प्रकार है –

ऊपर वर्णित विधि अनुसार मध्यमा नौलि का अभ्यास करते हुए बांयी ओर की मांसपेशियों को ढीला छोड़कर दाहिनी ओर की मांसपेशियों को संकुचित करना चाहिए। ऐसा करने से उदर का बांया भाग अन्दर की ओर रहता है तथा दाहिने ओर की मांसपेशिया बाहर की ओर निकल जाती है, यह अभ्यास दक्षिण नौलि कहलाता है।

(घ) भ्रमर नौलि –भ्रमर नौलि का अर्थ नौलि क्रिया को घुमाने से है। इसकी विधि इस प्रकार है –

पहले मध्यम नौलि कीजिए उसके बाद वाम नौलि कीजिए तथा उड्डियान बंध लगाते हुए दक्षिण नौलि का अभ्यास कीजिए, अब फिर से मध्यम नौलि कीजिए इस प्रक्रिया को इसी प्रकार आगे बढ़ाइये तथा यह सारी क्रिया क्रमिक रूप से होनी चाहिए। ऐसा करने से उदर की मांसपेशिया क्रमिक रुप से भ्रमण करती हुई दिखलाई देती है, यह अभ्यास भ्रमर नौलि कहलाती है।

हठप्रदीपिका में स्वात्माराम योगी नौलि क्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं

अमन्दावर्तवेगेन तुन्द सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्येत। *(हठप्रदीपिका 2/33)*

अर्थात कंधे को थोड़ा आगे की ओर झुकाकर तीव्र गति वाले भंवर के समान उदर को दाहिने से बांये और बांये से दाहिने ओर घुमाना चाहिए सिद्धों के द्वारा इसे ही नौलि कहा जाता है।

7.3.5 त्राटक कर्म –घेरण्ड संहिता में त्राटक कर्म षट्कर्म की पांचवी क्रिया है जिसका उद्देश्य अभ्यासी साधक की मानसिक शुद्धि कर दिव्य दृष्टि प्रदान करना होता है। त्राटक कर्म पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं –

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
पतन्ति यावदश्रूणि त्राटकं पोच्यते बुधैः।। (घेरण्ड संहिता 1/53)

अर्थात निमेष–उन्मेष को रोककर जब तक आंसू न गिरने लगें तब तक किसी सूक्ष्म लक्ष्य की ओर टकटकी लगाकर देखते रहने को त्राटक कहते हैं।

त्राटक कर्म मन की चंचलता दूर करने का अत्यन्त सरल एवं प्रभावी अभ्यास है। यह कर्म मन को एक लक्ष्य पर स्थापित करने मे सक्षम बनाता है। इस अभ्यास के अन्तर्गत दीपक की जलती लौ, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, पेड पौधौ अथवा मूर्ति आदि को लक्ष्य बनाकर देखने से मन अर्न्तमुखी बनता है तथा आन्तरिक ऊर्जा में वृद्वि होती है। यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि चयन की गयी वस्तु शान्तिपूर्ण रुप से ऊर्जा प्रदान करने वाली होनी चाहिए।

हठप्रदीपिकार स्वात्माराम योगी त्राटक कर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं –

निरीक्षेत्रिश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पात पर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।। (हठप्रदीपिका 2/31)

अर्थात स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना चाहिए जब तक आंख से आंसू बाहर न आ जाय, आचार्यों ने इसे त्राटक कहा है।

7.3.6 कपालभाति कर्म –प्रिय पाठकों कपाल का अर्थ मस्तिष्क अथवा शीर्ष प्रदेश से होता है तथा भांति का अर्थ उसकी दीप्ति, आभा एवं चेतना है अर्थात वह अभ्यास जिसे करने से शीर्ष प्रदेश की दीप्ति, आभा एवं चेतना बढ़ती है, कपालभाति कहलाता है। यह षट्कर्मो का छटा अत्यन्त महत्वपूर्ण अभ्यास है जिसका सम्बन्ध शरीरिक शुद्धि के साथ–साथ मानसिक स्वच्छता से है। इस अभ्यास का प्रभाव मन एवं मस्तिष्क का शोधन करता हुआ मन–मस्तिष्क को स्वस्थ, सक्रिय एवं विकार मुक्त बनाता है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं –

वातक्रमेण व्यूत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत्।। *(घे.सं. 1/55)*

अर्थात वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति और शीतक्रम कपालभाति के भेद से कपालभाति तीन प्रकार का होता है। इसका साधन करने से कफ से उत्पन्न दोषों का निवारण होता है। इस प्रकार महर्षि घेरण्ड कपालभाति क्रम को तीन भेदों में विभक्त करते हैं –

(क) वातक्रम कपालभाति (ख) व्युत्क्रम कपालभाति (ग) शीतक्रम कपालभाति

(क) वातक्रम कपालभाति –वातक्रम कपालभाति के अन्तर्गत वायु द्वारा शरीर शोधन किया जाता है। इसमें इडा नाड़ी या बांयी नासिका से श्वास लेते हुए तथा पिंगला नाड़ी अथवा दाहिनी नासिका से श्वास छोड़ते हैं। अब पिंगला नाड़ी से श्वास लेते हैं तथा इडा नाड़ी से श्वास छोड़ते हैं। रेचक एवं पूरक की क्रियाओं की गति तीव्र नहीं रखनी चाहिए।

(ख) व्युत्क्रम कपालभाति –व्युत्क्रम कपालभाति के अन्तर्गत जल का प्रयोग किया जाता है। इसमें नासिका के दोनों छिद्रों के द्वारा जल खींचकर और मुख से निकाल देते हैं तथा मुख से जल खींचकर नासिका से निकलते हैं।

(ग) शीतक्रम कपालभाति –शीतक्रम कपालभाति की विधि पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि मुंह से पानी खींचकर नासिका से बाहर निकालने की क्रिया शीतक्रम कपालभाति कहलाती है। इस प्रकार पर महर्षि घेरण्ड वायु एवं जल द्वारा कपालभाति कर्म के भेदों की व्याख्या करते हैं।

हठप्रदीपिकार स्वात्माराम योगी कपालभातिकर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं –

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।। (हठप्रदीपिका 2/35)

अर्थात लौहार की धौंकनी के समान शीघ्रता से रेचकपूरक करने से कपालभाति होती है। यह कफ–रोगों को नष्ट करने वाली है।

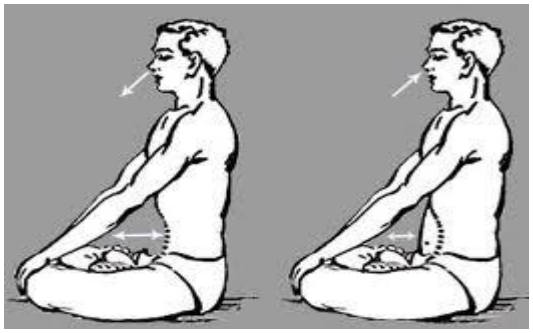

प्रिय पाठकों यहां पर स्वात्माराम योगी श्वास के तेजी से बाहर छोड़ने एवं अन्दर भरने की क्रिया के संदर्भ में कपालभाति क्रिया का वर्णन करते हैं।

अभ्यास हेतु प्रश्न

1सत्य/असत्य

(क) अन्तर्धौति चार प्रकार से की जाती है।

(ख) कान की सफाई करने की क्रिया कपालरन्ध्र धौति कहलाती है।

(ग) उदर की मांसपेशियों को उत्तेजनापूर्वक इधर–उधर घुमाने की क्रिया कपालभाति कहलाती है।

(घ) वस्ति कर्म आंतों को धोने एवं स्वच्छ करने की सरल क्रिया है।

(ड) कपालभाति कफ–दोषों को बढ़ाने करने वाली क्रिया है।

2 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

(क) षट्कर्म ..... क्रियाओं का समूह है।

(ख) जल के द्वारा उदर प्रदेश का शोधन करना ..... कहलाता है।

(ग) नेति क्रिया सम्पूर्ण ..... को स्वच्छ, सक्रिय एवं स्वस्थ बनाने की क्रिया है।

(घ) त्राटक कर्म का उद्देश्य मानसिक शुद्धि कर ..... प्रदान करना होता है।

(ड) लौहार की धौंकनी के समान शीघ्रता से रेचक–पूरक करने से ..... होती है।

3 बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) षट्कर्मो से क्या होता है

(a) मेद की अधिकता दूर होती है (b) शरीर का शोधन होता है

(c) शरीर की स्थूलता दूर होती है (d) सभी

(ख) वायु के द्वारा बड़ी आंत की सफाई की क्रिया कहलाती है

(a) जल वस्ति (b) शुष्क वस्ति

(c) नौलि क्रिया (d) कपालभाति कर्म

(ग) भ्रमर नौलि का अर्थ है

(a) वाम नौलि से (b) दक्षिण नौलि से

(c) नौलि घुमाने से (d) नौलि स्थिरता

(घ) घेरण्ड संहिता के अनुसार हृदधौति के कितने प्रकार होते हैं –

(a) दो (b) तीन

(c) पांच (d) छह

(ड़) घेरण्ड संहिता के अनुसार त्राटक कर्म में सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखना चाहिएजब तक

(a) नींद न आ जाये (b) आंसु न आ जाये

(c) पलक झपक न हो जाये (d) आंखे बंद न हो जाये

7.4 सारांश

प्रिय पाठकों इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यौगिक षट्कर्म छह शोधन क्रियाओं का समूह है जिनका अभ्यास करने से शरीर में स्थित भेद एवं श्लेष्मा की अधिकता दूर होती है, एवं शरीर स्वच्छ व स्वस्थ होता है। इन षट्कर्मो में धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक एवं कपालभाति कर्म का वर्णन आता है। प्रथम धौति कर्म उदर प्रदेश के शोधन की क्रिया है जिसमें अर्न्तधौति, दन्तधौति, ह्रद धौति एवं मूलशोधन कर्म आते हैं। वस्ति क्रिया के दो भेद जलवस्ति एवं शुष्क वस्ति है जो बड़ी आँत का शोधन करती है। नेति कर्म शीर्ष प्रदेश के शुद्धिकरण की क्रिया है। नौलि कर्म उदर प्रदेश की मांसपेशियों को उत्तेजित कर स्वस्थ करने की क्रिया है। यह नौलि कर्म मध्यामा नौलि, वाम नौलि, दक्षिण नौलि एवं भ्रमर नौलि के भेद से चार भागों में बंटा है। त्राटक कर्म मानसिक शुद्धिकरण की क्रिया है जिसके अन्तर्गत एक सूक्ष्म लक्ष्य को आंखें से अश्रुपात होने तक टकटकी लगाकर देखते रहते हैं, यह अभ्यास मानसिक एकाग्रता को उत्पन्न करता है। कपालभाति वायु एवं जल के द्वारा कपाल प्रदेश की शुद्धिकरण की क्रिया है वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति एवं शीतक्रम कपालभाति कपालभाति क्रिया के तीन प्रकार होते है।

इन षट्कर्मो के अभ्यास से शरीर शुद्धि कर साधक योग मार्ग की साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। जबकि रोगी मनुश्य अपने रोग के अनुसार इन षट्कर्मो के अभ्यास से अपने रोगों को आसानी से दूर कर सकता है। जनसाधारण के लिए भी ये षट्कर्म अत्यन्त लाभकारी एवं महत्वपूर्ण क्रियाए है क्योंकि इन क्रियाओं के अभ्यास से प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर एवं मन का शोधन कर अपने शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रख सकता है।

7.5 शब्दावली–

परिचालन	घूमना
मेरू पृष्ट	कमर का भाग
खादिर	कथ्था का रस
माँजना	रगड़ना, धोना
महीन	बारिक
प्रक्षालन	धोना, साफ करना
जठरानल	पेट की अग्नि
उद्दीपक	बढ़ाना, उत्तेजित करना
उड्डियान बंध	पेट को अन्दर की ओर सिकोड़ना
भंवर	नदियों की गोल लहरें

7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	सत्य	क.	छह	क.	d
ख.	असत्य	ख.	वारिसार अन्तर्धौति	ख .	b
ग.	असत्य	ग.	शीर्ष प्रदेश	ग.	c
घ.	सत्य	घ	दिव्य दृष्टि	घ.	b
ड.	असत्य	ड	कपालभाति	ड .	b

7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार।

2. जी स्वामी दिगम्बर, झा डा0 पीताम्बर, हठ प्रदीपिका, कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग मन्दिर समिति लोनावाला पुणे।

3. रामदेव स्वामी, योग साधना एवं योग चिकित्सा रहस्य, सांई सिक्यूरिटी प्रिंटर्स प्रा. लिमिटेड, फरीदाबाद (हरियाणा)

7.8 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. यौगिक षट्कर्मो को सविस्तार समझाऐ।

2. घेरण्ड संहिता के अनुसार षट्कर्मो को लिखिए।
2. हठप्रदीपिका के अनुसार षट्कर्मों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 8 आयुर्वेदोक्त पंचकर्म परिचय

8.1 परिचय
8.2 उद्देश्य
8.3 पंचकर्मो का वर्गीकरण
8.4 पूर्व कर्म
8.4.1 स्नेहन
8.4.2 स्वेदन
8.5 प्रधान कर्म
8.5.1 वमन
8.5.2 विरेचन
8.5.3 वस्ति कर्म
8.5.4 नस्य कर्म
8.5.5 रक्त मोक्षण
8.6 पश्चात कर्म
8.6.1 संर्सजन कर्म
8.6.2 शमन कर्म
8.6.3 रसायन
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.11 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 परिचय–

प्रिय पाठकों पूर्व की इकाई में आपने यौगिक षट्कर्मो का ज्ञान प्राप्त किया। इन षट्कर्मो के समान आयुर्वेद शास्त्र में पंचकर्मो का वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद हमारा प्राचीनतम् शास्त्र है जो दो शब्दों आयु+वेद से मिलकर बना है अर्थात वह शास्त्र जिसमें आयु के संदर्भ में ज्ञान का वर्णन किया गया, आयुर्वेद कहलाया। शरीर का आत्मा के साथ संयोग जीवन कहलाता है। इस जीवन में सुख और दुख प्रतिक्षण जुड़े हुए रहते है। जीवन का वह भाग जो सुख के साथ व्यतीत होता है, सुखायु कहलाता है तथा जीवन का वह अंश जो दुख के साथ व्यतीत होता है, दुखायु कहलाता है। आयुर्वेद शास्त्र में मानव जीवन की सुखायु को बढ़ाने के उपदेशों का वर्णन किया गया है। इस शास्त्र का उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का परिरक्षण करना तथा रोगी मनुष्यों के रोग को दूर करना है।

इस संदर्भ में आयुर्वेद में पंचकर्मो का वर्णन किया गया है। इन पंचकर्मो का अभ्यास कराने से शरीर के वात–पित्त कफ दोषों की विषमता दूर होती है। शरीर की स्थूलता दूर होती है एवं शरीर का शोधन होता है। जिससे शरीर शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ होता है। इन आयुर्वेदोक्त पंचकर्मो का वर्णन इस प्रकार है–

8.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- आयुर्वेदोक्त पंचकर्मो को विश्लेषित करने में सक्षम हो सकेंगे।
- पंचकर्मो से स्वास्थ्य संर्वधन को समझा सकेंगे।
- विविध रोगों के परिपेक्ष्य में पंचकर्मो की उपयोगिता बता सकेंगे।
- समझा सकेंगे कि पंचकर्म किन–किन रोगों में लाभकारी होते है।
- पंचकर्मो के योग्य एवं अयोग्य पुरूषों को श्रेणीबद्ध कर सकेंगे।
- जीवन में आयुर्वेद की उपादेयता का बोध करने में सक्षम हो सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

8.3 पंचकर्मो का वर्गीकरण–

जिज्ञासु पाठकों आयुर्वेदिक कर्म अत्यन्त अद्भुत, लाभकारी, व्यापक एवं स्थाई आरोगता प्रदान करने वाला विशिष्ट उपक्रम है जिन्हें पूर्व कर्म, प्रधान कर्म (पंचकर्म) एवं पश्चात कर्म के रूप में इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है–

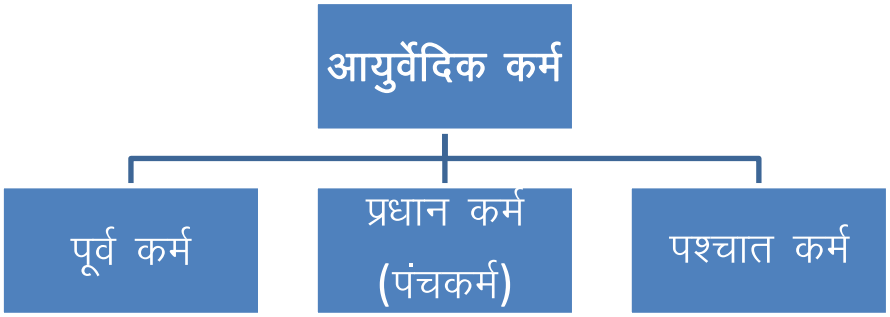

यहां पर पंचकर्मो को प्रधान कर्म के रूप में वर्णित करते हुए इनके अभ्यास से पहले पूर्व कर्मो तथा इनके अभ्यास के उपरान्त पश्चात कर्मो का उल्लेख किया गया है।

8.4 पूर्व कर्म–

आयुर्वेद शास्त्र में पंचकर्मो को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथा उपदेश किया गया कि इन कर्मो को करने से पूर्व शरीर को तैयार करना आवश्यक होता है। शरीर

को तैयार करने के लिए पूर्व कर्मो का उल्लेख किया गया। इन पूर्वकर्मो के अर्न्तगत स्नेहन तथा स्वेदन नामक कर्मो का वर्णन किया गया जो इस प्रकार है–

8.4.1 स्नेहन–स्नेहन पंचकर्म से पूर्व किए जाने वाला प्रथम कर्म है जो शरीर में स्थित कफ दोष को विशेष रूप से बाहर निकालता है। ''जिस प्रकार एक चिकने पात्र से जल आसानी से बाहर निकल जाता है उसी प्रकार स्निग्ध पदार्थो के प्रयोग शरीर से कफ आदि दोष आसानी से बाहर निकल जाते हैं।''

स्नेह का अर्थ चिकनेपन (स्निग्धता) से होता है। वह अभ्यास जो शरीर में स्निग्धता को बढ़ाता है, स्नेहन कहलाता है।

स्नेहन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि यदि एक सूखी लकड़ी को बिना तेल लगाये मोड़ने का प्रयास करें तब वह टूट जाती है जबकि तेल लगाकर इसे इच्छानुसार मोड़ा जा सकता है इसी प्रकार शरीर का स्नेहन कर शरीर को आसानी से दोष मुक्त किया जा सकता है एवं शरीर के बल को बढ़ाया जा सकता है।

जिन द्रव्यों के द्वारा स्नेहन क्रिया की जाती है, स्नेहन द्रव्य कहलाते है। ये दो प्रकार के होते है–

क. स्थावर

ख. जंगम

क. **स्थावर**– वनस्पतियों से प्राप्त स्नेहन द्रव्य स्थावर की श्रेणी में आते हैं जैसे– तिल, सरसों आदि का तेल।

ख. **जंगम**– इसके अर्न्तगत विभिन्न जीवों से प्राप्त स्नेहन द्रव्यों का वर्णन आता है जैसे– मछली का तेल, घी आदि।

इन स्नेहों में घृत सबसे प्रमुख एवं उत्तम स्नेह द्रव्य माना जाता है। यह स्निग्ध गुणों से युक्त होने के कारण वात नाशक है तथा शीत वीर्य होने के कारण पित्तनाशक है।

स्नेहन की विधि–स्नेहन मुख्य रूप से दो रूपों में किया जाता है–

क. बाह्य स्नेहन

ख. अभ्यान्तर स्नेहन

क. बाह्य स्नेहन–

बाह्य स्नेहन का अर्थ शरीर पर बाह्य रूप से स्नेह पदार्थो के प्रयोग से होता है। इसका सामान्य अर्थ मालिश से होता है। इसके लिए तिल आदि का तेल अथवा औषधिय तेलों का प्रयोग किया जाता है।

बाह्य स्नेहन करने से रक्त संचरण तीव्र होता है तथा शरीर की धातुओं की पुष्टि होती है।

ख. अभ्यान्तर स्नेहन–

स्नेहन पदार्थो का सेवन करना अभ्यान्तर स्नेहन कहलाता है। इसके अर्न्तगत औषध सिद्ध तेल अथवा घृत का प्रयोग किया जाता है। अभ्यान्तर स्नेहन भोजन के साथ अथवा अलग से किया जाता है। अभ्यान्तर स्नेहन के प्रभाव से शरीर की धातुओं की पुष्टि होती है।

स्नेहन का महत्व–

मानव शरीर की रक्षा स्नेह पदार्थो से होती है तथा स्नेहन करने से शरीर में स्नेह पदार्थो की मात्रा बढ़ती है। स्नेहन से वात दोष दूर होता है तथा शरीर मल रहित होता है।

स्नेह पान करने से व्यक्ति की जठराग्नि प्रदिप्त होती है, कोशिकाएँ शुद्ध होती है तथा धातुओं में नवीनता की उत्पत्ति होती है। स्नेहन करने से शारीरिक बल एवं वर्ण में वृद्धि होती है, वृद्धावस्था देर से आती है तथा आयु बढ़ती है।

स्नेहन की सावधानियाँ–

ऐसे व्यक्ति जिनके शरीर में कफ दोष की अधिकता हो, को स्नेहन क्रिया नहीं करानी चाहिए। शरीर में मेध की अधिकता होने पर भी स्नेहन क्रिया नहीं करानी चाहिए। मन्दाग्नि से पिड़ित व्यक्ति को भी स्नेहन नहीं कराना चाहिए।

8.4.2 स्वेदन–

वह क्रिया जिसके द्वारा शरीर से स्वेद अर्थात पसीना निकाला जाता है, स्वेदन कहलाती है। स्वेदन, स्नेहन के उपरान्त किये जाने वाला पूर्वकर्म है जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य चरक कहते है– ''वह अभ्यास जो शरीर की जकड़न, भारीपन एवं शीत को दूर कर शरीर में पसीना लाए स्वेदन कहलाता है।''

प्रिय पाठकों, स्वेद का अर्थ पसीना होता है वह अभ्यास जिसे करने से शरीर से पसीना निकलता है, स्वेदन कहलाता है।''

आयुर्वेद शास्त्र में स्नेहन क्रिया के उपरान्त स्वेदन क्रिया का अभ्यास अत्यन्त लाभकारी कहते हुए उदाहरण देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार एक निर्जीव लकड़ी को तेल लगाकर अग्नि में तपाने से मनचाहा आकार दिया जा सकता है तो फिर जीवित मानव शरीर को तो आसानी से स्नेहन के उपरान्त स्वेदन कर्म कराने से इच्छानुसार स्वस्थ एवं लचीला बनाया जा सकता है।

यह स्वेदन कर्म दो प्रकार से किया जाता है–

क. अग्निकृत स्वेदन

ख. अनाग्निकृत स्वेदन

क. अग्निकृत स्वेदन–जब अग्नि के प्रभाव से शरीर से स्वेद की उत्पत्ति की जाती है तब यह अग्निकृत स्वेदन कहलाता है यह भी चार प्रकार का होता है–

अ. ताप स्वेदन– उष्ण द्रव्यों की पोटली बनाकर सेक करते हुए शरीर से स्वेद निकालना ताप स्वेदन कहलाता है।

ब. उपनाह स्वेदन–उष्ण द्रव्यों का लेप करते हुए शरीर से स्वेद उत्पन्न करना उपनाह स्वेदन कहलाता है।

स. उष्ण स्वेदन–भाप के प्रयोग से शरीर से स्वेद उत्पन्न करनाउष्णस्वेदनकहलाता है।

द. द्रव स्वेदन–

गुनगुने क्वाथ में बैठकर ऊपर से उष्ण द्रव का प्रयोग करना तथा स्वेद निकालना द्रव स्वेदन कहलाता है।

ख. अनाग्निकृत स्वेदन–

जब अग्नि का प्रयोग किए बिना ही शरीर से स्वेद उत्पन्न किया जाता है, तब यह अनाग्निकृत स्वेदन कहलाता है। इसके कुछ प्रकार निम्नलिखित है–

अ. व्यायाम– व्यायाम करते हुए शरीर से स्वेद उत्पन्न करना।

ब. उष्ण सदन– गरम कमरे में वास करते हुए स्वेद उत्पन्न करना।

स. गुरू प्रावरण– गर्म कम्बल आदि ओढ़कर स्वेद उत्पन्न करना।

द. भय अथवा क्रोध– भय अथवा क्रोध से स्वेद उत्पन्न करना।

य. युद्ध अथवा कुस्ती– युद्ध अथवा कुस्ती से स्वेद उत्पन्न करना।

स्वेदन का महत्व–

शरीर के लिए अनुपयोगी तत्व जो शरीर में मल रूप में रहते है, स्वेद के रूप में शरीर से बाहर निकल जाते है जिससे शरीर एवं कोशों में स्वच्छता आती है, शरीर निर्मल व स्वच्छ बनता है एवं शरीर से अतिरिक्त वसा, मेद आदि दूर होते है। स्वेदन कर्म करने से शरीर की अग्नि प्रदिप्त होती है, कोशों में मृदुता आती है, त्वचा का वर्ण निखरता है निन्द्रा एवं तन्द्रा का परिहार होता है एवं सन्धियों की जड़ता दूर होती है।

प्रिय विद्यार्थियों, स्वेदन कर्म सभी वात रोगों में विशेष लाभकारी होता है। इसके साथ साथ-साथ त्वचा सम्बन्धी रोगों, सर्दी जुकाम एवं कफ दोष से सम्बन्धी रोगों में भी स्नेदन कर्म लाभ प्रदान करता है।

स्वेदन कर्म की सावधानियाँ–

स्वेदन कर्म में शरीर के कोमल अंगों जैसे हृदय, नेत्र एवं वृषण आदि की सुरक्षा अनिवार्य रूप से करनी चाहिए अर्थात इन अंगों को स्वेदन कर्म के प्रभाव से बचाना चाहिए। साथ ही रोगी मनुष्य के बल एवं क्षमता के अनुसार ही स्वेदन कर्म कराना चाहिए।

स्वेदन कर्म से पूर्व स्नेहन कर्म (तैलोभ्यग) करना चाहिए। स्वेदन कर्म के उपरान्त व्यक्ति को खुली हवा में नहीं जाना चाहिए तथा ठण्डे जल एवं शीत द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्नेहन एवं स्नेहन कर्म के अभ्यास से शरीर के दोष चलायमान हो जाते है। इन चलायमान दोषों को पंचकर्मो के अभ्यास से आसानी से समावस्था में लाया जा सकता है।

8.5 प्रधान कर्म (पंचकर्म)–

प्रिय पाठकों, पूर्वकर्मो का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त अब आपके मन में प्रधान कर्मो (पंचकर्मो) को जानने की जिज्ञासा अवश्य बढ गयी होगी। आयुर्वेद शास्त्र में वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य एवं रक्त मोक्षण नामक पाँच कर्मो को प्रधान कर्मो (पंचकर्मो) की श्रेणी में रखा गया है, इन प्रधान कर्मो (पंचकर्मो) का सविस्तार वर्णन इस प्रकार है–

8.5.1 वमन–वमन का सामान्य अर्थ उल्टी करने से है। वह क्रिया जिसके अर्न्तगत आमाश्य में उपस्थित पदार्थ मुख मार्ग से वापिस निकाल दिया जाता है, वमन कहलाती है। वमन को परिभाषित करते हुए कहा गया कि –

''दोषों को उर्ध्वमार्ग से अर्थात मुख मार्ग से बाहर निकालना ही वमन कर्म है।''

वमन की व्याख्या करते हुए आयुर्वेद शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य शार्गधर कहते है –

''अपक्व पित्त एवं कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर निकाल देना वमन कहलाता है।''

मानव शरीर में वात–पित्त एवं कफ दोष उपस्थित होते है। इन दोषों की साम्यावस्था ही स्वास्थ्य है जबकि इन दोषों की विषम अवस्था शरीर में विभिन्न रोगों की उत्पत्ति करती है। इस विषम अवस्था में वात दोष के लिए वस्ति कर्म, पित्त दोष के लिए विरेचन कर्म एवं कफ दोष की विकृति दूर करने के लिए वमन कर्म का अभ्यास सर्वश्रेष्ठ है अर्थात कफ दोष की विकृत अवस्था को वमन कर्म के अभ्यास से भली–भाँति समावस्था में परिवर्तित किया जा सकता है।

वमन की विधि–

आयुर्वेद शास्त्र में वमन क्रिया के लिए वमन द्रव्यों का उल्लेख किया गया है इन वमन द्रव्यों में मदन फल का प्रयोग सबसे उत्तम कहा गया है। इस मदन फल के चूर्ण को सैन्धव नमक एवं मधु के साथ मिलकर प्रयोग करते हैं।

अब जितनी बार वमन की प्रवृत्ति होती है इसे वमन वेग कहा जाता है। वमन के आठ वेगों को उत्तम, छह वेगों को मध्यम एवं चार वेगों को हीन वमन कहा गया है। वमन कर्म में वेग के समय रोगी की नाभि को दबाना चाहिए तथा पीठ का मर्दन करना चाहिए। वेग की प्रकृति ना होने पर अधिक जोर नहीं लगाना चाहिए।

वमन के विभिन्न योग–

वमन कर्म के तीन प्रकार के योग होते हैं –

क. अयोग ख. अतियोग ग. सम्यक योग

क. अयोग–वमन का ठीक प्रकार से ना होना अथवा रूक–रूक कर होना अथवा केवल औषध द्रव्य का ही निकलना अयोग कहलाता है। वमन के अयोग से हृदय में अशु, स्रोतों में अशु एवं ज्वर आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

ख. अतियोग–बहुत ज्यादा वमन होने पर वमन के साथ झाग आना, रक्त आना एवं मूर्च्छा व पीड़ा अतियोग कहलाता है।

ग. सम्यक योग–शरीर के क्रमशः कफ, पित्त एवं वात दोषों का निकलना, शरीर में हल्कापन एवं मन में प्रसन्नता वमन कर्म के सम्यक योग का लक्षण है।

वमन का महत्व–वमन के प्रभाव से कफ दोष से उत्पन्न होने वाले रोग दूर होते हैं। शरीर शुद्ध होता है एवं शरीर की दुर्गन्ध दूर होती है। शरीर में लघुता आती है तथा सर्दी जुकाम, खाँसी, कुष्ठ, अम्लपित्त, पेट दर्द, भूख ना लगना, भोजन ना पचना, एवं अग्निमांध आदि कफ जन्य व्याधियां ठीक उसी प्रकार दूर होती है जिस प्रकार एक वृक्ष

की जड़ कट जाने पर उसके फल, फूल एवं पत्तियां स्वतः ही सूख जाते हैं अर्थात ये रोग समूल नष्ट हो जाते है।

वमन कर्म की सावधानियाँ–

अति कृक्ष (अधिक दुबला पतला), अधिक थकान से ग्रस्त, यात्रा किया हुआ, अध्ययन, व्यायाम एवं चिन्तन में निरन्तर रहने वाला व्यक्ति, हृदय रोगी, ग्रन्थि शोध, गर्भिणी स्त्री एवं सुकोमल बालक को वमन कर्म नहीं कराने चाहिए। वमन के उपरान्त रोगी को मीठा दूध, गन्ने का रस, अथवा चीनी का शर्बत पीलाना चाहिए। साथ ही रोगी के मुख, हाथ एवं पैर को शीतल जल से धुलाकर रोगी को आराम कराना चाहिए। वमन के उपरान्त तेज धूप में, तेज हवा में अथवा कठिन श्रम नहीं करना चाहिए।

8.5.2 विरेचन–

विरेचन का अर्थ शरीर में स्थित मल पदार्थ को अधोमार्ग से बाहर निकालने से है। इस कर्म के अर्न्तगत शरीर में स्थित अनुपयोगी आहार का अंश (पुरीष) का विर्सजन किया जाता है। विरेचन कर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया –

''दोषों को अधोमार्ग अर्थात गुदामार्ग से बाहर निकालना ही विरेचन कर्म है''।

विरेचन कर्म पित्त दोष से उत्पन्न व्याधियों की उत्तम चिकित्सा है। शरीर में पित्त का प्रधान स्थान आमाश्य का निचला भाग है इस कर्म से आमाश्य की सफाई होती है एवं पित्त सम्बन्धी रोग दूर होते हैं।

विरेचन कर्म के अन्तर्गत मुख मार्ग से औषध ग्रहण की जाती है, यह औषध आमाश्य में स्थित दोषों को एवं आँतों में स्थित मल पदार्थो को गुदा मार्ग से बाहर निकाल देती है। साथ ही स्वस्थ व्यक्ति को अपने स्वास्थ के परिरक्षण हेतु प्रतिवर्ष शरद ऋतु एवं बसन्त ऋतु में विरेचन कर्म करना चाहिए। ऐसा करने से शरीर के दोष बाहर निकल जाते है व शरीर स्वस्थ एवं निरोगी बनता है।

विरेचन कर्म के लिये विरेचक द्रव्यों का चयन किया जाता है। भिन्न–भिन्न विरेचक द्रव्य भिन्न–भिन्न गुणों से युक्त होते है जिनका शरीर की स्थिति के अनुसार चयन किया जाता है।

विरेचक द्रव्यों के प्रकार निम्नलिखित होतें हैं –

क. अनुलोमन–ऐसे विरेचक द्रव्य जो मलों की कठोरता को तोड़कर उन्हें अधोमार्ग में ला जाने का गुण रखते है, अनुलोमन द्रव्य कहलाते है। हरीत की एक अनुलोमन विरेचक द्रव्य है।

ख. संसजन–ऐसे विरेचक द्रव्य जो आँतों में चिपके मल पदार्थो को छुड़ाने का गुण रखते है जैसे अमलतास।

ग. भेदन–ऐसे औषध द्रव्य जो सघन एवं गांठदार मल पदार्थो का भेदन करने का गुण रखते है। जैसे कुटकी।

घ. रेचन–ऐसे विरेचक द्रव्य जो मल को पतला कर देते है जैसे– निशोध।

इसके अतिरिक्त कुछ विरेचक द्रव्य आँतों की गतिशीलता को बढ़ा देते है जिससे विरेचन कर्म होने लगता है इसके अर्न्तगत जमालगोटा एवं एरण्ड तेल आदि विरेचक द्रव्य आते है।

आचार्य चरक विरेचन कर्म के तीन भेद करते है–

क. मृदु विरेचन–

वह अवस्था जिसमें विरेचन कर्म अत्यन्त धीरे–धीरे होता है। इसे मृदु विरेचन कहा जाता है। वह अवस्था को अयोग विरेचन भी कहा जाता है।

ख. मध्य विरेचन–

वह अवस्था विरेचन कर्म मध्यम रूप में अथवा सामान्य रूप से होता है। इसे सम्यक योग विरेचन कहा जाता है।

ग. तीक्ष्ण विरेचन–

वह अवस्था जिसमें विरेचन कर्म बहुत तीव्र गति से होता है। इसे अतियोग विरेचन भी कहा जाता है।

अयोग विरेचन, सम्यक योग विरेचन तथा अतियोग विरेचन के लक्षण इस प्रकार हैं –

क. अयोग विरेचन के लक्षण–

1. वात–पित्त–कफ दोषों का प्रकोप होना।
2. मल–मूत्र की अप्रवृत्ति होना।
3. शरीर में विदाह होना।।

ख. सम्यक् योग विरेचन के लक्षण–

1. वात–पित्त–कफ दोषों का शुद्ध होना
2. इन्द्रियों (ज्ञानेनिद्रयों एवं कर्मेन्द्रियों) में स्वच्छता एवं प्रसन्नता के भाव।
3. शरीरस्थ अग्नि प्रदिप्त होना एवं शरीर में हल्कापन की अनुभूति होना।

ग. अतियोग विरेचन के लक्षण–

1. वात–पित्त–कफ दोषों में विकृति उत्पन्न होना।
2. सुप्ति, निन्द्रा अथवा बल का अभाव होना।
3. रक्त मिश्रित द्रव पुरीष के साथ स्रावित होना।

विरेचन कर्म के लाभ –विरेचन कर्म कामला, पाण्डु, पक्षाधात एवं त्वचा रोगों में विशेष लाभकारी होता है। विरेचन कर्म पित्त दोष से उत्पन्न रोगों को भी दूर करता है। विरेचन कर्म के प्रभाव से शरीर मलों से रहित होता है। शरीर में रक्तचाप सन्तुलित होता है एवं वृक्क सम्बन्धित विकार दूर होते है।

सम्यक विरेचन के प्रभाव से केवल आँतों की ही सफाई नहीं होती अपितु शरीर की पेशियों का मल भी निष्कासित होता है। इससे सम्पूर्ण शरीर स्वस्थ एवं लचीला बनता है। विरेचन कर्म के प्रभाव से शरीरस्थ अग्नि प्रदिप्त होती है एवं शरीर की कार्य कुशलता बढ़ती है।

प्रिय पाठकों, संक्षेप में कहें तो विरेचन कर्म करने से शरीर के दोष एवं मल बाहर निकल जाते है परिणाम स्वरूप शरीर स्वच्छ निर्मल, दोषहीन, कान्तियुक्त एवं ओजवान बनता है।

विरेचन कर्म की सावधानियाँ–विरेचन औषधि पीने के उपरान्त आखों पर शीतल जल का प्रयोग करते हुए किसी सुगन्धित द्रव्य को सूंघना चाहिए। जिस समय विरेचन कर्म हो रहा हो ऐसे समय में तेज घूप एवं तेज हवा में नहीं जाना चाहिए। शौच की इच्छा होने पर मल के तीव्र वेगों को नहीं रोकना चाहिए तथा औषध द्रव्य का सेवन करने के बाद सोना नहीं चाहिए। इच्छा होने पर शीतल जल के स्थान पर उष्ण जल का सेवन करना चाहिए।

8.5.3 वस्ति कर्म–जिज्ञासु पाठकों, आयुर्वेद शास्त्र में वात–पित्त–कफ नामक त्रिदोषों को स्वास्थ्य का आधार माना गया है। शरीर में इन दोषों की समता स्वास्थ्य एवं इन दोषों की विषम अवस्था रोग कहलाती है। इन दोषों की विषमता को दूर करने के प्रयासों को ही चिकित्सा कहा गया हैं। इस चिकित्सा में कफ दोष की विषमता दूर करने के लिए वमन कर्म, पित्त दोष की विषमता को दूर करने के लिए विरेचन कर्म एवं वात दोष की विषमता को दूर करने के लिए वस्ति कर्म श्रेष्ठ है। आचार्य चरक वस्ति के संदर्भ में कहते है कि जो नाभि प्रदेश, कटि प्रदेश, पार्श्व एवं कक्षि में जाकर दोषों एवं मलों के संचय को मथकर शरीर का स्नेहन कर मल और दोषों के साथ आसानी से भली–भाँति वापस चली आती है, वस्ति कहलाती है।

वस्ति कर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया –

''गुदा मार्ग से औषधियों को अभ्यन्तर प्रविष्ट कराते हुए आँतों एवं गुदा का शोधन करना वस्ति कर्म है।''

वस्ति कर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली कर्म है जिसके संदर्भ में आचार्य सुश्रुत का कथन है कि स्नेहन, स्वेदन, वमन एवं विरेचन कर्म मर्यादित है किन्तु वस्ति कर्म व्यापक है अर्थात इन सबमें वस्ति कर्म सर्वाधिक प्रभावशाली कर्म है इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि वात–पित्त–कफ दोषों में वात दोष सबसे प्रधान दोष है तथा वात दोष की विषमता पित्त एवं कफ को भी विषम बना देती है चूँकि वस्ति कर्म वात दोष की प्रधान चिकित्सा है इसीलिए इसका प्रभाव पित्त एवं कफ दोषों पर भी पड़ता है तथा इसी कारण वस्ति कर्म सबसे प्रभावशाली कर्म माना गया है।

वस्ति के प्रकार–

वस्ति कर्म मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है–

क. निरूह वस्ति

ख. अनुवासन वस्ति

क. निरूह वस्ति–

जिस वस्ति में क्वाथ की प्रधानता होती है उसे निरूह वस्ति कहा गया है। शरीर के दोषों को बाहर निकाल देने के कारण एवं रोगों का हरण करने के कारण इसे निरूह कहा जाता है। चूँकि इसका प्रयोग वस्ति कर्म के रूप में किया जाता है अतः इसे निरूह वस्ति का नाम दिया गया है। निरूह वस्ति में मधु एवं सैंधव नमक को मिलाकर इसमें स्नेह एवं निरूह वर्ग पदार्थो को मिलाकर वस्ति द्रव्य तैयार करते है तत्पश्चात रोगी को मल–मूत्र त्याग कराकर अभ्यंग (स्नेहन) एवं स्वेदन के उपरान्त गुदा में वस्ति द्रव्य देते हैं।

निरूह वस्ति के योग्य व्यक्ति–

वात दोष के विकृत होने पर मल–मूत्र एवं शुक्र की गति में रूकावट आने पर, बल, वर्ण आदि का क्षय होने पर, प्लीहा रोग, गुल्म रोग, हृदय राग तथा ज्वर आदि रोग होने पर निरूह वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

निरूह वस्ति के अयोग्य व्यक्ति–

जिन्हें तत्काल स्नेहपान कराया गया हो, जिनके शरीर के दोष उभड़े हुए हो, जिसकी जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो, यात्रा से अत्यधिक थके हुए, अतिदुर्बल, भूख–प्यास से पीड़ित तथा अत्यन्त कृशकाय अवस्थाओं में निरूह वस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

ख. अनुवासन वस्ति–

जिस वस्ति में स्नेह द्रव्य की प्रधानता होती है, अनुवासन वस्ति कहलाती है। अनुवासन वस्ति अन्दर रहते हुए भी कोई दोष उत्पन्न नहीं करती है तथा यह वस्ति प्रतिदिन दी जा सकती है। अनुवासन वस्ति तेल, घी, क्वाथ, दूध, व मधु आदि के योग से बनाई जाती है। इस वस्ति में स्नेह की प्रधानता होती है।

अनुवासन वस्ति विधि–

अनुवासन वस्ति भोजन कराने के उपरान्त ही दी जाती है। भोजन के उपरान्त औषध द्रव्य शरीर में जाकर वात एवं पुरीष के साथ बिना दाह किए वापिस आ जाये तब समझना चाहिए कि अच्छी प्रकार अनुवासन हुआ है। इस कर्म के उपरान्त रोगी को श्रम के स्थान पर विश्राम करना चाहिए।

वस्ति कर्म के लाभ–

वस्ति शरीर के आन्तरिक अंगों के शोधन की श्रेष्ठ चिकित्सा है इस कर्म का प्रभाव केवल आंतों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु शरीर के सभी कोष्ठों पर इसका प्रभाव पड़ता है। वस्ति कर्म शरीरस्थ धातुओं को दृढता प्रदान करती है एवं वृद्धावस्था को आने से रोकती है। इसके प्रभाव से आयु बढ़ती है एवं शरीर की अग्नि तीव्र होती है। वस्ति वात दोषों की श्रेष्ठ चिकित्सा है। वस्ति द्रव के रूप में प्रयुक्त तेल एवं घी आदि द्रव्य वात की रूक्षता को दूर करता है एवं मन को प्रसन्नता प्रदान करता है।

8.5.4 नस्य कर्म–

प्रिय पाठकों, नस्य कर्म पंचकर्मो में चौथा कर्म है। इस कर्म को बहुत सारे व्यक्ति अत्यन्त व्यवहारिक रूप में अपनाते है। नासिका से जल ग्रहण करना, रात्रिकाल में नासा रन्ध्रों में गाय का घी अथवा सरसों का तेल डालना, सिर में भारीपन अथवा सिरदर्द होने पर भाप लेना या विशिष्ट चूर्णो को सूंघना नस्य कर्म के विविध रूप है। इस नस्य कर्म का वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में अत्यन्त नियम पूर्वक किया गया है तथा वस्ति के उपरान्त रोगी को नस्य देने का निर्देश किया गया है। नस्य कर्म परिभाषित करते हुए कहा गया –

'औषध द्रव्य चूर्ण अथवा औषध द्रव नासिका रन्ध्रों द्वारा ग्रहण करने की क्रिया नस्य कर्म कहलाती है''।

हमारे शरीर की सभी क्रियाओं एवं अंगप्रत्यंग का नियन्त्रण शीर्ष प्रदेश से होता है शीर्ष–प्रदेश में मल पदार्थ एकत्र होने पर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। नस्य कर्म के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों एवं मस्तिष्क के साथ–साथ तन्त्रिका तंत्र का शोधन होता है जिसका सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव पड़ता है।

नस्य कर्म के भेद–

आचार्य चरक नस्य कर्म को तीन भेदों में विभाजित करते हैं–

क. रेचन नस्य ख. तर्पण नस्य ग. शमन नस्य

क. रेचन नस्य–

जो नासिका मार्ग से स्राव पूर्वक दोषों को बाहर निकाल दे, रेचन नस्य कहलाता है।

ख. तर्पण नस्य–

नासिका में ऐसे सिद्ध द्रव्यों (घृत, तेल आदि) का प्रयोग करना जिनसे शीर्ष प्रदेश का तर्पण हो जाये, तर्पण नस्य कहलाता है।

ग. शमन नस्य–

नासिका में ऐसे औषध द्रव अथवा औषध चूर्ण का प्रयोग करना जिनसे प्रकुपित दोष का शमन हो जाये, शमन नस्य कहलाता है।

नस्य कर्म की विधि–

नस्य कर्म की निम्नलिखित पाँच विधियां होती है–

क. नावन ख. अवपीड ग. ध्मापन

घ. धूम ड प्रतिमर्श

क. नावन–

रूई के द्वारा औषध द्रव को बिन्दु–बिन्दु करके नासिका में डालना नावन कहलाता है।

ख. अवपीड़–

वस्त्र में औषध द्रव को लेकर वस्त्र को निचोड़ते हुए औषध द्रव को नासिका में डालना अवपीड़ कहलाता है।

ग. ध्मापन–

किसी नली के द्वारा औषध चूर्ण को नली में फूंक मारकर नासिका में प्रवेश कराना ध्मापन कहलाता है।

घ. धूम–

औषध चूर्ण के धूंए को नासिका द्वारा ग्रहण करना घूम कहलाता है।

ड़. प्रतिमर्श–

औषध द्रव को उंगली की सहायता से नासिका में दो बूंद टपकाना प्रतिमर्श कहलाता है।

नस्य कर्म के काल–

प्रातःकाल प्रतिमर्श नस्य लेने से नासिका स्वच्छ होती है। कफ आदि दोष दूर होते है एवं मन प्रसन्न होता है। दन्त धावन के उपरान्त नस्य कर्म करने से मुख का शोधन होता है। घर से बाहर जाते समय नस्य कर्म करने से धूल–धुंए आदि का नकारात्मक प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। व्यायाम के उपरान्त नस्य कर्म करने से थकावट दूर होती है।

नस्य कर्म का महत्व–

नासिका सिर का द्वार होता है। इस द्वार से प्रविष्ठ होकर औषधी सम्पूर्ण सिर के विकारों को दूर करती है। नस्य कर्म के प्रभाव से दूषित कफ दोष का अवरोध दूर होता है। नस्य कर्म सेवन से नेत्र रोग, कर्मरोग, बालों का झड़ना, सफेद होना, सिर शूल, सिर में भारीपन आदि रोगों व दूर होते है। मुख पर प्रसन्नता एवं कांति की वृद्धि होती है तथा वृद्धावस्था देर से आती है।

8.5.5 रक्तमोक्षण–

रक्त शरीर की एक प्रमुख धातु है यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है एवं प्राणों का धारण करती है। रक्त को जीवन रस की संज्ञा दी जाती है क्योंकि यही जीवन की रक्षा

करती है इस रक्त में विकार आने पर अनेकों रोग उत्पन्न होते है रक्त मोक्षण का सम्बन्ध रक्त शुद्धि के साथ है।

''शरीर में स्थित रक्त का मोक्षण करना अर्थात बहा देना या बाहर निकालना रक्त मोक्षण कर्म कहलाता है। इस क्रिया के अन्तर्गत शरीर से दुष्ट रक्त (अशुद्ध रक्त) का निर्हरण करते है जो दो प्रकार से किया जाता है–

क. शस्त्र द्वारा ख. शस्त्र रहित

क. शस्त्र द्वारा–

इस विधि में तेज एवं निर्जिवाणु कृत शस्त्रों का प्रयोग कर शरीर से अशुद्ध रक्त को बाहर निकाला जाता है।

ख. शस्त्र रहित–

इस विधि में जलौका (जोक) का प्रयोग कर शरीर से अशुद्ध रक्त बाहर निकाला जाता है।

रक्त मोक्षण की विधि–

इसके लिए सर्वप्रथम दूषित रक्त युक्त धमनी एवं शिराओं की स्थिति का ज्ञान किया जाता है। जिज्ञासु पाठकों, वास्तव में रक्त दूषित नहीं होता अपितु जब प्रकुपित दोष (पित्त) रक्त में मिलता है तब उस दोष के प्रभाव से वह रक्त विकारमय हो जाता है तथा इस रक्त से शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं।

रक्तमोक्षण में इस दूषित रक्त को शरीर से बाहर निकाला जाता है। शस्त्र के द्वारा उस नस को काट कर दूषित रक्त बाहर निकाल दिया जाता है जबकि इसकी दूसरी विधि के अर्न्तगत उस स्थान को चिह्नित कर, उस स्थान से सुई के द्वारा थोड़ा सा रक्त निकाल देते है। अब उस स्थान पर जलौका को चिपका देते हैं यह जलौका दूषित रक्त का पान करने लगती है।

जब रोगी व्यक्ति को उस स्थान पर खुजली होने लगे तब समझना चाहिए कि अब जलौका का शुद्ध रक्त का पान कर रही है इस अवस्था में वहां पर सैन्धव नमक छिड़क देते है जिससे वह जलौका स्वतः ही उस स्थान को छोड़ देती है।

रक्त मोक्षण कर्म पित्त शोधक ऋतु अर्थात शरद ऋतु में करना अधिक श्रेयकर होता है। इस ऋतु में रोगी व्यक्ति की शारीरिक क्षमता एवं बल के अनुसार रक्त मोक्षण करते हैं।

रक्त मोक्षण के लाभ–

रक्तमोक्षण पित्तज (पित्त दोष की विकृति से उत्पन्न) रोगों में लाभ प्रदान करता है। पित्त दोष की विकृति से त्वचा रोग, फोड़े–फुँसी, कुष्ठ एवं कोढ आदि रोग उत्पन्न होते है। इन सभी रोगों में रक्त मोक्षण कर्म लाभ प्रदान करता है।

रक्तमोक्षण की सावधानियाँ–

यद्यपि रक्तमोक्षण अत्यन्त लाभकारी कर्म है किन्तु इस कर्म को विशेष सावधानीपूर्वक करना चाहिए। इसमें सबसे पहली सावधानी प्रकुपित रक्त से युक्त शिरा को पहचानने की होती हैं फिर सावधानी से उस स्थान से निश्चित मात्रा में ही रक्त को बाहर निकालते है तथा रक्तमोक्षण के उपरान्त उस स्थान पर हरिद्रा चूर्ण तथा तेल द्वारा उपचार करते है।

8.6 पश्चात कर्म–

प्रधान कर्मो के उपरान्त किये जाने वाले कर्म पश्चात कर्म कहलाते है। इन कर्मो के अर्न्तगत रोगी व्यक्ति को प्रधान कर्मो के उपरान्त कराया जाता है पश्चात कर्मो में संर्सजन कर्म, शमन कर्म एवं रसायन प्रयोग का वर्णन आता है–

8.6.1 संर्सजन कर्म–

प्रिय पाठकों वमन, विरेचन आदि पंचकर्मो के प्रभाव से रोगी व्यक्ति की आन्तरिक ऊर्जा प्रभावित होती है तथा प्रायः इस स्थिति में शरीर की जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। इस जठराग्नि को प्रदिप्त कराने हेतु रोगी को हल्का, सुपाच्य एवं ऊर्जावान आहार दिया जाता है इस अवस्था में रोगी के बारह अन्नकाल को सात दिनों की अवधि तक दिया जाता है, आहार की यह क्रम व्यवस्था संर्सजन कर्म कहलाती है।

8.6.2 शमन कर्म–प्रधान कर्मो के उपरान्त रोगी को ऐसा विहार करना चाहिए जिससे उसके शरीर के प्रकुपित दोष का शमन हो जाये अर्थात रोगी को इस प्रकार के पेय पदार्थो का सेवन करना चाहिए जिसका शमन रूप में प्रभाव उसके शरीर पर पड़े। इस कर्म के अर्न्तगत रोगी व्यक्ति के शरीर की वात–पित्त कफ प्रकृति का ध्यान रखते हुए काढ़ा तैयार कर उसका सेवन भी कराया जाता है।

8.6.3 रसायन–पंचकर्म के द्वारा शरीर शोधन करने के उपरान्त रोगी व्यक्ति को विशेष गुणों से युक्त रसायन देना चाहिए। पंचकर्मो से शरीर शोधन होने पर इन रसायन का प्रभाव रोगी व्यक्ति की प्रशस्त धातुओं पर भलि-भांति पड़ता है तथा रसायन के प्रभाव शरीर की धातुएं पुष्ट होती है। धातुओं के पुष्ट होने से शरीर की जीवनी शक्ति बढ़ती है एवं वह रोग पर शीघ्र विजय प्राप्त करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न– सत्य/असत्य

1. स्नेहन एवं स्वेदन पश्चात कर्म है।
2. जिस वस्ति में स्नेह द्रव्यों की प्रधानता होती है, अनुवासन वस्ति कहलाती है।
3. वस्ति कफ दोषों की श्रेष्ठ चिकित्सा है।
4. विरेचन कर्म पित्त दोष से उत्पन्न व्याधियों की उत्तम चिकित्सा है।
5. रक्त मोक्षण के अर्न्तगत शरीर से अशुद्ध रक्त का निर्हरण करते है।

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(क) स्नेहन से ..... दोष दूर होता है।
(ख) वमन के ..... वेगों को उत्तम कहा गया है।
(ग) ..... सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त शरीर का प्रमुख धातु है।
(घ) नस्यकर्म प्रभाव से दूषित ..... दोष का अवरोध दूर होता है।
(ड) रात्रिकाल में नासारन्ध्रों में गाय का घी डालना ..... कर्म का व्यवहारिक प्रयोग है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) शरीर से पसीना निकालने की क्रिया कहलाती है

(a) स्वेदन (b) स्नेहन
(c) वमन (d) विरेचन

(ख) वमन द्रव्यों से सबसे उत्तम द्रव्य है –

(a) जायफल (b) मदनफल
(c) जमालघोटा (d) कुटकी

(ग) दोषों को अधोमार्ग से निकालना कौन सा कर्म है –

(a) षट्कर्म (b) वमन कर्म
(c) विरेचन कर्म (d) स्नेहन कर्म

(घ) सघन एवं गांठदार मल का भेदन करने वाला द्रव्य है –

(a) मदन फल (b) कुटकी
(c) अमलतास (d) हरितकी

(ड़) विरेचन कर्म के उपरान्त करना चाहिए –

(a) आँखों पर शीतल जल का प्रयोग (b) सुगन्धित द्रव्य को सूंघना
(c) तेल धूप व हवा से बचना (d) सभी

8.7 सारांश–

प्रिय विद्यार्थियों उपरोक्त अध्ययन स्पष्ट करता है कि पंचकर्म आयुर्वेद चिकित्सा की नींव है। इन पंचकर्मो का अभ्यास रोगी को कराने से रोगी के शरीर से अशुद्धियां बाहर निकलती है, शरीर में स्थित वात–पित्त कफ दोषों में समता उत्पन्न होती है अतिरिक्त मेध, श्लेष्मा, कफ आदि दोष दूर होते है।

इन पंचकर्मो को पूर्वकर्म, प्रधान कर्म एवं पश्चात कर्मे के रूप में तीन भेदों में विभक्त किया गया है। पूर्वकर्मो में स्नेहन एवं स्वेदन कम्र का वर्णन आता है जिसका अभ्यास

रोगी व्यक्ति को कराने से रोगी व्यक्ति के शरीर की कठोरता दूर होती है तथा उसके शरीर में मृदुता आती है।

प्रधान कर्मो के अर्न्तगत वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य एवं रक्त मोक्षण कर्म का वर्णन आता है। वमन कर्म अपक्व पित्त एवं कफ को बलपूर्वक मुखमार्ग से बाहर निकालने की क्रिया है, विरेचन कर्म शरीर में स्थित मल पदार्थ को अधोमार्ग से बाहर निकालता है। वस्ति कर्म के अर्न्तगत गुदा मार्ग से औषधियों को अभ्यान्तर प्रविष्ट कराते हुए आँतों एवं गुदा का शोधन करता, वस्ति कर्म कहलाता है। औषध द्रव्य चूर्ण अथवा औषध द्रव नासिका रन्ध्रों द्वारा ग्रहण करने की क्रिया नस्य कम्र कहलाती है। शरीर में स्थित अशु(रक्त को बाहर निकालने की क्रिया रक्तमोक्षण कहलाती है।

उपरोक्त प्रधान कर्मो के उपरान्त आयुर्वेद शास्त्र में पश्चात कर्मो का उल्लेख किया गया है, इन पश्चात कर्मो में संर्सजन कर्म, शमन, एवं रसायन का वर्णन आता है। संर्सजन कर्म के अर्न्तगत रोगी व्यक्ति के लिए उपयुक्त पथ्य आहार का वर्णन आता है, शमन कर्म में दोष शमन हेतु किये गये विहार का वर्णन एवं रसायन कर्म में विशेष गुण से युक्त रसायन अथवा औषध द्रव्य के प्रयोग का वर्णन किया गया है।

8.8 शब्दावली–

प्रदिप्त	तीव्र होना
विदाह	जलन
कृशकाय	कमजोर शरीर (हल्का)
प्रवृन्ति	इच्छा
जलॉका	तालाब में पाये जाने वाला तथा रक्त चूसने वाला जन्तु
परिरक्षण	बनाये रखना
पथ्य	खाने योग्य लाभकारी भोजन

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	असत्य	क.	कफ	क.	b
ख.	सत्य	ख.	आठ	ख.	a
ग.	असत्य	ग	रक्त	ग.	a
घ.	सत्य	घ.	कफ	घ.	b
ड.	सत्य	ड.	नस्य कर्म	ड.	d

8.10 संन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. राय डा. विजय कुमार (वि.सं. 2067), आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान, चौखम्बा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
2. सिंह प्रो. रामहर्ष (2011), स्वस्थवृत्त विज्ञान, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

8.11 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. आयुर्वेदोक्त पंचकर्मो की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2 पंचकर्मो की विधि लाभ एवं सावधानियाँ लिखिए।

इकाई 9 –षट्कर्म एवं पंचकर्म – सामान्य विवेचन

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 षट्कर्म एवं पंचकर्म सारूप्य विवेचन
9.3.1 धौति कर्म का सारूप्य विवेचन
9.3.2 वस्ति कर्म का सारूप्य विवेचन
9.3.3 नेति कर्म का सारूप्य विवेचन
9.3.4 नौलि कर्म का सारूप्य विवेचन
9.3.5 त्राटक कम्र का सारूप्य विवेचन
9.3.6 कपालभाति कर्म का सारूप्य विवेचन
9.4 सारांश
9.5 शब्दावली
9.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
9.8 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना–

प्रिय विद्यार्थियों पूर्व में आपने यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म का ज्ञान प्राप्त किया तथा जाना कि इन दोनों कर्मो का उद्देश्य शरीर शोधन एवं शरीर के वात, पित्त, कफ, दोषों की विषमता को दूर करना होता है। योग एवं आयुर्वेद ये दोनों विद्याएं ऋषिप्रोक्त हैं अर्थात ऋषियों ने जन कल्याण की भावनाओं से मुक्त होकर मानव प्रोक्त शरीर को स्वस्थ बनाने हेतु इनका उपदेश किया। इन दोनों विद्याओं का उदगम एक देश (भारतवर्ष) की पावन भूमि पर हुआ।

यौगिक षट्कर्मो का उल्लेख हठयोग के घेरण्ड संहिता एवं हठप्रदीपिका नामक ग्रन्थों में सविस्तार प्राप्त होता हैं जबकि आयुर्वेद शास्त्र में पूर्व कर्म, प्रधान कर्म एवं पश्चात कर्म के रूप में पंचकर्मो का वर्णन प्राप्त होता है। षट्कर्मो के अन्तर्गत धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक एवं कपालभाति नामक छः क्रियाओं का उल्लेख आता है जबकि पंचकर्मो में स्नेहन एवं स्वेदन कर्म पूर्व कर्म के रूप में तथा वमन, विरेचन, वस्ति कर्म, नस्य कर्म एवं रक्त मोक्षन कर्म प्रधान कर्मो के रूप में वर्णित किया गया है। यौगिक षट्कर्मो का उद्देश्य शरीर में स्थित विजातीय द्रव्यों को बाहर निकालना एवं शरीर का शोधन करना होता है। ठीक इसी उद्देश्य को लेकर आयुर्वेदोक्त पंचकर्म का वर्णन आता है अर्थात यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म उद्देश्य में समानता रखते है। प्रस्तुत इकाई में हम यौगिक षट्कर्म एवं आयुर्वेदोक्त पंचकर्म के सारूप्य विवेचन अर्थात समानताओं के बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

9.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- षट्कर्मो एवं पंचकर्मो का सारूप्य विवेचन कर सकेंगे।
- षट्कर्मो एवं पंचकर्मो में समानताओं का ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।
- षटकर्मो एवं पंचकर्मो के लाभों, उद्देश्यों एवं महत्व में समानता के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

9.3 षट्कर्म एवं पंचकर्म सारूप्य विवेचन–

प्रिय पाठकों, जिस प्रकार यौगिक क्रियाएं एवं योगाभ्यास अभ्यासी साधक को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रदान करता है, ठीक इसी प्रकार समान रुप से आयुर्वेद शास्त्र मनुष्य के जीवन को स्वस्थ एवं सुखमय बनाने का उपदेश करता है। हठयोग के सप्तांग का प्रथम अंग षट्कर्म है जिसका उद्देश्य शरीर का शोधन करना है। आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्सा से पूर्व शरीर शोधन हेतु पंचकर्मो का निर्देश किया गया है। योग एवं आयुर्वेद दोनों शास्त्र ऋषियों द्वारा जनकल्याण हेतु वर्णित किए गये है, इन दोनों के साम्य रूप विवेचन का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है–

9.3.1 धौति कर्म का सारूप्य विवेचन–

यौगिक षट्कर्मो में धौति कर्म को प्रथम कर्म के रूप में वर्णित किया गया है। महर्षि घेरण्ड र्धाति कर्म को चार भागों में बाँटकर पुनः इनके उपभेदों का वर्णन घेरण्ड संहिता में करते है जबकि स्वात्माराम योगी धौति कर्म के प्रकार वस्त्र धौति एवं गजकरणी क्रिया के रूप में वर्णन करते हैं। इस कर्म का उद्देश्य पाचन तंत्र का शोधन करना है। इस धौति क्रिया का अभ्यास मुख्य रुप से कफ दोष की विकृत अवस्था को दूर करता है एवं कफ रोगों को दूर करता है।

पंचकर्मो के अर्न्तगत वर्णित वमन कर्म का साम्य रूप धौति कर्म से किया जाता है। वमन कर्म में एवं धौति कर्म की विधियों में अन्तर अवश्य है किन्तु उद्देश्य एवं फल के दृष्ट्रिकोण से ये कर्म समानताए रखते है। यौगिक षट्कर्म में वर्णित धौति कर्म में सामान्य जल का प्रयोग किया जाता है जबकि आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में वर्णित वमन कर्म में औषध द्रव्य का प्रयोग किया जाता है इसके प्रभाव से स्वतः ही वमन क्रिया होने लगती है।

वारिसार अन्तधौति की तुलना विरेचन कर्म के साथ की जाती है। वारिसार अन्त धौति में जल के द्वारा पाचन तंत्र का शोधन किया जाता है जबकि विरेचन कर्म में विरेचक औषध द्रव्य का प्रयोग किया जाता है। इन कर्मो में वारिसार अन्तधौति में आसनों के अभ्यास से आन्तरिक नाड़ी मण्डल पर नियंन्त्रण स्थापित कर आन्तरिक अंगों (पाचन अंगों) को सक्रिय बनाया जाता है जबकि विरेचन कर्म में औषध द्रव्य के प्रभाव से आन्तरिक अंग सक्रिय होकर शुद्धि की क्रिया को पूर्ण कराते हैं।

प्रिय पाठकों, पाचन तंत्र के अलग–अलग अंगों को स्वच्छ एवं सक्रिय बनाने के उद्देश्य से धौति कर्म के भेदों एवं उपभेदों का वर्णन यौगिक षट्कर्मो में किया गया है, जबकि आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित विरेचन कर्म सम्पूर्ण पाचन तंत्र को स्वच्छ एवं क्रियाशील बनाने की क्रिया है। इन दोनों कर्मों का फल पाचन तंत्र के स्वच्छ, सक्रिय एवं रोग रहित होने के रुप में मिलता है। इस प्रकार इन दोनों कर्मो की विधि एवं प्रकार अलग–अलग होने के बाद भी इन दोनों कर्मो के उद्देश्य, प्रभाव एवं फलों में समानता पायी जाती है। इस कारण इनका साम्य रूप उचित प्रतीक होता है।

9.3.2 वस्ति कर्म का सारूप्य विवेचन–

यौगिक षट्कर्मो में द्वितीय क्रिया के रूप में वस्ति कर्म का उल्लेख किया गया है। महर्षि घेरण्ड वस्ति कर्म को जलवस्ति एवं शुष्क वस्ति के रूप में वर्णित करते है। इस कर्म का उद्देश्य बड़ी आँत को जल एवं वायु के द्वारा स्वच्छ बनाना होता है। चूँकि बड़ी आँत वायु का प्रधान स्थान है तथा इस वायु की विछत अवस्था को सम बनाने के उद्देश्य से वस्ति क्रिया का अभ्यास किया जाता है। यौगिक षट्कर्मो एवं आयुर्वेदिक पंचकर्मो में वस्ति कर्म को समान रूप में वर्णित किया गया है। पंचकर्मो में वस्ति कर्म को वमन, विरेचन के उपरान्त किये जाने वाले प्रधान कर्म के रूप में रखा गया है।

आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में वस्ति कर्म को वात दोष की विषमता दूर करने की श्रेष्ठ चिकित्सा कहा गया है जिस प्रकार यौगिक षट्कर्मो में इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्म माना गया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में भी इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि वस्ति कर्म वात दोष की प्रधान चिकित्सा है जिसका प्रधान पित्त एवं कफ दोष पर भी पड़ता है तीनों दोषों पर प्रभाव डालने के कारण वस्ति कर्म अत्यन्त प्रभावशाली कर्म है।

यौगिक षट्कर्म में वर्णित वस्ति कर्म में आसन में (उत्कट आसन) स्थित होकर गुदा आकुंचन एवं परासरण क्रिया के द्वारा जल एवं वायु ग्रहण की जाती है जबकि आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में वर्णित वस्ति कर्म में वस्ति द्रव्य (औषध द्रव्य) को गुदा में देने की विधि का वर्णन किया गया है। यह वस्ति द्रव्य बड़ी आँत में जाकर शोधन कर्म करता है, अर्थ यह है कि इन दोनों कर्मो की अलग–अलग विधि का वर्णन किया गया है जबकि ये दोनों कर्म समान रूप से प्रभावी एवं लाभकारी होते हैं।

प्रिय पाठकों हठ प्रदीपिकार स्वात्माराम योगी वस्ति कर्म के फलों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

गुल्मप्ली होदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्म प्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः।। (ह0प्र0 2/28)

अर्थात वस्ति क्रिया के अभ्यास के फलस्वरूप गुल्म, प्लीहा, जलोदर, एवं वात–पित्त–कफ दोष की विषमता दूर होती है।

इसी प्रकार आचार्य सश्रुत वस्ति कर्म के सम्बन्ध में कहते है कि स्नेहन, स्वेदन, वमन एवं विरेचन कर्म मर्यादित हैं किन्तु वस्ति कर्म व्यापक है अर्थात वस्ति कर्म अत्यन्त प्रभावशाली कर्म है।

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यौगिक षट्कर्मो एवं आयुर्वेदिक पंचकर्मो में वर्णित वस्ति कर्म की विधि अलग–अलग होने के बाद भी यह कर्म समान लाभ एवं प्रभाव रखता है। इन दोनों स्थानों पर वस्ति कर्म समान रूप से उपयोगी एवं प्रभावशाली माना गया है।

9.3.3 नेति कर्म का सारूप्य विवेचन–

यौगिक षट्कर्मो में नेति कर्म को शुद्धिकरण की तीसरी क्रिया के रूप में वर्णित किया गया है। इस नेति कर्म के अर्न्तगत सूत की रस्सी (सूत्र नेति) के द्वारा नासिका की शुद्धि का उपदेश किया गया है। यह अभ्यास सम्पूर्ण शीर्ष प्रदेश के शोधन के उद्देश्य से किया जाता है।

आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में नेति कर्म के साम्य रूप में नस्य कर्म का वर्णन किया गया है। पंचकर्म में नस्य कर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि औषध द्रव्य चूर्ण अथवा औषध द्रव नासिका रन्ध्रों द्वारा ग्रहण करने की क्रिया नस्य कर्म कहलाती है। यह नस्य कर्म ज्ञानेन्द्रियों एवं मस्तिष्क के शोधन की क्रिया के रूप में कराया जाता है।

यौगिक षट्कर्मो में नेति कर्म को शीर्ष प्रदेश के शोधन एवं इन्द्रियों को दोष रहित बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। जिसका फल गले से ऊपर के सभी अंग अवयवों के स्वस्थ बनाने के रूप में प्राप्त होता है। नेति कर्म के फलों पर प्रकाश डालते हुए स्वात्माराम योगी लिखते है कि–

कपालशोधनी चैव व्यिदृष्ट्रि प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्व जातरोगौधं नेतिराशु निहन्ति च।। (ह0 प्र0 2/31)

अर्थात नेति क्रिया कपाल प्रदेश को शुद्धि करती है दिव्य दृष्टि प्रदान करती है और स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोग समूहों को शीघ्र नष्ट करती है।

ठीक इसी प्रकार नस्य कर्म के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि नासिका सिर का द्वार होता है, इस द्वार के प्रविष्ट होकर औषधि सम्पूर्ण सिर के विकारों को दूर करती है। जिस प्रकार यौगिक ग्रन्थों में नेति कर्म को गले से ऊपर के सभी रोगों को दूर करने की क्रिया के रूप में उपदेशित किया ठीक उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में नस्य सेवन से नेत्र रोग, कर्ण रोग, बालों के रोग तथा सिर में भारीपन आदि रोगों का दूर होना वर्णित किया गया।

उपरोक्त तथ्य स्पष्ट करते है कि यौगिक षट्कर्मो में वर्णित नेति कर्म नस्य कर्म के समतुल्य क्रिया है, इन दोनों क्रियाओं में विधि भेद होने के उपरान्त भी फल, प्रभाव एवं लाभ में अत्यधिक समानता प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण नेति कर्म एवं नस्य कर्म समरूप क्रियायें है।

9.3.4 नौलि कर्म का सामान्य विवेचन–

नौलि कर्म उदर की मांसपेशियों को सक्रिय, स्वस्थ एवं निरोगी बनाने वाली यौगिक षट्कर्मो की चौथी क्रिया है। इस क्रिया से पाचन तन्त्र स्वस्थ एवं सक्रिय होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है एवं शरीर ऊर्जावान बनता है।

पंचकर्मो में पूर्वकर्म के रूप में वर्णित स्नेहन कर्म को नौलि क्रिया के साम्य रूप में रखा जा सकता है। स्नेहन कर्म स्नेह पदार्थो के प्रयोग से शरीर के कोषों एवं धातुओं को स्वस्थ बनाने की क्रिया है। स्नेहन कर्म में शरीर की बाच्य रुप से मालिश की जाती है जबकि नौलि कर्म में आन्तरिक अंगों की मालिश स्वतः ही होती है। इस प्रकार षट्कर्म में वर्णित नौलि क्रिया को स्नेहन कर्म के साथ साम्य रूप में जोड़ा जा सकता है। नौलि कर्म के लाभों पर प्रकाश डालते हुए हठप्रदीपिका कार स्वात्माराम योगी कहते हैं–

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधायिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः।। (हठप्रदीपिका *2/35)*

अर्थात् सदा–सर्वदा आनंद को लाने वाली यह नौलि–क्रिया मन्द जठराग्नि को प्रदीप्त कर पाचन क्रिया आदि को तेज करती है। विविध दोषों तथा रोगों को नष्ट करती हैं इसलिये यह हठक्रियाओं में श्रेष्ठ है।

इसी प्रकार स्नेहन कर्म के लाभों को वर्णित करते हुए आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया कि स्नेह पान करने से व्यक्ति की जठराग्नि प्रदिप्त होती है, कोशिकाएँ शुद्ध होती है तथा धातुओं में नवीनता की उत्पत्ति होती है। स्नेहन करने से शारीरिक बल एवं वर्ण में वृद्धि होती है, वृद्धावस्था देर से आती है तथा आयु बढ़ती है।

अथार्त इन दोनों कर्मो में विधि भेद होने के बाद भी फल एवं लाभ के दृष्टिकोण से समानतो पायी जाती है। इन समानताओं के आधार पर इन दोनों कर्मो में साम्यरूपता की जा सकती है।

9.3.5 त्राटक कर्म का सारूप्य विवेचन–

त्राटक कर्म यौगिक षट्कर्मो की पांचवी क्रिया है। जिसका अभ्यास करने से मानसिक एकाग्रता एवं शान्ति प्राप्त होती है। प्रिय पाठकों पंचकर्मो के साथ इस क्रिया का सारूप्य विवेचन प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा सकता है किन्तु फिर भी पंचकर्म चिकित्सा का उद्देश्य रोगी पुरूष के शरीर का शोधन करते हुए उसे स्वस्थ एवं विकार मुक्त बनाना होता है जिससे वह अपने जीवन को सुखपूर्वक (सुखायु की वृद्धि करना) एवं शान्ति पूर्वक व्यतीत कर सके।

9.3.6 कपालभाति कर्म का सामान्य विवेचन–

कपालभाति कर्म शरीर की गन्दगियों को वायु एवं जल के द्वारा बाहर निकालने की छठी क्रिया है। यह अभ्यास प्रश्वास के रूप में रक्त में स्थित गन्दगियों को बाहर निकालने का काग्र करता है अथवा रक्त विकारों को श्वसन क्रिया के माध्यम से बाहर निकालने का अभ्यास कपालभाति कर्म कहलाता है।

आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में वर्णित पूर्वकर्म स्वेदन एवं प्रधान कर्म रक्त मोक्षण रक्त में उपस्थित अशुद्धियों को बाहर निकालने के उद्देश्य से किये जाते है। उद्देश्यों में समानता के आधार पर इन दोनों कर्मो को साम्य रूप में कपालभाति कर्म के साथ जोड़ा जा सकता है।

स्वेदन कर्म में पसीने के रूप में शरीर की गन्दगियों को बाहर निकालने का निर्देश दिया गया है तथा स्वेदन कर्म को अत्यन्त लाभकारी कर्म की संज्ञा दी गयी है। रक्त मोक्षण कम्र शरीर में स्थित अशुद्ध रक्त को बाहर निकालने की क्रिया हैं इस क्रिया में शस्त्र के द्वारा अथवा जलौका नामक जीव के द्वारा शरीर में स्थित दोष युक्त रक्त का निर्हरण किया जाता है। इस क्रिया का फल पित्त दोष की विकृति से उत्पन्न रोगों को दूर होने के रूप में प्राप्त होता है। यह अभ्यास त्वचा रोग, फोड़े–फुन्सी एवं कुष्ठ आदि रोगों को दूर करता है। ठीक इसी प्रकार यौगिक षट्कर्म कपालभाति शरीर की गन्दगियों को दूर करता है। सर्दी, जुकाम, खाँसी एवं त्वचा रोगों में यह अभ्यास शीघ्र लाभ प्रदान करता है। इस क्रिया के अभ्यास से शरीर की कान्ति एवं आभा बढ़ती है तथा व्याधि, जरा एवं बुढ़ापा आदि अवस्थाओं के लक्षण अभ्यासी साधक के शरीर में नहीं आते।

इस प्रकार उद्देश्य एवं फलों में समरूपता के आधार पर कपालभाति कर्म को स्वेदन एवं रक्त मोक्षण कर्म के साथ जोड़ना उचित प्रतीक होता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न–

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

क. योग एवं आयुर्वेद दोनों विधाएं ..... हैं।

ख. यौगिक षट्कर्मो का उद्देश्य शरीर में स्थित ..... को बाहर निकालना है।

ग. पंचकर्म में वर्णित वमन कर्म का साम्य रूप ..... से किया जाता है।

घ.आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में नेति कर्म के साम्य रूप में ..... का वर्णन किया गया है।

ड. आयुर्वेदोक्त पंचकर्म में वास्ति कर्म को ..... की विषमता दूर करने की श्रेष्ठ चिकित्सा कहा गया है।

ढ. यौगिक षट्कर्मो एवं आयुर्वेदिक पंचकर्मो में ..... को समान रूप से वर्णित किया गया है

सत्य/असत्य

क. हठयोग के सप्तांग का अन्तिम अंग षट्कर्म है।

ख. वारिसार अन्त धौति की तुलना विरेचन कर्म से की जाती है।

ग. आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित वमन कर्म एवं विरेचन कर्म सम्पूर्ण पाचन तंत्र को स्वच्छ एवं क्रियाशील बनाने की क्रिया है।

घ. आचार्य सुश्रुत के अनुसार वस्ति कर्म व्यापक है।

ड. स्वेदन कर्म में वमन के रूप में शरीर की गन्दगियों को बाहर निकालने का निर्देश दिया गया है।

च. रक्त मोक्षण कर्म शरीर में स्थित शुद्ध रक्त को बाहर निकालने की क्रिया है।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

क. यौगिक षट्कर्म का उल्लेख किस ग्रन्थ में मिलता है।

a. हठ प्रदीपिका

b घेरण्ड संहिता

c . दोनों में

d . किसी में नहीं

ख. यौगिक षट्कर्म कपालभाति किस आयुर्वेदोक्त पंचकर्म से साम्य रूप रखता है–

a स्वेदन

b रक्त मोक्षण

c. दोनों से

d. किसी से नहीं

ग. नस्य सेवन किस रोग में प्रभावी होता है–

a . नेत्र रोग में

b कर्ण रोग में

c. सिर में भारीपन

d. इन सभी में

घ. स्नेहन कर्म किस षट्कर्म से साम्य रूप रखता है–

a . नौलि कर्म

b वस्ति कर्म

c. धौति कर्म

d. कपालभाति कर्म

ड. किस यौगिक षट्कर्म का पंचकर्मो के साथ सारूप्य विवेचन प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा सकता।

a . कपालभाति कर्म

b त्राटक कर्म

c. धौति कर्म
d. नेति कर्म

ढ. पंचकर्मो के अर्न्तगत वमन कर्म का साम्य रूप किस षट्कर्म से किया जाता है।

a . नेति कर्म
b वस्ति कर्म
c. धौति कर्म
d. नौलि कर्म

9.4 सारांश–

प्रिय विद्यार्थियों योग एवं आयुर्वेद दोनों भारतीय दर्शन है। इन दोनों विद्याओं का उपदेश ऋषि प्रोक्त है अर्थात ऋषियों ने जन सामान्य के दुःखों को दूर करने के उद्देश्य से एवं लोक कल्याण की भावना से युक्त होकर योग शास्त्र एवं आयुर्वेद शास्त्र का उपदेश किया। योग शास्त्र में साधना के पथ पर आगे बढ़ने के लिये प्रथम सीढ़ी के रूप में षट्कर्म का उपदेश किया गया जबकि आयुर्वेद शास्त्र में रोगी मनुष्य के रोग को दूर करने की चिकित्सा के प्रारम्भ में शरीर शोधनार्थ पंचकर्मो का निर्देश दिया गया है। ये पंचकर्म शरीर शोधन के साथ–साथ शरीर में त्रिदोषों को सम अवस्था प्रदान करते है।

यहां पर हमने यौगिक षट्कर्मो की आयुर्वेदोक्त पंचकर्मो से समानताओं का अध्ययन किया है। धौति कम्र षट्कर्मो का प्रथम अंग है जो आयुर्वेदोक्त वमन एवं विरेचन कम्र से साम्यरूप रखता है। वस्ति कर्म षट्कर्मो एवं पंचकर्मो में समान रूप से वर्णित कम्र है। षट्कर्मो के अर्न्तगत वस्ति कर्म में जल एवं वायु के द्वारा बड़ी आँत के शोधन का वर्णन किया गया है जबकि पंचकर्म के अन्तर्गत वस्ति कम्र में औषध द्रव्य का प्रयोग कर शोधन करने का विधान हें नेति कर्म शीर्ष प्रदेश के शोधन का कर्म है जिसके सारूप्य में पंचकर्मो में नस्य कर्म का वर्णन किया गया है। नेति कर्म शीर्ष प्रदेश का शोधन एवं इन्द्रियों को दोष रहित बनाने के उद्देश्य से की जाने वाली क्रिया है इसी उद्देश्य हेतु आयुर्वेद शास्त्र में नस्य कर्म का उल्लेख किया गया है। प्रिय पाठकों विधि भेद होने के बाद भी ये दोनों क्रियाएं समान उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु की जाती है।

नौलि क्रिया माँसपेशियों को स्वस्थ एवं सक्रिय बनाने के उद्देश्य से किया जाने वाला कर्म है, इस कर्म का साम्य रूप आयुर्वेद शास्त्र में स्नेहन क्रिया के रूप में प्राप्त होता है। स्नेहन कर्म में स्नेह पदार्थो का प्रयोग कर शरीर के कोशों, धातुओं एवं मांसपेशियों को स्वस्थ, सक्रिय एवं रोग रहित बनाया जाता है। त्राटक कम्र मानसिक एकाग्रता एवं शान्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली क्रिया है। इस क्रिया का पंचकर्मो के साथ सारूप्य विवेचन प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा सकता है।

यौगिक ग्रन्थों में षट्कर्म की छठी क्रिया के रूप में कपालभाति कर्म का वर्णन किया गया है, यह कम्र शरीर से विजातीय पदार्थो (गन्दगियों) को बाहर निकालने के उद्देश्य से किया जाता है। इस कर्म के साम्य रूप में पंचकर्मो में स्वेदन कर्म एवं रक्त मोक्षण कर्म का उल्लेख किया गया है। स्वेदन कर्म में स्वेद (पसीना) के रूप में गन्दगियों को निकाला जाता है जबकि रक्त मोक्षण कर्म में अशुद्ध रक्त शरीर से बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार ये दोनों कम्र कपालभाति के समान उद्देश्य रखते हैं।

9.5 शब्दावली–

ऋषि प्रोक्त	ऋषियों के अनुसार
गुल्म	पेट में गैस का गोला बनना
विजातीय द्रव्य	अनुपयोगी तत्व
आकुंचन	सिकोड़ना
परासरण	फैलाना
मर्यादित	सिमित
व्यापक	विस्तारित अथवा फैला हुआ
समतुल्य	समान रूप से प्रभावी अथवा बराबर

विधिभेद	अलग–अलग विधि
कोशों	कोशिकाओं
प्रत्यक्ष	सीधा–सीधा
विकार मुक्त	रोग रहित
विकृति	दोष
निर्हरण	बाहर निकालना
विधान	नियम

9.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

रिक्त स्थानों की पूर्ति–

क. ऋषि प्रोक्त
ख. विजातीय तत्वों
ग. धौति कर्म
घ. नस्य कर्म
ड. वात
ढ. वस्ति कर्म

सत्य/असत्य

क. असत्य
ख. सत्य
ग. सत्य
घ. सत्य
ड. असत्य
च. सत्य

बहुविकल्पिय प्रश्न

क. c
ख. c
ग. d
घ. a
ड. b
च. c

9.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. शास्त्री पं. काशीनाथ (वि.सं. 2059), चरक संहिता, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।
2. शास्त्री कविराज डा0 अम्बिका दत्त (वि.सं. 2060) सुश्रुत संहिता चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।
3. सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द (2004) घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्अ, मुंगेर, बिहार।
4. दिगम्बर स्वामी, झा डा0 पीताम्बर (2008), स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका कैवल्यधाम श्री मन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला पुणे।
5. राय डा0 विजय कुमार (वि0सं. 2067), आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान, चौखम्बा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

9.8 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. यौगिक षट्कर्मो का आयुर्वेदोक्त पंचकर्मो से सविस्तार सारूप्य विवेचन कीजिए।
2. यौगिक षट्कर्मो का पंचकर्मो से तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

इकाई 10 सद्वृत्त का निरूपण

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 सद्वृत्त है प्रसंनता का आधार
10.3.1 शरीर की पवित्रता से होती है स्वास्थ्य की प्राप्ति
10.3.2 स्नान से ले लाभ
10.3.3 दूसरों के प्रति सम्मानजनक व्यवहार रखें
10.3.4 इन गुणों को घारण करें
10.3.5 प्राणियों के प्रति दया भाव रखें।
10.3.6 मनुष्य का आचरण इस प्रकार का नही होना चाहिए
10.3.7 किसी की निन्दा व अपमान न करें।
10.3.8 हिंसा न करे

10.4 सद्वृत्त का पालन न करने से पैदा होते हैं रोग
10.5 सद्वृत्त का पालन न करने वालों का साथ न करें।
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 अभ्यास हेतु प्रश्न
10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.1 प्रस्तावना

हमारा स्वास्थ्य हमारे आहार के साथ साथ हमारे आचरण पर भी निर्भर करता है। तन की स्वच्छता के साथ साथ अगर मन की निर्मलता भी बनी रहे तो न केवल मन अपितु शरीर भी स्वस्थ रहता है। मन के क्षीण होने पर शरीर इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। इन्द्रियों को जीतने के लिए व आरोग्य प्राप्ति के लिए विभिन्न उपायों को हमारे आचार्यों ने सद्वृत्त विषय के अन्तर्गत वर्णित किया है। इस इकाई में आप इस प्रकार के उपायों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

10.2 उद्देश्य

शिष्टता हमारे सामाजिक जीवन का मधुर रस है तो अशिष्टता सार्वजानिक जीवन का सबसे बड़ा कलंक है। व्यक्तिगत हो या सार्वजानिक सभी जगहों में शिष्टता एवं सद्व्यवहार की प्रशंसा होती है। प्रायः छोटी छोटी आदतों से हमारे चरित्र की अशिष्टता प्रकट हो जाती है जिन मामूली बातों की हम उपेक्षा करते हैं उन्ही के द्वारा दूसरे हमे अशिष्ट कहते हैं शिष्टता सद्वृत्त के अन्तर्गत वर्णित है। सद्वृत्त के पालन से हमे अपने नित्य किये जाने वाले कायों क सही ढंग से किये जाने की जानकारी मिलती हैं। हम में से बहुत लोग जानते है कि प्रातः काल जल्दी उठना स्नान करना भोजन करना, शरीर को स्वच्छ रखना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, अपना आचरण ठीक रखना अपने आसपास वातावरण में सामंजस्य बना, रखना दान करना, मद्यपान न करना, अहिंसा के नियम का पालन करना इत्यादि से मनुष्य शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ रहता है। इनसे वांछित लाभ लेने के लिए इनको सही ढंग से प्रयोग करना आना आवश्यक है। बहुत बार हम केवल इन साधनों का सही ढंग से प्रयोग न कर पाने से भी रोगी हो जाते। इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप जान सकोगे के स्वस्थ रहने के लिए हमें अपने रोजाना जिंदगी में किए जाने वाले किन कर्मों को नित्य करना चाहिए व उनको किस प्रकार करना चाहिए। इस इकाई के पढनें से आप जानोगे के सद्वृत्त के अन्तर्गत वर्णित कर्मों को यथाविधि करने से क्या लाभ प्राप्त होते हैं व न करने वालो कर्मो का करने से क्या हानि होती हैं ।

10.3 सद्वृत्त है प्रसन्नता का आधार

मनुष्य सुख–संतोष के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए भी वह अनेकानेक दुरूखों एवं अभावों को प्राप्त होता रहता है। आज की वैज्ञानिक समुन्नति से, पहले की अपेक्षा कई गुना सुख के साधनों में बढ़ोत्तरी होने के उपरान्त भी स्थायी समाधान नहीं मिल जहाँ साधन विकसित हुए वहीं जटिल समस्याओं का प्रादुर्भाव भी हुआ। मनुष्य शान्ति–संतोष की कमी अनुभव करते हुए चिन्ताग्रस्त एवं दुरूखी ही बना रहा। यही कारण है कि मानव जीवन में प्रसन्नता का सतत अभाव होता जा रहा है इन समस्त दुरूखों एवं अभावों से मनुष्य किस प्रकार मुक्ति पा सकता है, प्राचीन ऋषियों–मनीषियों एवं भारतीय तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने इसके लिए कई प्रकार के मार्गों का कथन किया हैए जो प्रत्यक्ष रूप से भले ही प्रतिकूल व पृथक् प्रतीत होते होंय परन्तु पात्र व रुचि के आधार पर सबका अपना–अपना सच्चा दृष्टिकोण है। एक मार्ग वह है जो आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ.साथ भौतिक जगत के समस्त पदार्थों के प्रति आत्मबुद्धि का भाव रखते हुए पारलौकिक साधनों का उपदेश देता है। दूसरा मार्ग वह है जो जीवमात्र को ईश्वर का अंश बतलाकर, जीवन में सेवा व भक्तिभाव के समावेश से लाभान्वित होकर आत्मलाभ

की बात बतलाता है। तीसरा मार्ग वह है जो सांसारिक पदार्थों एवं लौकिक घटनाक्रमों के प्रति सात्विकता पूर्ण

दृष्टि रखते हुए, उनके प्रति असक्ति न होने को श्रेयस्कर बताता है। लौकिक कार्यों के अर्न्तगत सद्वृत्त के नियमों का पालन करना श्रेष्ठ फलदायी बताया है। शरीर की पवित्रता, मन की निर्मलता, आचरण की उत्तमता सद्वृत्त के अर्न्तगत ही आाती है।

10.3.1 शरीर की पवित्रता से होती है स्वास्थ्य की प्राप्ति

उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए शरीर की पवित्रता आवश्यक है। शरीर पवित्र हो इसके लिए शरीर का स्वच्छ रहना आवश्यक है। शरीर की स्वच्छता के लिए स्नान केशो को कंघी इत्यादि द्वारा सँवार कर रखने काए निर्मल वस्त्र धारण करने जैसे नित्य कर्म करने का निर्देश है।

10.3.2 स्नान से ले लाभ

स्नान श्रमहराणमष् अर्थात थकावट दूर करने में स्नान से बढकर ओर कुछ नही है। स्नान शरीर को पवित्र करने वाला है, वृष्य और आयुवर्धक है, थकावट पसीने और मैल को दूर करता है, शरीर में बल का सन्धान करता है और सबसे अधिक ओज की वृद्धि करता है। पूरे शरीर की सफाई करने से स्वास्थ्य लाभ होता है। गुदा इत्यादि मलमार्गो की तथा पैरों की बार.बार सफाई करनी चहिए। पैरों तथा मलमार्गो की जल और मिटटी के द्वारा पुनः पुनः सफाई करने से मनुष्य की मेधा और आयु की वृद्धि होती हैंए पवित्रता का संचार होता है, और दरिद्रता पाप तथा दुःख का विनाश होता है। जब तक थकावट दूर न हो जाएए स्नान नहीं करना चाहिए। शिर को गीला किए बिना भी स्नान नहीं करना चाहिए। नंगे होकर भी स्नान नहीं करना चाहिए। जिस आधे वस्त्र को पहनकर किया हो, उससे उत्त्मांग (शिर) का स्पर्श नहीं करना चाहिए। स्नान करके उन वस्त्रों को नहीं पहनना चाहिए, अर्थात् धुले हुए और सूखे वस्त्र पहना चाहिए। तेज वेग वाले जल में स्नान नहीं करना चाहिए। जहाँ लोग स्नान करते हों उन स्थानों पर नहीं जाना चाहिए। सायं प्रातः दोनों समय स्नान करके सन्ध्योपासना करना चाहिए।

केशों के अग्रभाग को झटकना नहीं चाहिए। दो सप्ताह में कम से कम तीन बार अर्थात प्रत्येक पांचवे दिन सिर के बाल दाढी मूछ ओर नाखूनो को काटवाना चहिए। हमेशा स्वच्छ और बिना फटे हुए कपडे पहनाना चहिए। मन को प्रसत्र रखना चहिए। पुष्प मालाओं तथा चन्दनादि की सुगन्ध धारण करनी चाहिए। वेशभूषा भद्रपुरूषो कें समान होना चाहिए केशो को कंघी इत्यादि द्वारा सँवार कर रखना चहिए। शिर कान नाक पैरो में प्रतिदिन तेल लगाना चहिए। आयुर्वेदोक्त विधि से धूमपान करना चाहिए। केश श्मश्रु और नाखून कटवाने से तथा केशों का प्रसाधन करके स्वच्छ वेश धारण करने से पुष्टि वृषता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरूष पवित्र और सुशोभित रूप वाला हो जाता है।

निर्मल वस्त्र धारण करने से मनुष्य की कमनीयता यश एवं आयु की वृद्धि होती है। दरिद्रता का विनाश होता है, मन में प्रहर्ष उत्पन्न होता है, श्री की वृद्धि होती है, सभा में बैठने की योग्यता प्राप्त होती है और मनुष्य प्रशंसा का पात्र बनता है। चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन तथा सुगन्धित पुष्प मालाओं का सेवन पुरूष को वृषता सुरभि आयु कमनीयता पुष्टि और बल प्रदान करने वाला होता है, मन को प्रसन्न करता है, तथा अलक्ष्मी (द्ररिद्रता) का विनाश करता है। जो पुरूष सदा अपने शिर को तेल से चिकना रखता है उसे कभी सिर दर्द की अनुभव नही करता पड़ता हैं। उसके शिर में न तो कभी गंजापन होता है न बाल सफेद होते हैं और न झड़ते हैं। उसके शिर की अस्थियों का बल विशेष रूप से बढ़ जाता है। उसके केश मजबूत जड़ों वाले लम्बे और काले हो जाते हैं। शिर पर तेल की मालिश करने से इन्द्रियाँ प्रसन्न होती हैं, चेहरे की त्वचा पर निखार आता है, अच्छी नींद आती है और सुख प्राप्त होता है। पैरों में तेल की मालिश करने से पैरों का खुरदरापन सूखापन रूखपन थकावट तथा पैरों का सो जाना शीघ्र ही शान्त हो जाता है, पैरों में सुकुमारता बल तथा स्थिरता आ जाती है, दृ ष्टि निर्मल हो जाती है और वायु का प्रकोप शान्त हो जाता है। पैरों की मालिश करने

से गृध्रसी इत्यादि वातरोग नही होते है, पैर फटते भी नहीं है तथा पैरों की नस नाड़ियों में कभी सिकुड़न भी नहीं आती हैं।

10.3.3दूसरों के प्रति सम्मानजनक व्यवहार रखें

किसी से सामना होने पर पहले स्वयं सत्कारयुक्त बचन बोलना चाहिए, और प्रसन्न मुख रहना चाहिए, क्योकि सत्पुरूष प्रायः प्रसन्नवदन रहते है–श्प्रायेण सुमुखः सन्तःश्। कठिन अवसरों पर धैर्य धरण करना चाहिएए अथवा मुसीबत में पड़े हुए लोगों की सहायता और रक्षा करनी चाहिए। हवन यज्ञ और दान करना चाहिए। चौराहों को प्रणाम करना चाहिए। देवताओं को बलि (पूजोपहार) देना चाहिए, अथवा बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) करना चाहिए। अतिथियों की पूजा करनी चाहिए। पितरों की पिण्डदान (पितृयज्ञ) करना चाहिए उचित समय पर हतिकर परिमित और मधुर वचन बोलना चाहिए, क्योंकि आचरणीय धर्मो में सदबचन को प्रधानता दी गई है– सदवचनमनुष्ठेयानाम। सत्यवाणी को प्रकाश स्वरूप और अनृतवाणी अर्थात झूठ बोलने को तमो रूप कहा गया है–श्वाक च सत्याज्योतिस्तमोऽनृताश। इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए, क्योंकि किसी बलवान् अदृ ष्टकर्म के विपाक के विना जितेन्द्रिय पुरूष को रोग नहीं सताते है। वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। मनुष्य को आनन्दित करने वाले भावों में इन्द्रिय विजय को उत्कृष्टतम कहा गया है–इन्द्रियजयो नन्दनानाम्श्। जो बुद्धिमान मनुष्य मद्यपान से सर्वथा निवृत है और जितन्द्रिय है, वह शारीरिक और मानसिक विकारों से युक्त नही होता है। मनुष्य को धर्म प्राण होना चाहिए। हेतु के प्रति ईर्ष्यालु होना चाहिए, फल के प्रति नही। अर्थात दूसरा मनुष्य जिन हेतुओं से धनवान् बलवान् या विद्यावान् बना है, उन हेतुओं का ईर्ष्यापूर्वक सम्पादन करना चाहिए। किन्तु दूसरों को जो धन बल या विद्यारूप फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रति ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिए। दूसरे को प्राप्त धन बल या विद्या को नष्ट करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

10.3.4 इन गुणों को घारण करें

मनुष्य को निश्चिन्त, निर्भीक, लज्जावान्ए अत्यधिक उत्साही, कुशल, क्षमावान, धार्मिक, आस्तिकए विनय बुद्धि विद्या विद्या कुल और वय में जो अपने से बड़े हैं उनका तथा सिद्ध पुरूषों और आचार्यों को उपासक, छाता लगाने वाला, दण्ड धरण करने वाला, शिर पर पगड़ी इत्यादि को धारण करवे वाला, पैरों मे जूता पहनने वाला, और चार हाथ आगे देखकर चलने वाला होना चाहिए। छाता लगाने से ईतियों (रोगदि दुर्दैव) से बचाव होता है। छत्र धारण बल कारक, रक्षा करने वाला, आवरण करने वाला, कल्याण करने वाला और धूप वायु धूल तथा वर्ष से बचावए करने वाला कहा जाता है। दण्ड धरण लड़खड़ाकर गिरते हुए को बचाने वाला, शत्रुओं का विनाश करने वाला, शरीर को सहारा देनेवाला, आयु की वृद्धि करने वाला, और भय को दूर करने वाला होता है। जूता पहनना आँखों के लिए और त्वया के लिए अत्यन्त हितकर है, शीत आतप और कण्टकादि के कारण पैरों के ऊपर आने वाली मुसीबत को दूर करता है, पैरों को बल प्रदान करता है, चलने में सुख देता है और पौरूष की वृद्धि करता है।

मनुष्य को नास्तिक्य वृद्धि का परित्याग करना चाहिए। सभी पातको में सबसे बड़ा पातक नास्तिक्य वृद्धि है। क्योंकि इससे मनुष्य उच्छृंखल होकर किसी भी पाप को करने में नहीं हिचकता हैं वर्जनीय लोगें में नास्तिक को प्रथम स्थान दिया गया है।

जिस स्थान पर मैल–कुचौले चिथड़े, हडिडयाँ, काँटे, अपवित्र पदार्थ, बाल, भूसी, का ढेर, राख, फूटे हुए बर्तनों के कपाल इत्यादि पडें हों, और, उन स्थानों पर नहीं जाना चाहिए। थकने से पहले ही व्यायाम बन्द कर देना चाहिए।

10.3.5 प्राणियों के प्रति दया भाव रखें।

देवता गौ ब्राह्मण गुरूजन वृद्धजन सिद्ध महापुरूष और आचार्य की पूजा सेवा करनी चाहिए। अग्नि की सेवा करना चाहिए अर्थात नित्य अग्निहोत्र करना चाहिए। दोषों को नष्ट करने वाली प्रशस्त औषधियाँ धारण करनी चाहिए।

सभी प्राणियों के प्रति बन्धुभाव रखना चाहिए। प्राणियों के प्राणों की वृद्धि करने वाले भावों में अहिंसा को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है. श्तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामृत्कृष्टतमा क्योंकि अहिंसा से धर्म होता है और धर्म से आयु की वृद् होती है। यद्यधि राजदृिष्ट

और पतित लोगों की चिकित्सा करने का विधान नहीं है क्योकि उससे अधर्म होता है, तथापि उनके प्रति भी करूणा का भाव रखना चाहिए, क्योंकि जो सत्पुरूष होते हैं उनका प्राणियों के अत्यधिक अनुग्रह करने का भाव होता है और तवज्ञान के देने में वे दया से भरपूर होते हैं–श्परो भूतेष्वनुक्रशस्तवज्ञाने परा दयाश। क्रोधी पुरूषों को अनुनय विनय द्वारा समझाना चाहिए। डरे हुए लोगों को आश्वासन (सान्त्वना) देना चाहिए। दीन और असहाय लोगों की आगे बढ़कार सहायता और रक्षा करनी चाहिए। सत्यप्रतिज्ञ (वाद का पक्का) होना चाहिए। शान्ति को सबसे प्रासान समझना चाहिए। दूसरे के कठोर वचनों को सहन करने की आदत डालना चाहिए। मन में उठते हुए क्रोध को नष्ट कर देना चाहिए। शान्त रहने में जो गुण हैं उनको देखना चाहिए, क्योंकि पथ्य अर्थात् हितकर भावों में प्रशम (शान्ति) को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है–श्प्रशमः पथ्यानाम्श। रोग और द्वेष कारणों को नष्ट कर देना चाहिए। माता सर्व तीर्थमयी हैं और पिता सम्पूर्ण देवताओं का स्वरूप हैं। इसलिए सब प्रकार से यत्नपूर्वक माता–पिता का पूजन करें। जो माता–पिता की प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा समूची पृथ्वी की परिक्रमा हो जाती है।

10.3.6 मनुष्य का आचरण इस प्रकार का नही होना चाहिए ।

झूठ नहीं बोलना चाहिए। दसरें की वस्तु नहीं लेनी चाहिए। परायी स्त्री की अभिलाषा नहीं करनी चाहिएए क्योंकि पर स्त्री गमन से बढ़कर आयु का ह्रास करने वाली कोई भी वस्तु नही है– श्परदाराभिगमनमनायुष्याणाम्श। दूसरे की लक्ष्मी की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। किसी से वैर नहीं करना चाहिए, और पाप करना चाहिए। पापी के भी प्रति पाप नहीं करना चाहिए, अर्थात् अपकार करने वाले का भी अपकार नहीं करना चाहिए। दूसरे के दोषों को नहीं कहना चाहिए। दूसरे के रहस्या को नहीं खेलना चाहिए। अधार्मिक तथा राजदृिष्ट लोगों के साथ नही बैठना चाहिए। इसी प्रकार पागलों, पतितजनों, भ्रूण हिंसा करने वालों, क्षुद्रजनों और दुष्टों के साथ भी नही बैठना चाहिए। दुष्ट सवारियों पर नही चढ़ना चाहिए। घुटनो के बल कष्ट पूर्ण आसन से नही बैठना चाहिए। जिस शय्या पर बिछौना न विछा हो सिरहाने तकिया न लगा हो, छोटी हो तथा ऊँची–नीची हो, उस पर नहीं सोना चाहिए। पर्वतों की ऊबड़–खबड़ चोटियों पर नही घूमना चाहिए। पेड़ पर नहीं चढ़ना चाहिए। नदी के कगार की छाया में नही बैठना चाहिए। जहाँ अग्नि का उत्पात हो, उसके चारों ओर नहीं घूमना चाहिए। जोर से नहीं हॅसना चाहिए। शब्द पूर्वक अपान वायु नहीं छोड़ना चाहिए, अर्थात अपान वायु छोड़ते समय ऐसा प्रयास करना चाहिए कि शब्द न होने पाए। मुँह को विना ढके हुए न तो जमुहाई लेनी चाहिए, न छींकना चाहिए और न हँसना चाहिए। नाक को उँगली डालकर नहीं कुरेदना चाहिए। दाँतों को परस्पर रगड़ना नहीं चाहिए। नाखूनों को बजाना चाहिए। हडिडयों पर चोट नहीं करनी चाहिए, अथवा हड्डियों को परस्पर टकराना नहीं चाहिए। भूमि को खरोचना नहीं चाहिए। निका नहीं तोड़ना चाहिए। मिट्टी के ढेलों को हाथ से नहीं फाड़ना चाहिए। अगों से विगुण चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त तेजोयुक्त ज्योतियों को तथा अनिष्ट अपवित्र और अप्रशस्त (निन्दित) वस्तुओं को नहीं देखना चाहिए।

मुर्दे को देखकर घृणापूर्वक हुंकार नहीं करना चाहिए। गॉव के प्रधान वृक्षए ध्वजा, गुरू पूज्य तथा अप्रशस्त वस्तुओं की छाया को अतिक्रान्त नहीं करना चाहिए। रात के समय देवमन्दिर, चौत्य, खुले हुए चौक, चौराहे, बगीचे, श्मशान भूमि और वधस्थान में नहीं जाना चाहिए। कभी भी सूने घर में या जगल में अकेले प्रवेश नहीं करना चाहिए। पापाचरण करने वाली स्त्री मित्र और नौकर के साथ नही रहना चाहिए। स्वजनों से विरोध नहीं करना चाहिए। हीन कोटि के मनुष्यों का संग नहीं करना चाहिए। कुटिल व्यक्ति के साथ प्रेम नहीं करना चाहिए। अनार्य का आश्रय नहीं करना चाहिए। सदाचारी व्यक्ति यदि अल्पज्ञ भी होए तब भी उससे विवाद या कलह नहीं करना चाहिए।

किसी के मन में भय नही उत्पन्न करना चाहिए। साहस, अत्यधिक निद्रा, अत्यधिक जागरण, अत्यधिक स्नान, अत्यधिक पान तथा अत्यधिक भेजन नही करना चाहिए। घुटने उठाकर देर तक नहीं बैठना चाहिए। सर्पो के पास, व्याघ्रादि दंष्ट्रावाले जन्तुओं के

पास, तथा वृषभादि सींगवाले पशुओं के पास नहीं जाना चाहिए। सामने से आने वाली वायु धूप ओस और आँधी से बचना चाहिए। कलह (झगड़ा) आरम्भ नहीं करना चाहिए। अच्छी तरह सावधान हुए विना अग्नि के उपवास नहीं करनी चाहिए। हाथ .मुँह इत्यादि में जूठन लगाए हुए नहीं तापना चाहिए। अग्नि को नीचे करके भी नहीं तापना चाहिए। रत्न घृत पूज्यजन पुष्प तथा दूसरे मांगलिक द्रव्यों का स्पर्श किए विना घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए। पूज्यजनों और मांगलिक पदार्थो को बाई ओर करके तथा अमांगलिक और अशुभ पदार्थो को दाहिनी ओर करके नहीं जाना चाहिए। रत्नों और सुवर्णादि निर्मित आभूषणों को धारण करने से धन मंगल आयु तथा श्री की वृद्धि होती है। सर्प तथा पिशाचादि के कारण होने वाले अनिष्ट का विनाश होता हैए मन प्रसन्न होता हैए और सौन्दर्य तथा ओज की वृद्धि होती है।

शरीर को टेढ़ा करके न तो छीकना चाहिए, न भोजन करना चाहिए, और न शयन ही करना चाहिए। मलमूत्रादि किसी भी बेग के उत्पन्न होने पर दूसरे काम में नहीं लगे रहना चाहिए, अर्थात सब काम छोड़कार पहले वेग का निराकरण करना चाहिए। वायु अग्नि जल चन्द्रमा सूर्य द्विज और गुरू की ओर अभिमुख होकर न तो थूकना चाहिए। रास्ते पर मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए। जन स्थानपर, भेजन के समयए तथा जप होम अध्ययन बलि और मांगलिक क्रियाओं के अवसर पर न तो खखार कर थूकना चाहिएए और न नाक ही छिनक कर फेंकना चाहिए।

10.3.7 किसी की निन्दा व अपमान न करें।

सत्पुरूषों और गुरूजनों की निन्दा नही करना चाहिए। अपवित्र स्थिति में अभिचार कर्म, चौत्य और पूज्यनजों की पूजा, तथा अध्ययन नहीं करना चाहिए। अपवित्र दशा में किया जाने वाला अभिचारकर्म प्रयोक्ता का ही विनाशक बन जाता है अधिक समय नहीं गँवाना चाहिए। नियम कभी नहीं तोडना चाहिए। न तो रात्रि में और न अनुपयुक्त स्थानों में विचरण करना चाहिए। दोनों सन्ध्याओं में भोजन अध्ययन स्त्री और निद्रा का सेवन नहीं करना चाहिए। बालक बृद्ध लोभी मूर्ख निन्दित रोग से पीडित तथा हीन व नपुंसक के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए। मद्यपान और वेश्यागमन में रूचि नहीं रखनी चाहिए। अपने तथा दूसरों के गुप्त रहस्य को नही खोलना चाहिए। किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। अभिमानी नहीं बनना चाहिए। दक्षता और दाक्षिण्य से विहीन नहीं होना चाहिए और न दूसरो से असूया करनी चाहिए। ब्राह्मणों की निन्दा करनी चाहिए। गाय को मारने के लिए डण्डा नहीं उठाना चाहिए। वृद्ध, समूह बद्ध लोगो और राजाओं को तिरस्कार नहीं करना चाहिए। बहुत अधिक नहीं बोलना चाहिए। भाई–बन्धु प्रेमीजन विपत्ति में सहायक और रहस्य जाने वाले का कभी अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये लोग यदि प्रतिशोध लेनेपर उतारू हो जाये, तो बडी आसानी से प्रतिशोध ले सकते है। मनुस्मृति में कहा गया है अपमानित व्यक्ति तो सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है, और सुखपूर्वक इस लोक में विचरण करता है किन्तु अपमान करने वाले का विनाश हो जाता है।

मनुष्य को न तो अधीर होना चाहिए, और न अत्यधिक उत्साही होना चाहिए।अपने नौकर–चाकरों का पालन–पोषण करने से नहीं कतराना चाहिए। स्वजनों पर अविश्वास नहीं करना चाहिए। अकेले ही सुख का उपभोग नहीं करना चाहिए। अपना स्वभाव आचरण और ब्राह्य व्यवहार अपने लिए तथा दूसरों के लिए दुःख जनक नहीं होना चाहिए। सभी का विश्वास नहीं करना चाहिए और न सबके प्रति शंकालू ही होना चाहिए। हर समय सोच–विचार में में नहीं पड़े रहना चाहिए। कार्य करने के उचित समय को किसी भी प्रकार बीतने नहीं देना चाहिए। बिना परीक्षा किए हुए किसी कार्य में नहीं लग जाना चाहिए। अपनी इन्द्रियों के वश में नहीं होना चाहिए। मनको भी चंचलता पूर्वक इधर–उधर नहीं घुमाना चाहिए। अपनी बुद्धि और इन्द्रियों पर बहुत अधिक भार नहीं डालना चाहिए। अत्यन्त दीर्घसूत्री नहीं बनना चाहिए। क्रोध और हर्ष के वशीभूत होकर कोई काम नहीं करना चाहिए। चिरकाल तक शोक के वशीभूत नहीं रहना चाहिए। सफलता मिलने पर इतराना नहीं चाहिए, और असफल होने पर दुःखी नहीं होना चाहिए। जिनके जीवन में धर्म का प्रभाव है उनके जीवन में सारे सदगुण आ

जाते हैं, उनका जीवन ऊँचा उठ जाता है दूसरों के लिए उदाहरणस्वरुप बन जाता है। धर्म का अर्थ यहां पर अपने शास्त्रों में निर्दिष्ट आचरण का प्रयोग करना।

आप भी धर्म के अनुकूल आचरण करके अपना जीवन ऊँचा उठा सकते हो। फिर आपका जीवन भी दूसरों के लिए आदर्श बन जायेगा, जिससे प्रेरणा लेकर दूसरे भी अपना जीवन स्तर ऊँचा उठाने को उत्सुक हो जायेंगे

प्रकृतिका बार–बार स्मरण करना चाहिए, अर्थात् अपने शरीर की प्रकृति की समझ करके ही प्रत्येक आहार.विहार में प्रवृत्त होना चाहिए। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है, इस प्रकार हेतु के प्रभाव को निश्चयपूर्वक समझना चाहिए। हमेशा शुभ हेतु को लेकर कार्य करना चाहिए। मैने इतना कर लिया है ऐसा सोचकर आश्वस्त नहीं हो जाना चाहिए। वीर्य (शुक्र अथवा पराक्रम) का परित्याग नहीं करना चाहिए। दूसरों के द्वारा की गई अपनी निन्दा का बार–बार स्मरण नहीं करना चाहिए। बिना पवित्र हुए उत्तमाज्य (गोघृत) अक्षत तिल कुश और सरसों से अग्नि में आहुति नहीं देनी चाहिए। अग्नि मेरे शरीर से दूर न हो, वायु देवता मेरे भीतर प्राणों को आधान करें, विष्णु मेरे भीतर बल का आधान करें, इन्द्र मेरे भीतर वीर्य को वृद्धि करें, कल्याणकारी जल मेरे भीतर प्रविष्ट हों तथा आशीर्वादात्मक मन्त्रों के द्वारा अपने लिए मंगल कामना करते हुए जल का स्पर्श करना चाहिए। दोनों ओष्ठों और दोनों पैरों को दो बार धोकरए शिर के ऊपर पानी छिड़ककर, शिरःस्थ इन्द्रियों के छिद्रों तथा आत्मा हृदय और शिरका जलसे स्पर्श करना चाहिए। मनुष्य को ब्रह्मचर्य ज्ञान दान मैत्री करूणा हर्ष (मुदिता) उपेक्षा और शान्ति में तत्पर रहना चाहिए। मैत्री करूणा हर्ष और उपेक्षा के भावों को पातंजल योगसूत्र में इस प्रकार समझाया गया है. ''सुखी दुःखी पुण्यात्मा तथा पापात्मा प्राणियों के प्रति क्रमशः मैत्री करूणा मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त् को निर्मल बनाया जाता हैष्जो प्राणी सुखी है, उनके प्रति मैत्री की भावना करनी चाहिए, अर्थात् मनुष्य की अपने प्रति जैसी अप्रतिकूल प्रवृत्ति होती है, वैसी ही सभी सुखी प्राणियों के प्रति होनी चाहिए। जो प्राणी दुःखी हैं, उनके प्रति करूणा की भावना करनी चाहिए अर्थात उनके दुःख से द्रवीभूत होकर उस दुःख को बंटाने या दूर करने का प्रयास करना चाहिए। जो पुण्यात्माजन हैं, उनको देखकर हर्षित होना चाहिए कि संसार में पुण्य की वृद्धि हो रही है अथवा अब भी संसार में पुण्य अवशिष्ट है। जो पापीजन हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना चाहिए। क्रोध या घृणा का भाव उनके प्रति करना उचित नहीं हैं, क्योंकि इससे अपना ही मन मलिन होता है, उनकी कोई हानि नहीं होती है।

10.3.8 हिंसा न करे– महर्षि चरक ने जहाँ एक ओर समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव और अहिंसा का उपदेश दिया है, तथा प्राणियों के प्राणों की वृद्धि करने वाले भावों में अहिंसा को उत्कृष्ट तक बताया है, वहाँ दूसरी ओर रोग निवृत्ति और स्वास्थ्य लाभ के लिए मांस भक्षण का उपदेश देते हुए हिंसा का समर्थन किया है। इसका उत्तर यह है चूंकि अहिंसा पूर्वक मांस भक्षण के प्रति मनुष्य का स्वाभाविक रोग हैए इसलिये आयुर्वेद के आचायों ने किसी–किसी रोग में मांस के हतिकर होने के कारण केवल उसका निर्देश किया हैए अहिंसात्मक मांसभक्षण का विधान नहीं किया है। इसी प्रकार उन्होंने स्वस्थवृत और रोगिचर्या में मदिरा की पथ्यता का निर्देशमात्र किया है, मदिरा पान का विधान नहीं किया है। मांस और मदिरा के संयत सेवन का उपदेश रोग निवृति के उददेश्य से किया गया है, किन्तु हिंसाजन्य अधर्म का निषेध नहीं किया गया है। मांस और मद्य का सेवन करने से रोगी नीरोग भले ही हो जायए किन्तु हिंसाजन्य अधर्म का भोगी उसे अवश्य ही होना पड़ेगा। जिस प्रकार 'श्येनेनाभिचरन्यजेत्' इस श्रुतिवाक्य में, अभिचार की रागतः प्राप्ति होने के कारणए श्येनायाग को अभिचार का साधनमात्र बताया गया है, किन्तु श्येन के द्वारा अभिचार करने से जो अनिवार्य रूप से अधर्म होता है, उसका निषेध नही किया गया है। मनु ने भी प्रकारान्तर से इस तथ्या को स्वीकार किया है–''प्राणियों की हिंसा के विना किसी भी प्रकार से मांस की प्राप्ति नहीं हो सकती है, और प्राणियों की हिंसा स्वर्ग प्रद नहीं है, इसलिए मांस भक्षण का परित्याग करना चाहिए। न तो मांस भक्षण में कोई दोष है, न मद्यपान में, और न मैथुन

में, क्योंकि इनके प्रति प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृति हैं, किन्तु इनसे निवृत होना महाफलदायक है। चक्रपाणि का कथन है कि यदि मनुष्य की जीवन रक्षा मांसोपयोग के बिना सम्भव न हो, तो 'सर्वत्रात्मानं गोपायीत' इस श्रुतिवचन के अनुसार हिंसोपाजित मांसभक्षण करने में अधर्म नहीं होता है। हाँ, यदि मांसभक्षण के अतिरिक्त दूसरे उपाय भी जीवन रक्षा के लिए सम्भव हों, तो केवल शरीर की पुष्टि के प्रयोजन की जाने वाली हिंसा अवश्य अधर्मजनक होती है। अथवा आयुर्वेद में हिंसा को यदि विहित भी माना जाय, तो भी उसे दोष मुक्ति नहीं मिल सकती है, क्योकि आयुर्वेद की विविधाँ मुख्यतया आरोग्यसाधन का उपदेश करती है, केवल धर्म साधन का ही उपदेश नहीं करती है। जैसा कि चरक सूत्रस्थान में कहा गया है–इस आयुर्वेद तन्त्र प्रयोजन धातुओं में साम्य उत्पन्न करना है।पूर्ण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए मनुष्य को इस सद्वृत्त का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। जो पुरूष इस यथोक्त स्वस्थवृत्त का सम्यक प्रकार से अनुष्ठान करता है, वह सर्वदा नीरोग रहता हुआ पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहता है। साधुजनो के मध्य प्रशंसित होता हुआ वह पुरूष सम्पूर्ण मनुष्य लोक को अपने निर्मल यश से आपूरित कर देता है, धर्म और अर्थ को प्राप्त करता है।

10.4 सद्वृत्त का पालन न करने से पैदा होते हैं रोग

सद्वृत्त का पालन न करने से धी, धृति व स्मृति का नाश होता है और इसे प्रज्ञापराध कहा जाता है। प्रज्ञापराध से तीनों दोषों का प्रकोप होता है। चरक संहिता अनुसार मलमूत्रादि के वेगों को रोकना, मलमूत्र की प्रवृत्ति न होने पर उसे जबरदस्ती बाहर निकालने का प्रयास करना, अपने सामर्थ्य से अधिक कार्य करना, चिकित्सा कार्य उचित समय पर न करना, पंचकर्म का ठीक ढंग से प्रयोग न करना, आचरण में शिष्टाचार का लोप हो जाना, पूज्यों पुरुषों का अपमान करना, ज्ञान अहित विषयों का सेवन करना, जिन कारणों से पागलपन पैदा हो उन कारणों का प्रयोग बहुलता से करना, अनुचित समय घूमना, अनुचित स्थान पर घूमना, नीच कर्म करने वालों से मित्रता करना, ईर्ष्या, अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, तथा भ्रम आदि से युक्त होकर निन्दित कर्म करना व इस प्रकार के अन्य कर्म जो रज एवं मोह से युक्त होते है उन्हे प्रज्ञापराध कहतें है और ये रोगों के कारण होते हैं। अध्ययन, विचार, मनन, विश्वास एवं आचरण द्वार जब एक मार्ग को मजबूती से पकड़ लिया जाता है, तो अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करना बहुत सरल हो जाता है। आदर्शों के प्रति श्रद्धा और कर्तव्य के प्रति लगन का जहाँ भी उदय हो रहा है, समझना चाहिए कि वहाँ किसी देवमानव का आविर्भाव हो रहा है ।

10.5 सद्वृत्त का पालन न करने वालों का साथ न करें।

जिसके मन वाणी पाप युक्त हों अथवा सदैव इन कार्यों में लगे रहते हों, जो चुगलखोर हों जिसको क्लेश अच्छा लगता हो, दूसरों को कष्ट पहुंचाने वाली वाणी बोलने वाले हों, लालच करने वाले हों एक–दूसरों की समृद्धि से द्वेष करने वालें हों, दूसरों की निन्दा करने वाले होंए चंचल हो, शत्रुओं जैसा कार्य करने वाले हों, निदर्यी हों व जिसने अपना धर्म त्याग दिया हो ऐसे लोगों के साथ नही रहना चाहिए। बुद्धि, विद्या, आयु, शील, धैर्य, स्मृति, समाधि द्वारा जो परिपक्व हो गयें हों, वृद्ध लोगों की सेवा करने वालें हों, संसार के नश्वर स्वभाव के बारे में जानकारी हो, वेदनाओं से मुक्त हो, प्रसन्नचित हों, सदा शान्त बने रहते हों, बात के धनी हों, सही मार्ग बताने वाले हों व ऐसे पुरुष जिनका नाम सुनना व उनके दर्शन करना ही पुण्यदायक हो ऐसे लोगों के साथ रहना चाहिए।

10.6 सारांश

आप ने जाना कि सद्वृत्त के पालन से दो लाभ प्राप्त होते हैं, प्रथम इन्द्रियो पर विजय व आरोग्य की प्राप्ति। इस इकाई में आप ने जाना कि स्नान किस प्रकार करना चाहिए। स्नान से क्या लाभ प्राप्त होते हैं। शरीर की पवित्रता से शरीर स्वस्थ रहता है। मनुष्य का आचरण किस प्रकार का होना चाहिए। किस प्रकार के लोगों के साथ रहना चाहिए व किस प्रकार के लोगों का साथ नही करना चाहिए। हमारे दैनिक जीवन में जो हम कार्य करते हैं उसमें से कौन सा कार्य उचित है व कौन सा अनुचित। कौन सा

कार्य धर्म के अनुकूल है व कौन सा प्रतिकूल। मांस व मदिरा के प्रयोग न करने के पीछे क्या कारण है। विभिन्न कार्य करते समय पवित्र भावना रखने का क्या आधार है। मन की चंचलता को नियन्त्रित क्यों करना चाहिए।सद्वृत्त के पालन करने के लिए व्यक्ति को अनवरत संस्कार सुधार की साधना करनी होती है। वह जीवन के हर क्षेत्र में सावधानी के साथ चलता है, अवधानतापूर्वक काम लेता है। वह असावधानतापूर्वक गुणों का संचय करता है तथा अपने गुणों को छिपाता है। पुष्प की सुगन्ध सचमुच कहीं छिपती नहीं है। वह उजागर ही होती है। ऐसे सदाचारी समाज में सदैव आदरणीय होते हैं। दूसरे लोग उनका अनुकरण करते हैं। सदाचरण का सीधा संबंध संस्कारों से है। मानवता और सदाचार के आत्मबल का विकास होता है। आत्मीयता और प्रेम भावना का विस्तार होता है, वसुधैव कुटुंबकम की प्रवृति जाग्रत होती है। यह संसार अपना परिवार नजर आता है जो शाश्वत आनंद का स्त्रोत है। जीवन में यदि हम छोटी–मोटी सदाचार की बातें अपने दैनिक जीवन में अपना लें तो आत्म शांति के साथ–साथ तनावमुक्त हो सकते हैं। सभी के सुख में अपना सुख मिलेगा, इस भावना से हम प्रेरित हों जीवन सुख पूर्ण बन जाएगा।

सत्य से बढ़कर धर्म झूठ से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। इसलिए सब कार्यो में सत्य को ही श्रेष्ठ माना गया है। दया के समान धर्मए तप, दान और कोई मित्र नहीं है।

10.7 शब्दावली

प्रशस्त	सर्वात्तमए श्रेष्ठ
प्रहर्ष	अत्याधिक हर्ष, अत्यानन्द
द्रवीभूत	पिघला हुआ, पसीजा हुआ, यथा दया से
अनुष्ठान	वेद विहित कर्म को यथाविधि करना, धार्मिक कृत्य
पातक	पाप
चक्रपाणि	11वीं शताब्दी के चरक संहिता के एक टीकाकारए
मलिन	मैलाए गन्दा अपवित्र, अशुद्ध
ईतियों	दैवी उत्पात एआपत्ति, महामारी
दीर्घसूत्री	सुस्ती से काम करना
मुदिता	आनन्दए प्रसन्नता
तिरस्कार	अपमान
अपान वायु	वायु के पांच प्रकारों में से एक प्रकार
अभिचार	तन्त्र ग्रन्थों में वर्णित हिंसा परक अनुष्ठान
सत्यप्रतिज्ञ	वचन का पक्का
चौत्य	समाधि स्थल पर लगा एक पत्थर, पवित्र वृक्ष
वृषभ	बैल
कगार	किनारा
अनार्य	जो श्रेष्ठ व्यक्ति न होए दुष्ट
अवशिष्ट	शेष, अधिक, भिन्न
श्री	सम्पत्ति अत्यधिक समृद्धि, कान्ति
करूणा	दया
अग्निहोत्र	अग्नि में आहुति दालना, अग्नि की पूजा करना

10.8 अभ्सास हेतु प्रश्न

सभी प्राणियों के प्रति दया भाव रखने के क्या लाभ हैं?

समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव और अहिंसा रखने के क्या लाभ हैं?

किस प्रकार का आचरण नही करना चाहिए ?

मांस का प्रयोग विभिन्न रोगों में निर्दिष्ट होते हुए भी अहिंसा के पालन का औचित्य क्या है।

स्वस्थ वृत्त के पालन से क्या लाभ होता है।

सद्वृत्त का पालन न करने से रोग पैदाक्यो होते हैं।

किस प्रकार के व्यक्तियों का साथ करना चाहिए और किस प्रकार का नही।
सद्वृत्त के क्या लाभ होते हैं विस्तार से वर्णन करें।

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरक संहिता
सुश्रुत संहिता
अष्टांग संग्रह
अष्टांग ह्रदय संवर्तिका व्याख्या–वैद्य बनवारी लाल गौड़
काश्यप संहिता
कल्याण आरोग्य अंक
चारुचर्या
पथ्यापथ्यविनिर्णयः
वेब दुनिया इन्टरनेट से
http:èèhi.wikipedia.orgèwikiè
http:èèhindi.webdunia.comèmiscellaneousèyogaè
http:èèuttarapath.wordpress.com

इकाई 11 आचार–रसायन की उपादेयता

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 रसायन
11.4 आचार रसायन
11.4.1 क्रोध न करें
11.4.2 मद्य सेवन न करें
11.4.3 परस्त्री गमन से बचे
11.4.4. अंहिसा
11.4.5. जप
11.4.6 दान
11.4.7 वृद्ध व्यक्तियो का सम्मान करें।
11.4.8 गुरुजनों की सेवा करें
11.4.9 अहं व लोभ का त्याग करें
11.4.10 ब्राह्ममुहूर्त में उठें।
11.4.11 स्वच्छ वस्त्र धारण करें
11.4.12 रोजाना घी का सेवन रखता है स्वस्थ
11.5 सद्वृत का पालन देता है आचार रसायन का लाभ
11.6 सदाचार ही उत्तम स्वास्थ्य का आधार
11.6.1 अच्छा व्यवहार देता है दीर्घायु
11.6.2 दीर्घायु की प्राप्ति हेतु आचरण सम्बन्धित कुछ निर्देश
11.7 सारांश
11.8 शब्दावली
11.9 अभ्यास हेतु प्रश्न
11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.1 प्रस्तावना

वृद्धावस्था से दूर रह कर दीर्घायु की प्राप्ति करने की मनुष्य की यह आकांक्षा आदिकाल से ही बलवती रही है। शतायु बनने की कामना वेदों में ही निहित है। वृद्धावस्था में

मनुष्य के धातुए इन्द्रिय बल तथा वीर्य दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगते है। चेहरे पर झुर्रिया आने से विभिन्न प्रकार के रोगों से व शारीरिक क्रियाओं में असमर्थता होने से वृद्धावस्था परिलक्षित होने लगती है। यद्यपि भूख, प्यास, नींद और मृत्यु की तरह वृद्धावस्था का आना स्वाभाविक ही है पर समय से पहले आने वाला बुढापा शतायु की प्राप्ति में बाधक होता है।

11.2 उद्देश्य

रसायन आयुर्वेद के आठ अंगों में से एक अंग है। रसायन के प्रयोग से न तो वद्धावस्था जल्दी से आती है और न ही व्यक्ति रोगी होता है। रसायन का लाभ केवल औषधियों के प्रयोग से ही नही अपितु आहार विहार के समुचित प्रयोग से भी मिलता है। इस इकाई को पढ़ कर आप जान सकोगे कि रसायन क्या है और इसके लाभ क्या है बिना आहार व औषध के सेवन से रसायन का लाभ कैसे लिया जा सकता है। हम किस प्रकार के आचरण से स्वस्थ रह सकते है। हमारी दीर्घ आयुं की प्राप्ति में हमारा आचरण कैसे कारण हो सकता है घ्हमे अपने रोजाना जीवन में अपने चिन्तन की प्रवृति कैसे रखनी चाहिए घ्सदाचार का हमारे जीवन में क्या महत्व है।हमारे शास्त्रों में निर्दिष्ट आचरण सम्बन्धित नियमों का पालन न करने से क्या विकार उत्पन्न हो सकते है शास्त्रोक्त निर्दिष्ट आचरण का सेवन करने में क्या आधार है ?

11.3 रसायन

भारतीय दर्शन में जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ काम व मोक्ष की प्राप्ति के लिये मनुष्य का स्वस्थ व दीर्घायु रहना आवश्यक माना गया है। आयुर्वेद के आठ अंगों में से रसायन का अपना एक विशिष्ट महत्व है। रसायन प्रयोग से न केवल वृद्धावस्था देरी से आती है अपितु रोगों की उत्पत्ति भी नही होती। रसायन औषध योगों के प्रयोग से मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करता है। उसकी स्मरण शक्ति बढ़ती है। वह वृद्धावस्था में युवा जैसा प्रतीत होता है। उसकी त्वचा की कान्ति में निखार आता है। उसका वर्ण और अच्छा हो जाता है। उसका स्वर प्रभावशाली हो जाता है। उसकी देह में अधिक बल की प्राप्ति होती है। उसकी इन्द्रिय और सक्षम हो जाती है। उदारता, विनयशीलता जैसे गुणों में वृद्धि होती है।

रसायन के रूप में प्रयुक्त होने वाली औषधियां

आयुर्वेद के ग्रन्थों में हरीतकी, आमला, शिलाजीत, भल्लातक, पिप्पली, मुलेठी, शंखपुष्पी, गिलोय, ब्राह्मी आदि कल द्रव्यों का व च्यवनप्राश, ब्राह्म रसायन, त्रिफला रसायन, आमलक रसायन आदि योगों को रसायन के रूप में वर्णित किया है। इनके सेवन से रसायन के लाभ प्राप्त होते है।

11.4 आचार रसायन

चरक सहिंता अनुसार सत्य बोलना, क्रोध न करना, मद्यपान न करनाए मैथुन न करना, अहिंसा का पालन करना, शान्तचित रहना, प्रिय बोलना, जप करना, पवित्रता रखनीए धैर्य रखनाए नित्य दान करना तप करना, देवता, गो, ब्राह्मण, आचार्य, गुरुजन, वृद्ध व्यक्तियों की सेवा करना, क्रूरता का व्यवहार न करना, सदा प्राणियों पर दया करना, उचित समय पर सोना व उचित समय पर जागना इस प्रकार का आचरण करने वालों को बिना रसायन औषध सेवन के रसायन का लाभ प्राप्त होते हैं। अपने आहार में नित्य दूध व घी का प्रयोग करने वाले, अहंकार से रहित रहने वाले, जितेन्द्रिय रहने वाले व धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट आचरण के नियमों का पालन करने वालों को भी बिना रसायन औषध सेवन के रसायन का लाभ प्राप्त होते हैं।

शास्त्र की परम्परा में जीवन में करने योग्य आचरण हेतु सभी प्रकार के क्रिया कलापों के लिए विधि व निषेध का विधान बना हुआ है। जो इस विधान के अन्तर्गत उस निर्दिष्ट आचरण का पालन करते हैं वे दीर्घायु की प्राप्ति करते हैं।

11.4.1 क्रोध न करें

चरक के अनुसार पैत्तिक अपस्मार, ज्वर, हृदय रोगए वातरक्त, अर्श, गुल्म प्रमेह योनिकन्द, अजीर्ण रोग क्रोध से भी उत्पन्न होते हैं। जिन व्यक्तियों का क्रोध सदा संयम

से दबा रहता है उन्हे सर्वोतम लोक की प्राप्ति होती है। सज्जन लोग सदा क्षमाशील होते हैं।

11.4.2 मद्य सेवन न करें

मद्य सेवन का प्रचलन हमारे समाज में प्राचीन काल से चला आ रहा है। पर किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में मद्य सेवन का अनुमोदन नही किया। मनु स्मृति ने मद्य को अन्न का मल कहा है। आयुर्वेद में मादक द्रव्यों के प्रयोग से बुद्धि का नाश बताया है। आयुर्वेद में ही मद्य को अर्श व राजयक्ष्मा की उत्पति में कारण कहा है। मद्यपान करने वाले स्वयं सुख से नही रह पाते है। ऋग्वेद में मद्यपान को झगडे का कारण कहा है। इसके प्रयोग से शारीरिक शक्ति का क्षीण होना व समय से पहले वृद्धावस्था का आगमन बताया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि शराब पीने वाले सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत नही कर सकते। मद्यपान के पाप के प्रायश्चित करने के लिए गोमूत्र, जल, दुग्ध तथा गोमय रस को गर्म का आजीवन प्रयोग करने को कहा है।
चरक ने अर्श की उत्पत्तिमें मद्य को भी कारण माना है।

11.4.3 पर स्त्री गमन से बचे

पर स्त्री गमन की कुप्रवृति में फंस कर वह सर्वनाश को प्राप्त होता जा रहा है। स्त्रियों के प्रति अधिक आसक्ति करने से राजयक्ष्मा, वातज ज्वर, वातज गुल्म, शूलएग्रहणी व क्षतज कास रोगों की उत्पति होती है।

11.4.4 अंहिसा

हमे अपने जीवन के क्रिया कलापों में अंहिसा का पालन करना आवश्यक है। किसी के जीवन को नष्ट करना ही हिंसा नही अपितु उसे कष्ट पहुंचाना भी हिंसा के क्षेत्र में आता है। अहिंसा की सुदृढ़ स्थिति हो जाने पर उसके पास पंहुचने वाले सभी प्राणी हिंसा का त्याग कर देते है।

11.4.5 जप

चरक ने जप की गणना आचार रसायन के अन्तर्गत की है। शास्त्रों में जप यज्ञ को सब यज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है। नारद पुराण में कहा है कि सब यज्ञ जप की तुलना में सोलहवें हिस्से के बराबर भी नही है। वाणी के द्वारा किया गया जप वाचिक जप कहलाता है। मानस जप अर्थात जिसमें अर्थ का चिन्तन करते हुए मन में ही मन्त्र के वर्णए स्वर और पदों की आवृति की जीती है का फल वाचिक जप से हजार गुणा होता है। उपांशु जप अर्थात जिसमें कुछ कुछ जीभ व होंठ चलते है और उसकी ध्वनि अपने ही कानो तक सीमित रहती है का फल वाचिक जप से पांच सौ गुणा होता है। तीनो ही प्रकार के जपों में मन के द्वारा इष्ट का चिन्तन होना चाहिए। मानसिक स्तोत्र पाठ व उच्च स्वर से उच्चारणपूर्वक मन्त्र जप दोनो निष्फल हैं। मलिन वस्त्र पहन कर, केश बिखार कर और उच्चस्वर से जप करना शास्त्र विरुद्ध है।

11.4.6 दान

दान की महिमा अपार है। सत्युग मे तप, त्रेता युग में ज्ञान का द्वापर में यज्ञ कर्म तथा कलियुग में दान का विशेष महत्व है। दान का धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक महत्व है। दान देने वाला पुण्य एवं प्रसन्नता प्राप्त करता है और लेने वाला अपनी आवश्यकता पूर्ति के कारण प्रसन्न होता है। न्ययापूर्वक अर्जित धन के दशमांश दान देने का नियम सामान्य कोटि के लोगो के लिए है पर जो लोग वैभवशली है धनी और उदारचेता हैं, उन्हे अपने उपार्जित षन को पांच भागों में विभाजित करना चाहिए यथा धर्म, यश, अर्थ, काम व स्वजन। अर्जित धन को इस प्रकार विभाजित करने वाला इस लोक व परलोक में सुखी रहता है। दान तीर्थ आदि पवित्र स्थान पर, शुभकाल में व सुपात्र को देना चाहिए। जिस तरह समुद्र पर वर्षा होने से कोई लाभ नही होता उसी तरह दान जरूरतमंद को ही देना चाहिए। जो धनी व्यक्ति सक्षम होते हुए भी अपने परिवार के लोगों को दुखी जीवन व्यतीत करने को मजबूर करे लेकिन औरों को दान दे तो उस दान का फल मधुमिश्रित विष के समान होता है और धर्म के रूप में अघर्म है।

सेवा, परोपकार अथवा जो कुछ भी निष्काम भाव से किया जाता है उसका फल महान होता है। बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना इन आठ गुणों से मनुष्य की शोभा बढाते हैं।

11.4.7 वृद्ध व्यक्तियो का सम्मान करें।

ऋग्वेद के अनुसार जो व्यक्ति किसी से आयु में किसी से बडा हो अर्थात जो संसार में पहले आया हो उसे वृद्ध कहते हैं। नास्तिक को आस्तिक बनाना एलोगों मे द्वेश दूर करना व उन में उपस्थित कुटिलता को सरलता में परिवर्तित करना वृद्ध व्यक्तियों का कार्य होता है। वेदों में ज्ञानवृद्ध, बलवृद्ध व वयोवृद्ध जैसे विभिन्न प्रकार के वृद्धों का उल्लेख किया गया है। वृद्ध व्यक्तियो का सम्मान करना आचार रसायन के अन्तर्गत निदिषर्ट है।

11.4.8 गुरुजनों की सेवा करें

अगस्त्य ऋषि ने तप के प्रभाव से समुद्र के पानी को चुल्लू में भर कर पी लिया था। तप के प्रभाव से कठिन एवं असम्भव प्रक्रियाओं को सुगम बनाया जा सकता है। अपने तप के कारण उग्रतपा के नाम से प्रसिद्ध भरद्वाज ऋषि को जब आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता पडी तो वह ज्ञान उन्हे तप से न प्राप्त हो कर अपितु इन्द्र के रूप में उसे गुरु की शरण लेनी पड़ी। गुरु का महत्व अतुलनीय है। पारिवारिक स्तर पर माता का स्थान सबसे ऊंचा है। मनुस्मुति में कहा है कि उपाध्याय से आचार्य का दस गुना, आचार्य से पिता का सौ गुना और पिता से माता का स्थान हजार गुना ऊंचा है। पुराणों के अनुसार सूर्य दिन में प्रकाश करता है। चन्द्रमा रात को प्रकाशित होता है दीपक घर में उजाला करता है तथा सदा घर के अन्धेरे को दूर करता है परन्तु गुरु अपने शिष्य के हृदय में रात दिन सदा ही प्रकाश फैलाते रहते हैं। गुरु की महिमा गोविंद से भी अधिक होती है। जो स्वयं बड़ा होता है वह दूसरों को भी बड़ा बनाता है। जो स्वयं समर्थ होता है वह दूसरों को भी समर्थ बनाता है। ईश्वर कृपा से मनुष्य का शरीर मिलता है जिस को पाकर मनुष्य स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

11.4.9 अहं व लोभ का त्याग करें

मनुष्य अहं को त्याग करके प्रिय बनता है। क्रोध को त्याग करके दुखी नही होता है। इच्छाओं को त्याग करके धनवान बनता है। तथा लोभ को त्याग करके सुखी बनता है। लोभी मनुष्यों की कामना पूरी नही होती। कामना सागर की भान्ति अतृप्त होती हैए ज्यों ज्यों हम उसकी आवश्यकता पूरी करते है त्यों त्यों उसका कोलाहल उतना बढ़ता जाता है। कामनायों से दूर रह कर लोभ से बचा जा सकता है।

11.4.10 ब्रह्ममुहूर्त में उठें

उचित समय पर जागना व उचित समय पर सोना भी आचार रसायन के अन्तर्गत बताया हैं। प्रातः काल उठने के लिए ब्राह्ममुहूर्त ही सबसे श्रेष्ठ समय है। सूर्योदय से दो घड़ी अर्थात 96 मिनट पहले के समय को ब्राह्ममुहूर्त कहा जाता है। निशाकाल की निद्रा मनुष्य की थकावट को दूर करती है। प्रातःकाल निद्रा त्याग करने पर शरीर में नूतन बल का संचार होता है। आयुर्वेद में आयुरक्षा एवं स्वास्थ्य लाभ के लिए ब्राह्ममुहूर्त में उठने का निर्देश दिया है। जिन्हे ब्रह्मचारी सदाचारी, विवेकवान, ध्यानवान, ज्ञानवान व वीर्यवान होना हो उन्हे ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए। यह समय दैवी सम्पदाओं को ग्रहण करने का उत्तम समय है। प्रातःकाल का शान्तो लुभावने वाला होता है। वातावरण अद्भुत सुन्दर माधुर्ययुक्त और मन ब्राह्ममुहूर्त में उठने से सौन्दर्य, यश, बुद्धि, धन धान्य, स्वास्थ्य की वृद्धि व दीर्घायु की प्राप्ति होती है। प्रातः काल देर तक सोने से पुण्य और सत्कर्मो का नाश होता है।

11.4.11 स्वच्छ वस्त्र धारण करें

वस्त्र की शोभा आभूषण की तरह होती है। पवित्रता धारण कराता हैंए सौन्दर्य को बढ़ाता है। सूर्य के तीखे ताप से रक्षा करता है। दरिद्रता दूर करता है। इसका प्रयोग समस्त बाहय दोषों को दूर करता है। सर्व प्रकार से प्रयत्न करके शुद्ध वस्त्र धारण करने चाहिए। अन्याय से प्राप्त होने वाले वस्त्र आयु को क्षीण करते है। आग से जला

वस्त्र पहनने से पीड़ा, शोक व भय की प्राप्ति होती है। चूहो से कटा वस्त्र पहनने से भय व कीड़ो से कटे वस्त्र पहनने से क्लेश उत्पन्न होता है।

11.4.12 रोजाना घी का सेवन रखता है स्वस्थ

पित के विकारों को दूर करने के लिए घृत को श्रेष्ठ द्रव्य है। गाय के दूध से बना घी अधिक लाभकार होता है। घी का प्रयोग किसी भी आयु में किया जा सकता है। बालक और वृद्ध के लिए घी का प्रयोग हितकर है। स्मरणशक्ति बढ़ाने के लिए भोजन पचाने वाली अग्नि की वृद्धि करने के लिए घी का योगदान महत्वपूर्ण है। इसके नियमित से आंखों की रोशनी बढ़ती है। इस के सेवन से शरीर के बल की वृद्धि होती है। उत्तम संतान प्राप्ति के लिए घी का प्रयोग विशेष लाभकारी होता है। इस के प्रयोग से चेहरे की कान्ति निखरती है। आवाज मधुर होती है। आघात लगने से क्षीण होने से घी का सेवन लाभ देता है। आग से जले व्यक्ति के लिए घी श्रेष्ठ फलदायी होता है। पित के साथ साथ वात दोष का शमन करने वाला घी मानसिक रोगों में विशेष लाभ पहुंचाता है। शरद ऋतु में पित का प्रकोप होता है अतः इस ऋतु में घी का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। उन्माद में अपस्मार में मूर्च्छा में पुराने घी का प्रयोग लाभ पंहुचाता है। राजयक्ष्मा रोग में शरीर सूख रहा हो तो घी का सेवन करना उचित होता है। घी अलक्ष्मी का भी नाश करता है। गुण में शीतल होने के कारण व जिस आहार व औषध द्रव्य को घी से सिद्ध किया जाए उस गुण को ग्रहण करने के कारण घी को सर्व श्रेष्ठ स्नेह भी कहा जाता है। जिस तरह जलते हुए घर में पानी डालने से आग बुझ जाती है उसी तरह घी के प्रयोग से पुराने बुखार में लाभ पंहुचता है। ध्यान रहे कि नवज्वर में घी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति नशा करते है उन के लिए घी का प्रयोग उचित फलदायी होता है। आंख के रोगियों के लिए एकान के रोगियों के लिए घी का सेवन लाभप्रद होता है। स्त्रियों के रोगों में घी का प्रयोग औषध के समान काम करता है। किसी भी प्रकार का जख्म होने पर घी का सेवन उसे ठीक करने में सहायक होता है। प्रमेह रोग में घी का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। त्वचा के रोगों में खाने के लिए तेल का प्रयोग निषिद्ध होता है लेकिन घी का प्रयोग लाभकर होता है। इसी तरह शरीर में खून की कमी होने पर तेल का प्रयोग मना होता है लेकिन घी का सेवन लाभकर होता है। गुल्म रोग की चिकित्सा में घी का प्रयोग लाभकर होता है। सूखी खांसी में घी का प्रयोग आशातीत लाभ देता है। शरीर में कही जलन हो रही हो रही हो तो घी का सेवन उसे दूर करता है। इस के प्रयोग से शरीर में ओज की वृद्धि होती है। घी सेंवन के बाद गर्म पानी का प्रयोग करना चाहिए।घी का प्रयोग केवल खाने के लिए ही नहीं अपितु नाक में डालने के लिए एगुदा मार्ग में औषध के साथ के प्रयोग करने से मालिश करने के लिए भी होता है। आहार के रूप में घी और दूध का प्रयोग रोजाना किया जा सकता है। कोइ भी प्राणी बिना शारीरिक व मानसिक दोषों को दूर किये रसायन के उचित लाभों को प्राप्त नही कर सकता।

11.5 सद्वृत का पालन देता है आचार रसायन का लाभ

दूसरो का धन, दूसरों की नारी, दूसरों की निन्दा, बुराई करना शत्रु से सम्भाषण करना दुसरो से द्रोह न करना, तथा शठता करना ये कार्य मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। असत्य व्यवहार छोडना चाहिए दूसरों के साथ द्रोह नही करना चाहिए अगम्या नारी का सर्वथा परित्याग करना चाहिए आचरण से गिरे व्यक्तियों का साथ नही करना चाहिए। असूया अर्थात ईर्ष्या बेइमानी, जालसाजी नही करनी चाहिए। पतित लोगों के साथ नही रहना चाहिए। क्ररूता का सर्वदा त्याग व आत्मप्रशंसा से बचना चाहिए। सत्य व्यवहार अमृत के समान गुणकारी है व असत्य व्यवहार विष के समान होता है। मनुष्य के प्राण कण्ठ तक आ गये हो अर्थात मृत्यु के समय में भी झूठ नही बोलना चाहिए। उपकार मन को प्रिय लगने वाला होता है अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति कराता है समस्त देवताओं में सेवाभाव गायों को सदा तृप्त रखना चाहिए। शास्त्रों का निरन्तर श्रवण व मनन करते रहना चाहिए तथा स्वयं भी दूसरों को प्रेरित करके सर्वदा अभ्यास करना चाहिए। गोरोचन, चन्दन, सुवर्ण, मृदंग, आइना, मणि, गुरुजन, अग्नि तथा सूर्य इन का सदा प्रातःकाल दर्शन करना चाहिए तथा प्रतिदिन अपनी आयु बढ़ाने के लिए इनकी

परिक्रमा व नमसकार करना चाहिए। दान, तीर्थयात्रा, उपवास कर्म से अपने बन्धुगण, पितृगण, देवगण को तर्पण कर्म से धर्म स्रंगह करना चाहिए। धर्मसंचय से स्वर्ग की प्राप्ति यश तथा आयु बढ़ती है। समस्त दुष्कर्म.पाप नष्ट होकर शुभ नितय मंगल अर्थात कल्याण होने लगता है। अतः एव ब्राह्मण तथा तथा बन्धुओ को शान्त किया जा सकता है। यज्ञादिक पुण्य कार्यो का अनुष्ठान तथा धर्म कार्यो को बढाने वाले अनुष्ठान करने चाहिए। समस्त देवतागण की सेवा करती रहने चाहिए। गुरुजन की स्त्रियों की सेवा करनी चाहिए। तप करना तीर्थों में स्नान करना, समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, महापुरुषों तथा सज्जनो की निरन्तर संगति करते रहना चाहिए। दीन, दुखी, कृ पण, अभागा, अन्धा, असहाय, मात्हीनजनों का पोषण करने से जीवन में निरन्तर लक्ष्मी तथा कीर्ति की वृद्धि होती है। भ्रतजनों का पालन करते रहना चाहिए। इससे कीर्ति और लक्ष्मी की निरन्तर वृद्धि होती है। मूर्ख मनुष्य के साथ बातचीत करना दुष्ट स्वाती की सेवा करना ये पृथ्वी पर प्रत्यक्ष दुखदायी कार्य है। व्यवसाय हीन, अनुद्यमी, आलसी, भाग्य के सहारे रहनक वाला, साहस से सवर्था हीन एंसं व्यक्तियों का साथ लक्ष्मी छोड़ देती है। नंगे पैरो से चलना, अपमान का भोजन, मूर्ख अज्ञानी राजा की सेवा करना इससे बढ का पाप कोई नही होता ।

11.6 सदाचार ही उत्तम स्वास्थ्य का आधार

दीर्घायु की प्राप्ति के लिये व वृद्धावस्था और रोगों को दूर करने के लिए प्रयुक्त रसायन योग तभी प्रभावी होते है जब उनका प्रयोग तन और मन की शुद्धि के पश्चात किया जाए। असयमी व अजितेन्द्रिय पुरुष को रसायन का यथोक्त प्रभाव नही होता। यह इस बात का सुनिश्चित करता है कि अच्छे आचार से बढ़ कर मानसिक व शारीरिक रोगो की चिकित्सा के लिए न तो कोई भेषज है और न ही आयु की वुद्धि करने वाला कोई रसायन। मानव के विधिबोधित क्रिया कलापों को आचार के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसी को सदाचार करते है। शौचाचार भी इसी के अन्तर्गत निहित है। पवित्र और और सात्त्विक आचार उत्तम स्वास्थ्य का आधार है। वेद के छः अंगों का ज्ञानी भी अगर आचार से रहित हो तो वेद भी उसे पवित्र नही करते। हीन आचरण वाले को तप अग्निहोत्र व दक्षिणा भी नही तार सकता। इसके विपरीत श्रद्धालु एवं असूया दोष से रहित व्यक्ति सदाचार के कारण सौ वर्ष जीवित रहता है। शुद्धचार व सदाचार से लोक व्यवहार सुरभित हो जाता है। सात्त्विक भाव वृत्तियों से उत्पन्न विचार पीयूष मानव जीवन को जीवन्तता प्रदान करता है, विचारों के अनुसार ही आचार विचार सम्पादित होते है। सुव्यवस्थित ढंग से जिन्दगी जीने से व्यक्ति में अपने आप शिष्टता आ जाती है सत्य का प्रकाश मिलता है, त्याग की भावना विकसित होती है, सहज स्वाभाविक रूप में समग्र संसार से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित करने की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत होती है।
स्वस्थ रह कर अपनी जीवन यात्रा चलाने के लिए मनुष्य को जितने भी दुख पैदा करने वाले कारण है उनसे दूर रहना चाहिए। जो भाव मन और शरीर को बल देने वाले होते है हृदय के लिए हितकर हैं, ओज की वृद्धि करने वाले है, ओजोवह स्रोतस् को निर्मल करने वाले है इस प्रकार के भावों को सेवन करते रहना चाहिए। इसके साथ साथ शान्ति व तत्त्वज्ञान के लिए भी प्रयासशील रहना चाहिए। जो मनुष्य प्राणी मात्र का हितैषी है दूसरो के धन को नही चाहता, सत्य बोलता है शान्ति परायण है सोच समझ कर कार्य करता है, आलसी नही है एक दूसरे को बाधा न पुहुचाने वाले धर्म, अर्थ व काम की सिद्धी वाले कार्य करता है, बड़ो की पूजा करता है, ज्ञान विज्ञान में तत्पर रहता है मन को शान्त रखता है, सन्त पुरुषों का संग करता है, राग द्वेष, क्रोध, ईष्या को जीत कर रखता हैए विभिन्न वस्तुओं का दान करता है, अध्यात्म तत्व को जानता है व उसमे लीन रहता हैएइस लोक व परलोक का ध्यान रखता है स्मृति बुद्धि आदि से युक्त है उससे सभी का हित होता है। जिनके दर्शन व श्रवण पुण्यकारक होते है ऐसे व्यक्तियों का साथ करना चाहिए।

11.6.1 अच्छा व्यवहार देता है दीर्घायु

गुणवानों के गुणों का खण्डन न करना स्वल्प गुण रखने वाले की प्रशंसा करना और दूसरे के दोषों का परिहास न करना अभक्ष्य भक्षण का त्याग, निन्दित व्यक्तियों का

संसर्ग न करना अप्रशस्त व्यवहार का त्यागए स्वयं प्राप्त पदार्थों का प्रति संतोष भाव रखना जिस शुभ अथवा अशुभ भाव से शरीर पीड़ित होता हो उन भावों का अधिक सेवन न करना दूसरो के द्वारा उत्पन्न कष्ट के फलस्वरूप कोई प्रकोप न करना दूसरे में अपने बन्धु वर्ग में मित्र में शत्रु में द्वेष करने वाले में अर्थात सम्पूण चराचर संसार में तथा सभी प्राणियों में अपने समान ही सुख दुख की प्रतीति करना और सब को अपने समान समझ कर सब में प्रीति भाव रखना ये सब सद् आचरण के अन्तर्गत आते हैं। सदाचार के पालन से अनर्थों की निवृति होती है जीवन में सुख, मंगल तथा कल्याण की प्राप्ति होती है। सदाचार का पालन मृत्यु के उपरान्त भी यश कीर्ति प्रदान करने वाला होता है। कीर्तिर्यस्य स जीवति अर्थात जिसकी कीर्ति होती है वह मर कर भी अमर रहता है। कल्याण कार्य में लगा रहने वाला व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नही होता । कठोपनिषद् में श्रेय व प्रेय मार्ग का सुन्दर वर्णन है। अच्छा आचरण मनुष्य को विष्णुपद प्राप्त कराने वाला कहा गया है और प्रेयमार्ग को क्षणभंगुर अनित्य व इन्द्रियों विषयो को सुखों की आकर लेजाने वाला बताया है। अच्छे गुणों का आचरण करने वाला धर्म आचरण करने वाला, सत्साहित्य पढनें वाला सत्त्व गुणो को ग्रहण करता है व इसके विपरीत आचरण करने वाला रज एवं तम से युक्त होकर आसुरी भाव की ओर प्रवृत होता है।

11.6.2 दीर्घायु की प्राप्ति हेतु आचरण सम्बन्धित कुछ निर्देश

घी खाने से शक्ति बढ़ती है तैल से तेज तथा घृत से प्राण को बल मिलता हैए दूध आयु को बढ़ाता है। प्रातः कालीन सूर्य, श्माशान का धुआं, वृद्धा स्त्रीए छोटे तालाब का पानी व रात्रि में दहीं का सेवन करना प्रतिदिन ऐसा करने से आयु क्षीण हो जाता है। सायं काल की सुर्य की लालिमा, यज्ञ का धुआं एबाला का सेवन स्व च्जल का पान करना रात्रि में दुग्ध का प्रयोग काने से आयु की वृद्धि होती है। सन्ध्या के समय चार कार्य निश्चित रूप से नही करना चाहिए. भोजन मैथुन निद्रा व स्वाध्याय। सायंकाल भोजन करने से रोग हो जाते हैं तथा सायं मैथुन करने से क्रूर गर्भ पैदा होता हैंए निद्रा लेने से श्री शोभा का नाश होता है।

होम करना जप करना स्वाध्याय करना तैल मर्दन करना ईश्वर की प्रार्थना करना भोजन करना मैथुन करना सवारी करना ये आठ कार्य प्रदोष के समय नही करने चाहिए।

अधिक जल पीने से एस्त्री प्रसंग करने से दिन के समय सोने से एरात्रि में जागने सेए मल मूत्र का वेग रोकने से मनुष्य के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते है । भ्रमण करने से वृद्धावस्था नही आती न चलने से वृद्धावस्था शीघ्र आती है। मुहं को ढक कर छीकने सेए नाक को ढक कर जम्हायी लेने से व वीर्य की रक्षा करने से मनुष्य सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करता है। स्थान तथा दोष इनका भली भान्ति विचार करके अपनी शक्ति का चिन्तन करके सूर्योदय से पूर्व जलपान करने से मनुष्य निरोगी रह कर सौ वर्ष की आयु पाता है। पुरुष जैसा संकल्प करने लगता है वैसा ही आचरण करता है। पुरुष जैसा आचरण करता है वैसा ही बन जाता है। जिन बातों का प्राणी बार बार विचार करता है धीरे धीरे वैसे ही उसकी इच्छा हो जाती है फिर इच्छानुसारी वार्ता, आचरण, कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है। अतः स्पष्ट है कि अच्छे आचरण एवं चारित्रय के लिए अच्छे विचारों को लाना आवश्यक है। बुरे कर्मो को त्यागने से पहले बुरे विचारों को त्यागना चाहिए। इनके त्याग के बिना बुरे कर्मो से मुक्ति नही हो सकती। प्रश्नोपनिषद में मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आभूषण शील अर्थात उत्तम चरित्र बताया है। मन ही सभी अनर्थो का मूल है। जीवन में मन को जीतने का प्रयास करना चाहिए। मन को जीतने वाले के लिए संसार को जीतना असम्भव नही होता। संकल्पो के परित्याग से काम को कामनाओं के त्याग से क्रोध कोए संसारी लोग जिसे अर्थ कहते है उसे अनर्थ समझ कर लोभ को और तत्त्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिए। अध्यात्मविद्या से शोक और मोह पर सन्तों की उपासना से दम्भ पर मौन के द्वारा योग के विघ्नो पर और शरीर प्राण आदि को निश्चेष्ट करके हिंसा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। आधिभौतिक दुख को दया के द्वारा, आददैविक वेदना को समाधि के क्षरा और आध्यात्मिक दुःख को योगबल से एवं निद्रा को सात्त्विक भोजन, स्थान, संग आदि के

सेवन से जीत लेना चाहिए। हितकारी आहार–विहार का सेवन करने वाला, विचारपूर्वक काम करने वाला काम क्रोधादि विषयों में आसक्त न रहने वालाए सत्य बोलने के लिए तत्पर सहनशील और आप्त पुरुषों की सेवा करने वाला मनुष्य रोगरहित रहता है। सुख देने वाली मति सुखकारक वचन एवं कर्म अपने अधीन मन और शुद्ध तथा पापरहित बुद्धि जिनके पास है और जो ज्ञान प्राप्त करनेए तपस्या करने तथा योगसिद्ध करने वाले तत्पर रहते हैं उन्हे शारीरिक अथवा मानसिक रोग नही होते।

जो सदाचारी पुरुष वसन्त ऋतु में प्रातः.सांय भ्रमण अग्नि का सेवन शिशिर ऋतु में सूर्यकिरण आग नवीन और गरम अन्न का भोजन गरम जल से स्नान करने वाला भूख लगने पर सदन्न भोजन, प्यास लगने पर जल–पान प्रतिदिन गुड का भक्षण करता है उसके पास वृद्धावस्था शीघ्र नही आती है।

आचरण से दीर्घायु की प्राप्ति की अवधारण केवल आयुर्वेद में ही नही है अपितु अन्य ग्रन्थों में भी इसका वर्णन किया है। मानव जीवन में जिन सद्गुणों की आवश्यकता होती है उनमें मनुष्य के आचरण का अतिशय महत्व व उपयोगिता है। जीवन तो क्षणभंगुर होता है लेकिन दीर्घ जीवन के लिए सयमित आचरण की महती आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक चिन्तन हो नीति सम्बन्धी विमर्श हो अथवा शारीरिक परामर्श हा श्रेष्ठ आचरण का पालन कल्याणकारी होता है। दीर्घायु को प्राप्त ऋषि महर्षियां की वेदए पुराण व स्मृति अनुमोदित जीवनचर्या ही सदाचार है। श्रेष्ठ आचरण से मनुष्य दीर्घायु एवं लक्ष्मी को प्राप्त करता है। इहलोक तथा परलोक मे सुख प्राप्त करता है। विपरीत आचरण से पुरुष अनाचारी और लोक में निन्दित होता है। अच्छे आचरण वाला व्यक्ति यदि अन्य लक्षणों से हीन भी होता है और रागद्वेष से रहित हो तो वह निन्दित नहीं होता अपितु वह सौ वर्ष की आयु का उपभोग करता है।

जीवन में आचार का जो महत्व है वह महत्व आचरण में सरलता व विनम्रता का है। आस्तिकता कृतज्ञता, उदारता–सहिष्णुता, सेवा–समर्पण, अहिंसा–सत्य बिना सरलता व विनम्रता के सफल नही हो सकते। जीवन में नियमों की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी भोजन की। जिस प्रकार भोजन के बिना निर्वाह नही होता उसी तरह नियमो के बिना वह उच्छृंखल, स्वच्छन्द व निराकुंश हो जाता है।

11.7 सार संक्षेप

रसायन अष्टागं आयुर्वेद का एक अंग है। जिसके द्वारा उत्तम रस आदि धातुओं की प्राप्ति के उपाय को रसायन कहा है। जिस विद्या से दीर्घायु व स्मृति आदि की प्राप्ति के साधनों को रसायन कहा जाता है। रसायन के प्रयोग से वृद्धावस्था देरी से आती है। यद्यपि रसायन का फल प्राप्त करने के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार का आहार एवं औषध सेवन का निर्देश दिया गया है फिर भी बिना इनके प्रयोग के भी रसायन के लाभ प्राप्त किये जा सकते है। मनुष्य एक विशिष्ट प्रकार के आचरण का पालन करके स्वस्थ एवं दीर्घायु की प्राप्ति कर सकता है। इसें आचार रसायन के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत उस प्रकार के आचरण का निर्देश है जिसका वर्णन सद्वृत के प्रकरण में किया गया है। सत्य बोलना क्रोघ न करना मद्य का प्रयो गन करना मन, वचन कर्म से हिंसा न करना देव, गो, ब्राह्मण, की पूजा करनी क्रूरता से रहित होना सभी प्राणियों पर दया भाव रखना अंहकार से रहित धर्म शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला आचार रसायन का लाभ प्राप्त करता है। रोजाना आहार में दूध घी का प्रयोग करना भी आचार रसायन के अन्तर्गत आता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों से हट कर अन्य कुछ ग्रन्थों में आचरण से दीर्घायु की प्राप्ति के उपाय बताए हैं लेकिन उन का निर्देश आचरण रसायन के अन्तर्गत नही किया। वस्तुतः रसायन के रूप में आचार रसायन का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार के रसायन प्रयोग में औषध अथवा आहार का प्रयोग न होने से इसका प्रयोग कोई भी आसानी से कर सकता है। रसायन सेवन के लिए तन व मन का शुद्ध होना आवश्यक है। इसके यथाविधि प्रयोग से दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है।

11.8 शब्दावली

दीर्घायु. लम्बी उम्र

अनित्य . जो नाशवान हो।
मद्यपान . शराब का सेवन करना।
अपस्मार . मिरगी
गुल्म . वायु गोला जो पेट में होता है।
दर्शन . देखना
श्रवण . सुनना
नित्य. जिसका नाश न होता हो
शतायु . सौ वर्ष की आयु
अर्श .बवासीर
प्रमेह . मधुमेह एडायबिटीज
वातरक्त . जोंड़ों की दर्द का एक प्रकार जिसमें रक्त और वात दोनो की दुष्टि होती है।

11.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1 रसायन किसे कहते है इसके प्रयोग से होने वाले लाभ बताएं।
2 आचार रसायन से आप क्या समझते हैं इसका प्रयोग कैसे होता है ?
3 बिना औषध सेवन रसायन को कहते हैं उससे रसायन का लाभ कैसे प्राप्त होते हैं।
4 टिप्पणी करें
जप
अंहिसा
दान
5 निम्नलिखित का पालन करने से क्या हानि होती है।
क्रोध
हिंसा
परस्त्रीगमन
मद्य सेवन
6 प्रातः काल उठने के क्या लाभ है।
7 अच्छे व्यवहार से दीर्ध आयु की प्राप्ति कैसे होती है ?
8 वस्त्र पहनने सम्बन्धित किस प्रकार के निर्देशों का पालन करना वाहिए ?
9 सदाचार के क्या लाभ हैं ?
10 गुरुजनों की सेवा के क्या लाभ है ?
11 वृद्धजनों की सेवा के लाभ बताएं।
12 इस इकाई में निर्दिष्ट दीर्धायु प्राप्ति के कोइ दस उपाय बताएं।

11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चरक संहिता
सुश्रुत संहिता
अष्टांग संग्रह
अष्टांग हृदय संवर्तिका व्याख्या . वैद्य बनवारी लाल गौड़
काश्यप संहिता
रसायन वाजीकरण दर्पण .वैद्य ओम् प्रकाश उपाध्याय
कल्याण आरोग्य अंक
चारुचर्या.....
http:èèhi.wikipedia.orgèwikiè
http:èèhindi.webdunia.comèmiscellaneousèyogaè
http:èèuttarapath.wordpress.com
http:èèwww.livehindustan.comènews

इकाई 12 योग में वर्णित यम–नियमों तथा आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त में सांमजस्य

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 यम
12.3 .1 अहिंसा
12.3 .2 सत्य
12.3 .3 ब्रह्मचर्य
12.3 .4 अस्तेय
12.3 .5 अपरिग्रह
12.4 नियम
12.4 .1 शौच
12.4 .2 संतोष
12.4 .3 तप
12.4 .4 स्वाध्याय
12.4 .5 ईश्वर प्रणिधान
12.5 आसन
12.6 प्राणायाम
12.7 प्रत्याहार
12.8 धारणा
12.9 ध्यान
12.10 समाधि
12.11 मन्त्र
12.12 सारांश
12.13 शब्दावली
12.14 अभ्यास हेतु प्रश्न
12.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.1 प्रस्तावना

योग की पूर्ण साधना के लिए अष्टांग योग के नाम से प्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान व समाधि का अभ्यास किया जाता है। एक अंग का अभ्यास हो जाने पर ही अगले योग अंग में प्रवृत्ति होती है। यम नियम को प्रायः आचरण सम्बन्धी अभ्यास के रूप में गहण किया जा सकता है।

यम का अर्थ संयम होता है। इसके अन्तर्गत अहिसां, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का समावेश हो जाता है। योग के अनुसार इन नियमों का पालन करना आवश्यक है। हम किसी वस्तु का ठीक प्रकार से ध्यान तभी कर सकतें हैं जब हमारा मन शुद्ध हो। आध्यात्मिक सत्य का अनुभव कलुषित मन के साथ नही होता। इसके लिए बुद्धि का दूषित विचारों से रहित होना आवश्यक है। योग के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के सत्यता के ज्ञान से हो सकती हैं। हमारा मन तभी शुद्ध रहेगा जब हमारा शरीर स्वस्थ और निर्मल होगा। शरीर और मन की शुद्धि के लिए यमए नियम, अदि अष्टविध साधनों का पालन अत्यावश्यक हैं।

12.2 उद्देश्य

एक ही मंजिल पर पहुंचने के लिए अलग अलग रास्ते हो सकते हैं। योग अथवा आयुर्वेद के उद्देश्यों में समानता होते हुए भी उसकी प्राप्ति के रास्ते अलग अलग प्रतीत

होते है। इस प्रकार के साधनों के प्रयोग व स्वरूप में विभिन्नता होते हुए भी सैद्धांतिक रूप से एकरूपता है। इन सिद्धान्तो में परस्पर क्या सामंजस्य है उसको इस इकाई में बताया गया है। यह स्पष्ट है कि आचरण शुद्धि का महत्व न केवल आयुर्वेद ने अपितु योग ने भी स्वीकार किया है। न केवल उत्तम स्वास्थ्य अपितु दीर्घायु की प्राप्ति के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थों ने आचरण की पवित्रता पर अनेक निर्देश दिये है। इस इकाई को पढ़ कर आप यह जान सकोगे कि योग मे बताए यम नियमो का आयुर्वेद में निर्दिष्ट सद्वृतके सिद्धांतों के साथ क्या समानता है। आयुर्वेद में वर्णित सद्वृतके अंतर्गत पालनीय बातों से वही लाभ प्राप्त होते हैं जो योग के यम नियमों के पालन करने से होते है। इस इकाई में योग में वर्णित यम तथा नियम आदि का आयुर्वेदोक्त वर्णित सद्वृत्त से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

12.3 यम

योग आयुर्वेद के समान प्राचीन एवं हितकारी है। योग तत्त्वज्ञान तथा योग तत्त्वानुभूति के अतिरिक्त आन्तिक अष्टांग विभाग के अन्तर्गत यम में ब्रह्मचर्य का उल्लेख किया गया योग के प्रथम अंग यम को नैतिकता का पाठ माना जाता है। लेकिन यह शरीर और मन के ताप तथा रोग नष्ट तो होते ही हैं साथ ही यह जीवन में शांति, शक्ति और समृद्धि के द्वार खोलता है। यम के पाँच प्रकार हैं अहिंसा सत्य यअस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

12.3.1 अहिंसा

योग ने अहिंसा को विशेष महत्व दिया है। व्यासभाष्य योगसूत्र के नुसार अहिंसा का अर्थ है सर्वदा तथा सर्वदा यमनसा वाचा और कर्मणा सब प्राणियों के साथ द्रोह का अभाव। अहिंसा के भीतर इस प्रकार सर्वकाल में केवल कर्म या वचन से ही सब जीवों के साथ द्रोह न करने की बात समाविष्ट नहीं होती प्रत्युत मन के द्वारा भी द्रोह के अभाव का संबंध रहता है। योगशास्त्र में निर्दिष्ट यम तथा नियम अहिंसामूलक ही माने जाते हैं। अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस व्यक्ति के निकट पंहुच कर प्राणी वैर त्याग देते है। महाभारत के अनुसार अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है, अहिंसा परम तपस्या है। अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है, आयुर्वेद में आचार रसायन के अन्तर्गत अहिंसा की गणना की है। अष्टांग ह्रदय ने दस पापकर्मों के अन्तर्गत हिंसा का उल्लेख किया है और इनसे बचने का निर्देश दिया है। हत्या न करना, न सताना, दुख न देना अहिंसा का रूप है। यह अहिंसा की पूर्णता नहीं उसका आचारात्मक पक्ष है। विचारात्मक अहिंसा इससे अधिक महत्वपूर्ण है विचारों में उतरकर ही अहिंसा या हिंसा को सक्रिय होने का अवसर मिलता है वैचारिक हिंसा अधिक भयावह है उसके परिणाम अधिक घातक हैं आयुर्वेद अनुसार अहिंसा का पालन करने से व साहस का परित्याग करने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। चरक ने जिन वेगों को धारण करना चाहिए उसके अन्तर्गत अहिसा भाव की भी गणना की है। आचार रसायन के अन्तर्गत अहिंसा का उल्लेख किया है। राजयक्ष्मा की चिकित्सा में भी अहिंसा का पालन करना बताया हैं।

12.3.2 सत्य

योगसूत्र के अनुसार जब योगी सत्य के पालन में पूरी तरह परिपक्व हो जाता है तो उसमें किसी भी तरह की न्यूनता नही रह जाती। वह कर्त्तव्यपालन रूप क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है अर्थात जिसके प्रति जो कह देता है वह उसी रूप में सत्य ही रहता ही होता है। रोग उत्पन्न न हो उसके लिए निर्दिष्ट विभिन्न साधनों के अन्तर्गत सत्य बोलना भी बताया गया है।

योग के निर्दिष्ट अंगों द्वारा जब व्यक्ति अपनी आभ्यन्तर शद्ध कर लेता है तो अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियो पर विजय व आत्मसाक्षात्कार की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। चरक संहिता में भी इन्द्रियों को जीतने से रोगों से दूर रहने को बताया है। जब मन व्यर्थ विषयों में लगा रहे तो असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग होकररोगउत्पत्ति हो।

योगसूत्र के अनुसार सत्य पर दृढ़ होने से व्यक्ति में क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है। आयुर्वेद में आचार रसायन एवं स्वथवृत के अन्तर्गत सत्य बोलने का व झूठ न बोलने का निर्देश दिया है। प्रत्यक्ष अनुमान व शब्द प्रमाण से जिन जिन बातों का जिस जिस प्रकार से निश्चय किया हो उन उन बातों को उस उस निश्चय अनुसार परिणाम में हित करने वाले व निभ्रान्त वचनों का पालन करना चाहिए

12.3.3 अस्तेय

योगदर्शन के अनुसार चोरी न करने के संकल्प से दृढ़ निष्ठा जागृत होती है और उसके सामने समस्त रत्न स्वयं प्रकट होने लगते हैं। अस्तेय अर्थात चोरी न करने का संकल्प की गणना यम के अन्तर्गत की गयी है। धन, भूमि, संपत्ति, नारी, विद्या, विचार आदि किसी भी ऐसी वस्तु जिसे अपने पुरुषार्थ से अर्जित नहीं किया या किसी ने हमें भेंट या पुरस्कार में नहीं दिया, को लेने के विचार मात्र से ही अस्तेय खंडित होता है। इस भावना से चित्त में जो असर होता है उससे मानसिक प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है ।

वाग्भट्ट ने इसकी गणना दस पाप कर्मो के अन्तर्गत की है। चरक ने जिन वेगों को धारण करना चाहिए उसके अन्तर्गत अस्तेय भाव की भी गणना की है।

12.3.4 ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के सेवन से वीर्य का नाश नही होता है। शरीर में उसकी स्थिति अच्छी बनी रहने से उसमें ऊर्जाएउत्साह व कान्ति की उत्पत्ति होती है। इसें फलस्वरूप शरीर और भी स्थिर रहता है। योगसूत्र में निर्दिष्ट विचार ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः का आयुर्वेद में वर्णित ब्रह्मचर्यमायुष्याणम् व वीर्य बलवर्धानाम्ष्ष् के साथ समानता है। योगसूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्य के लाभ प्राप्त होते है। आयुर्वेद के अनुसार आयुवर्धक भावों में सर्वश्रेष्ठ भाव ब्रह्मचर्या का पालन है। वीर्य को बलवर्धक भावों में उत्तम कहा है। सद्वृत्त के प्रकरण में शरीर में से बिना किसी कारण वीर्य का उत्सर्जन न करने का निर्देश दिया है। चरक ने ज्वर की चिकित्सा में ब्रह्मचर्या के पालन से ने ज्वर की मुक्ति बतायी है। योग के अष्टांग विभाग के अन्तर्गत यम में ब्रह्मचय का उल्लेख किया गया है। अर्थात ब्रह्मचर्य के सेवन से वीर्य का नाश नही होता है। शरीर में उसकी स्थिति अच्छी बनी रहने से उसमें ऊर्जा, उत्साह व कान्ति बनी रहती है। चरक अनुसार रसायन सेवन अर्थात शरीर को वृद्धावस्था से बचाने वाले व रोगों का नाश करने वाले साधन भी तभी सार्थक होते हैं जब उनका प्रयोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए किया जाता है। आयुर्वेद में उसी शिष्य का उपनयन संस्कार करने का निर्देश है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता हो चिकित्सा का एक उपक्रम स्नेहन का लाभ भी ब्रह्मचर्य के पालन करने पर ही मिलता है। वैखानस व बाखिल्य ऋषियों नें भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ही दीर्घायु प्राप्त की थी। चन्द्रमा ने अगर ब्रह्मचर्य का पालन किया होता तो राजयक्ष्मा की उत्पत्ति नही होती।

12.3.5 अपरिग्रह

यम का अन्तिम विभाग अपरिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है मोह। मोह का त्याग करने से वैराग्य उत्पन्न होता है। इससे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। मोह का त्याग हो इसके लिए आयुर्वेद ने दान करने का निर्देश दिया है। जो आदमी खुद सजीव या निर्जीव चीजों का संग्रह करता हैए दूसरों से ऐसा संग्रह कराता है या दूसरों को ऐसा संग्रह करने की सम्मति देता है, उसका दुःख से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता। अपरिग्रह से तात्पर्य कम से कम ग्रहण करना है। शब्द स्पर्श रूप रस गंध आदि किसी भी भोग ण् सामग्री का संग्रह न करना ही अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं का संग्रहण नहीं करना चाहिए। साथ ही मालिक का भाव भी नहीं आना चाहिए। किसी भी विचार और वस्तु का संग्रह करने की प्रवृत्ति छोड़ने से व्यक्ति के शरीर से संकुचन हट जाता है जिसके कारण शरीर शांति को महसूस करता है। इससे मन खुला और शांत बनता है।

क्लेश :– योगसूत्र में क्लेश के अन्तर्गत राग एवं द्वेष का निरूपण किया गया है। सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश राग व दुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश

द्वेष कहलाता है। चरक ने सद्वृत्त के प्रकरण में राग व द्वेष के कारणों को नष्ट करने का निर्देश दिया है। इससे व्यक्ति स्वस्थ रहता है ओर रोग से आक्रान्त नही होता।

12.4 नियम

निरन्तर परम तत्व मे अनुरक्ति का नाम नियम है। जन्म के हेतु कर्म धर्म से निवृत्त कराके मोक्ष कराने वाले धर्म का नाम नियम है। कर्म के फल से दुःखी न होला पड़े इसलिए योग शास्त्र में नियम पालन का निर्देश दिया है। आयुर्वेद में मोक्ष को परिभाषित कर कर्म को ही जन्म मरण का कारण माना हैं योगसूत्र में शौचए संतोषए तपए स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान को नियम के अन्तर्गत ग्रहण किया है।

12.4.1 शौच

शरीर के द्वारा आत्मा का प्रकाश फैलाना ही शौच का लक्ष्य है। शरीर ए वाणी व मन की शुद्धता को शौच कहा जाता है। इन्हे बाह्य व आन्तरिक शुद्धि के नाम से जाना जाता है। शौच से रोगादि का निवारण होता है व दीर्घायु की प्राप्ति होती है। बाह्य शौच की प्रतिष्ठा होने पर अंशो में पवित्रता के विरुद्ध बहुत से दोष दिखने शुरु हो जाते है। आंतरिक शौच के द्वारा काम क्रोध लोभ मोह मलाादि दूर हो जाते हैं। आयुर्वेद में स्नान आदि उपक्रमों के प्रयोग से बाह्य शुद्धि व सदवृत के पालन से आन्तरिक शुद्धि होती है। मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के द्वारा आंतरिक शुद्धि होती है। चरक ने वैद्य में इन चार वृत्तियों का होना आवश्यक बताया है।

12.4.2 संतोष

योगसूत्र में संतोष को सर्वोतम सुख के नाम से जाना गया है। अपने प्रारब्ध कर्म अनुसार जो अन्न वस्त्र आदि जो प्राप्त हो जाए उसमें संतोष कहते हैं। संतोषमूलं हि सुखम् यमनु अर्थात सुख का कारण संतोष है। उपलब्ध बल सार्मथ्य व साधनों के अनुरूप कर्म करने पर जो भी फल मिलता है उसी में तृप्त हो जाने और प्रसन्नतापूर्वक रहने को संतोष कहते। यदि हम अपनी जीवन शैली और अपने मन पर नियंत्रण कर लें तो निश्चित रूप से सुखी हो सकते हैं। जरा से दुख में हताश होने से जीवन सार्थक नहीं बन सकता। संतोष की प्रतिष्ठा होने पर अतुलनीय सुख की प्राप्ति होती है। चरक ने असंतोष को क्लेशकारक में सबसे प्रधान कहा है। धारण करने योग्य वेगों के अन्तर्गत इसकी गणना की है।

12.4.3 तप

तप के अभ्यास से शरीर, इन्द्रिय व मन का मल दूर होता है। तप का अर्थ है आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आदिदैविक तीनो प्रकार के तापों को सहन करना।

तपस या तप का मूल अर्थ था प्रकाश अथवा प्रज्वलन जो सूर्य या अग्नि में स्पष्ट होता है।

तप के प्रताप से ही हमारा जीवन सुखमयण्समृद्धिपूर्ण और आनन्दमय बनता है। इससे हमारे जीवन में जो परिवर्तन आते है हमें समृद्धि की ओर अग्रसर करते है, लेकिन आधुनिकता की होर में हमारा जीवन नीरस अकर्मण्डता और भाग्यवाद में सिमटकर रह गया है। तप से मानसिक और शारीरिक शक्ति का विकास होता है। शरीर, मन और मस्तिष्क हमेशा सेहतमंद बने रहते हैं। इससे आत्मबल बढ़ेगा। इस योग से किसी भी प्रकार का रोग और शोक नहीं सताता। इससे जहां व्यक्ति के भीतर के क्रोध, लोभए काम आदि विकार निकलते हैं वहीं शरीर ताकतवान बनकर जीवन की प्रत्येक बाधाओं को पार कर जाता है।

साधना :–साधना के दौरान उत्पन्न होने वाली विध्न, बाधायें, कष्ट.क्लेश दुःखादि तथा श्रमादि को सहन करना, विचलित न होना, साधना में प्रवृत होना तप कहलाता है। मन की साधना के बिना इंद्रियों को रोकना दमन कहलाता है। दमन पीड़ादायी होता है जबकि संयम से दुख की अनुभूति नहीं होती है, अतरू संयम ही श्रेयस्कर है। दमन कभी स्थायी नहीं हो सकता। साथ ही दमन की प्रक्रिया के साथ विरोध भी प्रारंभ हो जाता है। आचार रसायन के अन्तर्गत रोजाना जप, शौच, दान व तपस्या करने का

निर्देश दिया गया है। चरक सहिंता में मनुष्य को ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, करुणाए हर्ष, च शान्ति में तत्पर रहने का निर्देश दिया है।

12.4.4 स्वाध्याय

जीवन निर्माण और सुधार संबंधी पुस्तकों का पढ़नाए परमात्मा और मुक्ति की ओर ले जाने वाले ग्रंथों का अध्ययन, श्रवणए मननए चिंतन आदि करना स्वाध्याय कहलाता है। आत्मचिंतन का नाम भी स्वाध्याय है। अपने बारे में जानना और अपने दोषों को देखना भी स्वाध्याय है। शुद्ध, पवित्र और सुखी जीवन जीने के लिए सत्संग और स्वाध्याय दोनों आधार स्तंभ हैं। स्वाध्याय मानवण्जीवन का सच्चा सुहृद एवं आत्मा का भोजन है । स्वाध्याय से हमें जीवन को आदर्श बनाने की सत्प्रेरणा मिलती है। स्वाध्याय हमारे जीवन विषयक सारी समस्याओं की कुँजी है। योगण्शास्त्रों मैं कहा गया है।

अर्थात स्वाध्याय से योग की उपासना करे और योग से स्वाध्याय का अभ्यास करे । स्वाध्याय की सम्पति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है ।

सत्संग से ही मनुष्य के अंदर स्वाध्याय की भावना जाग्रत होती है। स्वाध्याय का जीवन निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान है। स्वाध्याय से व्यक्ति का जीवन, व्यवहार, सोच और स्वभाव बदलने लगता है।

12.4.5 ईश्वर प्रणिधान

पतंजलि की दृष्टि में ईश्वर का उतना सैद्धान्तिक मूल्य नही है जितना कि व्यवहारिक। ईश्वर प्रणिधान की उपयोगिता यह है कि मन की एकाग्रता या ध्यान के साधनों में से एक है। योगदर्शन के पश्चात कालीन व्यक्ति से सैद्धान्तिक रूप से ईश्वर की विवेचना करते है।

सिर्फ एक ही ईश्वर है जिसे ब्रह्म या परमेश्वर कहा गया है। इसके अलावा और कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। ईश्वर निराकार है यही अद्वैत सत्य है। ईश्वर प्राणिधान का अर्थ हैए ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण। ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास। एक ही ईश्वर के प्रति अडिग रहने वाले के मन में दृढ़ता आती है। यह दृढ़ता ही उसकी जीत का कारण है। चाहे सुख हो या घोर दुःखए उसके प्रति अपनी आस्था को डिगाएँ नहीं। इससे आपके भीतर पाँचों इंद्रियों में एकजुटता आएगी और लक्ष्य को भेदने की ताकत बढ़ेगी। वे लोग जो अपनी आस्था बदलते रहते हैं, भीतर से कमजोर होते जाते हैं। योग दर्शन में क्लेश, कर्म विपाक एवं आशय से प्रभावित पुरुष विशेष को ईश्वर कहा गया है। पर चरक सहिता में पुरुष का उल्लेख तो अवश्य है पर उसे ईश्वर नहीं कहा गया है।

12.5 आसन

आसन का अर्थ शरीर संतुलन से है।यानि योग के लिए हमें किस तरह बैठना चाहिए यह जानना जरूरी है। महर्षि पंतजलि के योगसूत्र में आसन के बारे में जानकारी दी गई है। लंबे समय तक निश्चल होकर एक ही स्थिति में बैठना आसन है। शरीर की स्वाभाविक क्रियाएं शांत कर परमात्मा में मन को तन्मय करने से आसन की सिद्धि होती है। योग के लिए आसन की सिद्धि मतलब एक ही स्थान पर सुविधापूर्वक तन्मय होकर बहुत समय तक बैठने का अभ्यास जरूरी है। बैठने की यह प्रक्रिया और स्थिति ही आसन है।

12.6 प्राणायाम

प्राणायाम अन्तरंग एवं बहिरंग योग के बीच सेतु का कार्य करता है। यदि शरीर को स्वस्थ एवं रोगमुक्त करना हो या मन को पवित्र या आत्मा को निर्मल करना हो तो वह प्राणायाम से सम्भव है। प्राणायाम के द्वारा वृत्तिण्निरोध करके और आत्मास्थ होकर ही साधक जीवन्मुक्ति प्राप्त कर सकता है। प्राणायाम के अभ्यास से प्रत्याहार में सिद्धि मिलती है, क्योंकि प्राणायाम से मन भी शांत व स्थिर हो जाता है, जिसके फलस्वरूप इन्द्रियों के इधर–उधर भटकने की शक्ति समाप्त हो जाती है।

पंच तत्त्वों में से एक प्रमुख तत्त्व वायु हमारे शरीर को जीवित रखती है और वात के रूप में शरीर के तीन दोषों में से एक दोष है, जो श्वास के रूप में हमारा प्राण है।

12.7 प्रत्याहार

प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यंत वश में हो जाती हैं, अर्थात इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है। अपने–अपने विषयों के संग से रहित होने पर इन्द्रयों का चित्त के रूप से अवस्थित हो जाना प्रत्याहार है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर प्रत्याहार के समय साधक को बाह्य ज्ञान नहीं होता, क्योंकि व्यवहार के समय साधक को बाह्य ज्ञान रहता है। अतः व्यवहार के समय साधक शरीर यात्रा के हेतु से प्रत्याहार को काम में नहीं लाता। अन्य किसी साधन से यदि मन का निरोध हो जाता है ए तो इन्द्रियों का निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अंतर्गत आजाता है।

12.8 धारणा

किसी स्थान यमन के भीतर या बाहरद्ध विशेष पर चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है। धारणा सिद्ध होने पर देह स्वस्थ होती है। गले का स्वर मधुर होता है। योगी की हिंसा भावना नष्ट हो जाती है। योगी को मानसिक शांति और विवेक प्राप्त होता है। आध्यात्मिक अनुभूतियां जैसे प्रकाश दिखता, घंटे की ध्वनि सुनाई देना आरंभ होता है। धारणा से ही कठिन परीक्षा और सावधानी की शुरुआत होती है। जिसे धारणा सिद्ध हो जाती है कहते हैं कि ऐसा योगी अपनी सोच या संकल्प मात्र से सब कुछ बदल सकता है। ऐसे ही योगी के आशीर्वाद या शाप फलित होते हैं।

12.9 ध्यान

ध्यान से आपके शरीर मन और आत्मा को अनगिनत लाभ मिलते हैं। ध्यान में आप जिस विश्राम का अनुभव करते हैं वह गहरी से गहरी नींद से भी अधिक लाभदायक होता है। आपका विश्राम जितना गहरा होता है, आपकी कार्यक्षमता में उतनी ही अधिक वृद्धि होती है। ध्यान से तनाव के दुष्प्रभाव आपके भीतर घर नहीं कर पाते हैं ध्यान से आपके भीतर जो तनाव संग्रहित था, उससे मुक्ति मिल जाती है ध्यान से जीवन में शांति आनंद अच्छी सेहत अधिक ऊर्जा सकारात्मक रिश्ते और जीवन में परिपूर्णता मिल जाती है

12.10 समाधि

समाधि का अर्थ है चित्त जिसका ध्यान कर रहा हो उस समय चित्त का अपना स्वरुप शून्य होकर केवल ध्येय की ही प्रतीति होना। योग के सन्दर्भ में समाधि का अर्थ है कि चित्त जब ईश्वर का ध्यान कर रहा हो उस समय चित्त का अपना स्वरुप शून्य होकर केवल ईश्वर का ही अनुभव होता है अर्थात मैं ही ब्रह्म हूँ मैं ही ईश्वर हूँ ऐसा अनुभव होना हीसमाधि है।

योग मे निर्दिष्ट विभिन्न उपक्रमों का लक्ष्य मन को नियत्रित करना ही हैं। आयुर्वेद में भी मन को नियंत्रण में रखने का निर्देश दिया है। मन की विकृति से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति बतायी है। वातज ज्वर, पित्तज ज्वर, कफज ज्वर पित्तज प्रमेह, वातज प्रमेह, कुष्ठ एछर्दि पाण्डृ, तृष्णा एवात व्याधि, अरोचक एप्रतिश्याय, अतिसार आदि रोगों में मन की विकृति भी एक कारण माना है। मद, मूर्च्छा सन्यास उन्माद अपस्मार, काम क्रोध भय व शोक से उत्पन्न ज्वर, राजयक्ष्मा, मदात्यय, क्षयज क्लैव्य, व्रण एआयुक्षय, विषाक्तता, नवग्रह आक्रान्ति जैसे विकारों में मन को अवस्थित करने के लिए मणि, मंगल, बलि, प्रणिपात एमन्त्र, सुवर्ण सर्पि मणि प्राशन आदि का विधान बताया है।

12.11 मन्त्र

मन्त्र का अर्थ है दुःख, कष्ट, व्याधि, जन्म मरण के बन्धन से तारने वालाए अज्ञान की निवृति कराकर ज्ञान द्वारा मुक्ति करा देने वाला, अमोघ मन्त्र वही सत्य और शाश्वत मन्त्र कहलाता है। आत्मिक दृष्टि से आध्यात्मिक लाभ हेतु मन्त्र जप से बढ़ कर अन्य कोई सहज सरल साधन नही है। मन्त्र जप से प्रचन्ड शक्ति का उद्भव होता है। और सिद्धि प्राप्त होती है। मन्त्र के प्रयोग से अनेक वांछित लाभ मिलते है व अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियां प्राप्त होती है । सुश्रुत संहिता में दिन में तीन बार गायत्री मंत्र का जाप करने का निर्देश दिया है। चरक सहिंता में लिखा है कि भोजन करने से पूर्व मंत्र से जल का प्रोक्षण करना चाहिए। मंत्र को दैवव्यापाश्रय चिकित्सा को अन्तर्गत ग्रहण किया है। चरक ने ही उन्माद रोग की चिकित्सा में मंत्र चिकित्सा का उल्लेख

किया है। जनपद्दोध्वंस की चिकित्सा में भी मंत्र के द्वारा उसें शान्त करने को कहा है। संतान उत्पत्ति क्रिया प्रारभ्भ करने से पूर्व ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, अश्विनी कुमार जैसे देवताओं को मंत्र द्वारा प्रार्थना करने का निर्देश दिया है। स्त्री को प्रसव वेदना शुरु होने पर उसके कान में मंत्र पड़ने का निर्देश है। चरक ने उदर रोग की चिकित्सा में व विष चिकित्सा में मंत्र का प्रयोग बताया है।

वनस्पतियो को प्रयोग के लिए लेने से पूर्व मंत्र द्वारा प्राथना करने का विधान है।

महाभारत वन पर्व में लिखा है जो लोग अतिथि के चरण धोने के लिये जल, पैर में मलने के लिये तेल, उजाले के लिये दीपक, भोजन के लिये अन्न तथा रहने के लिये स्थान देते हैं वे कभी यमराज के पास नही जाते।

महाभारत वन पर्व में लिखा है कि क्रूरता का अभाव अर्थात दया सबसे महान धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है।

स्वस्थ शरीर के लिए स्वस्थ मन का होना आवश्यक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग एद्वेष आदि के कारण मन विकार ग्रस्त हो जाता है। जिस तरह शरद ऋतु जल का गंदला पन मिटा देती है उसी तरह योग के द्वारा मन के मलो का नाश होता है। श्रीमद्भगवत गीता में लिखा है कि शारीरिक स्वास्थ्य एवं सिद्धियों की प्राप्ति में योग औषधि, तपस्या और मन्त्र से अधिक प्रभावशाली साधन है। श्रीमद्भगवत गीता में कहा है कि होती है वे सब योग के द्वारा मिल जाती हैं। जिस तरह बच्चों को बहला फुसला कर कड़वी दवाई पिलायी जाती है उसी तरह विवक्षा कि द्वारा कर्मों में रुचि पैदा की जाती है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में अन्न को प्राण कहा है। श्रीमद्भगवत गीता में अन्न को प्राणियो का प्राण कहा है। सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते है। अन्न की उत्पति वृष्टि से होती है और यज्ञ विहित कर्मो से उत्पन्न होता है और कर्म समुदाय वेद से उत्पन्न होता है। यजुर्वेद जिसे कर्मवेद के नाम से जाना जाता है के प्रथम मन्त्र में श्रेष्ठतम कम करने का निर्देश है। उसके उपरान्त अन्य कर्म को करने पर बल दिया है। यज्ञकुण्ड में आहुति के रूप में वनस्पतियों के रूप में आयुर्वेदिक औषधियां, सुगन्धित सामग्री, घृत, चन्दन, मिष्टान्न, मेवे, कपूर, फल, जौ तिल आदि ।

12.12 सारांश

संसार में जहां कही भी दुःख और क्लेश है, चाहे वह जरा और व्याधि के रूप मे हो या अभिशाप आदि की कारणता से हो उसका मूल कारण अधर्म ही है। योग हो या आयुर्वेद दोनों में इस प्रकार के निर्देश दिये गये है जिससे धर्म का पालन हो। चरक सहिता में धर्म के साधनों में ब्रह्मचर्या, गुरु सेवा, अध्ययन एव्रत का पालन एसंतान उत्पादन, भृत्यों का पालन, अतिथि सत्कार, दान, परा, धन की इच्छा न करना, मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम न करना, इन्द्रिय एमन, विषय और बुद्धि की परीक्षा करना, आत्मा की नित्यता की निश्चिय करके विषयों से सर्वथा विरक्त करना बताया हैं। चरक संहिता में कहा है कि अपनी बुद्धि का प्रयोग कर के अहितकर कार्यों से दूर रहना चाहिए और हितकर कार्यो में प्रवृत करना। ज्ञानवृद्ध पुरुषों के पास रह का धर्म अर्थ और काम की वृद्धि का प्रयास करना चाहिए। आयुर्वेद में देश काल और आत्मा को सम्यक प्रकार से समझना चाहिए। अपने शरीर को विकारों से बचाने के लिए तथा आरोग्य और स्वास्थ्य की कामना के लिए मनुष्य को सद्दवृत्त का पालन करते रहने का निर्देश दिया है। आपने देखा कि योग के साधनों का पालन करने से जो लाभ प्राप्त होते हैं वही लाभ आयुर्वेद के नियमों का पालन करने से मिलते है। आयुर्वेद और योग की परम्पराए चाहें अलग अलग ढंग से अलग अलग आचार्यों द्वारा विकसित हुई हों ही न सबका प्रयोजन एक ही है।

12.13 शब्दावली

मोक्ष	मुक्ति, छुटकारा
उपनयन	निकट ले जाना । उपहार
अपरिग्रह	संग्रह न करना, अस्वीकृति
अस्तेय	चोरी न करना।

क्रोध	कोप, गुस्सा
लोभ	लालच
शोक	दुख कष्ट
आधिभौतिक,	पंचभूतो द्वारा पैदा होना यां उनसे सम्बधित
आध्यात्मिक	आत्मा स्म्बन्धी
आधिदैविक	अधिदेव से समबंध रखने वाला।
काम	इच्छा प्रेम मैथुन इच्छा
वृत्ति	क्रम, प्रणाली
दमन	दबाना
दानए	देना उपहार सौपना
मैत्रीए	मित्रता
करुणाए	दया

12.14 अभ्सास हेतु प्रश्न

1 यम नियम आदि का आयुर्वेद के सद्वृत के नियमों के साथ सामंजस्य स्थापित करें।
2 मन को नियतित्र करने के क्या लाभ है, स्पष्ट करें।
3 इन्द्रियों को वश कैसे किया जाता है, उदाहरण सहित बताएं।
4 स्वाध्याय के क्या लाभ है।
5 अहिंसा से क्या लाभ प्राप्त होते है।
6 योग और आयुर्वेद ने शौच के क्या लाभ बताए है।
7 ब्रह्मचर्य के सेवन से क्या लाभ होते है।
8 ईश्वर पर आस्था रखने से क्या लाभ है।
9 आयुर्वेद में मंत्र का प्रयोग किस की चिकित्सा में बताया है।
10 संतोष रखने से क्या लाभ होता है।

12.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग संग्रह, अष्टांग हृदय संवर्तिका व्याख्या वैद्य बनवारी लाल गौड़, काश्यप संहिता, कल्याण आरोग्य अंक, चारुचर्या पथ्यापथ्यविनिर्णयः, वेब दुनिया, इन्टरनेट

इकाई 13 :– योगाभ्यास हेतु उचित आहार

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 मिताहार है हितकर

13.4 आचरण का सम्बन्ध अन्न के साथ है।

13.4.1 आहार द्रव्य होते हैं सात्विक, राजसिक व तामसिक

13.4.2 सात्विक भोजन के लिए आवश्यक है अन्न शुद्धि

13.4.3 भाव शुद्धि से होती है भोजन के गुणों में वृद्धि

13.4.4 द्रव्यशुद्धि से प्राप्त होती है भोजन की गुणवत्ता में वृद्धि

13.4.5 कालशुद्धि आवश्यक है अच्छे भोजन के लिए

13.4.6 क्षेत्रशुद्धि

13.5 आहार ग्रहण विधि

13.5.1 भोजन से पहले स्नान आवश्यक है

13.5.2 पूर्वाभिमुख होकर भोजन करें

13.6 मन की प्रवृत्तियों की लिए भोजन पर ध्यान देना आवश्यक

13.6.1 उपवास से बढ़ती है आध्यात्मिक शक्ति

13.6.2 नियम अनुसार भोजन खाने से होती है वाछित लक्ष्य की प्राप्ति

13.6.3 इन का पालन करने से भोजन से मिलता है उचित लाभ

13.6.4 भोजन करते समय रखें ध्यान

13.7 वेद देते है भोजन सम्बन्धित निर्देश

13.8 सारांश

13.9 शब्दावली

13.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.1 प्रस्तावना–

यौगिक परम्परा में आहार का विशेष महत्व है। योगसाधक के लिए भोजन केवल जिह्वा की स्वाद संतुष्टि का साधन मात्र नहीं है अथवा महज उदरपूर्ति का उपक्रम भी है। यह उस की साधना का एक अभिन्न अंग है। शरीर को ही अपना आश्रय बना कर जीव अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है। कर्मयोग भक्ति और मोक्ष साधना भी शरीर के माध्यम से ही सम्भव है। इसके लिये शरीर को स्वस्थ नीरोग और ऊर्जावान बनाये रखना आवश्यक है। यदि आप योग करते हों या न करते हों, दोनों ही स्थिति में यौगिक आहार को जानना आवश्यक है। साधक की साधना का प्रथम सोपान आहार शुद्धि ही है। योग करने वाले के लिए मित आहार का निर्देश है। शास्त्रों में जिसे मित आहार कहा गया है, उसका अर्थ केवल आहार की अल्पता ही नहीं वरन उसकी पवित्रता और शुचिता है। मनुष्य को मित आहारी बनकर भोजन को ग्रहण करना चाहिए तभी उसमें मनसा वाचा कर्मणा एक रूपता और आचरण में पवित्रता और उच्चता का गुण विकसित हो सकता है।

13.2 उद्देश्य –

इस इकाई को पढ़ कर आप जानोंगे कि साधक की साधना का प्रथम सोपान आहार शुद्धि ही है। आहार ही वास्तविक योग है।

सुबह से लेकर शाम तक सात्विक दिनचर्या का नाम ही योग का वास्तविक स्वरूप है। जल्दी उठना, जल्दी सोना, सही समय भोजन ग्रहण करना, कब भोजन करना, कैसे और कितना करना, क्या भोजन करना चाहिए, योग करने वाले को खान पान का ध्यान रखना चाहिए, स्वस्थ और संतुलित आहार लेना चाहिए, अपने आहार में ऐसी चीज़ों को शामिल करना चाहिए जिनमें पोषक तत्व मौजूद हों, अत्यधिक तैलीय और भुने हुए खाद्य पदार्थों का सेवन कम करना चाहिए, हरी ताजी सब्जियां ताजे फल दूध और दूध से बने पदार्थ, एवं अनाज और उनमें पाये जाने वाले तत्व लाभदायक होते हैं।

योग एक प्रकार की साधना है। योग साधक को तन मन में उत्तेजना जगाने वाले खाद्य पदार्थों से परहेज रखना चाहिए कैफीन शराब और अन्य नशीले पदार्थों से योग साधक को दूरी बनाए रखना चाहिए पआप यह भी जानागे कि आचरण का सम्बन्ध अन्न के साथ है।

13.3 मिताहार है हितकर –

मिताहार का अर्थ सीमित आहार। जितना भोजन लेने की क्षमता है उससे कुछ कम ही भोजन लेना और साथ ही भोजन में इस्तेमाल किए जाने वाले तत्व भी सीमित हैं तो

यह मिताहार है। तपस्या का मूल आधार है मित आहार । मित आहार का अर्थ है अत्यंत सीमित मात्रा में जितना आवश्यक हो उतना ही भोजन ग्रहण करना। भोजन में स्वाद की बजाए सात्विकता, शुचिता और पवित्रता का होना साधक की सफलता का अनिवार्य तत्व है। भारतीय शास्त्रों में आहार शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया गया है।
मिताहार के अंतर्गत भोजन अच्छी प्रकार से घी आदि से बना हुआ होना चाहिए। मसाले आदि का प्रयोग इतना हो कि भोजन की स्वाभाविक मधुरता बनी रहे। योग करने वाले के लिए मित आहार का निर्देश है। शास्त्रों में जिसे मित आहार कहा गया है उसका अर्थ केवल आहार की अल्पता ही नहीं वरन उसकी पवित्रता और शुचिता है। मनुष्य को मित आहारी बनकर भोजन को ग्रहण करना चाहिए तभी उसमें मनसा वाचा कर्मणा एक रूपता और आचरण में पवित्रता और उच्चता का गुण विकसित हो सकता है। पौष्टिकता के नाम पर अत्याधिक मात्रा में तामसिक व राजसिक भोजन उचित नही है। साधक को साधना में तभी लाभ मिल सकता है जबकि उसका आहार सात्विक एवं चित्त को एकाग्रता प्रदान करने वाला हो। आहार की शुद्धि के बिना साधक की साधना की पूर्णता संभव नहीं है। अधिक आहार की आदत योग में बाधा उत्पन्न करती है।डटकर भोजन करने वाले आलस्यए निद्रा, मोटापा आदि के शिकार बन जाते हैं। यौगिक आहार नियम को जानकर ही आहार करें। आहार संयम होना आवश्यक है।

13.4 आचरण का सम्बन्ध अन्न के साथ है–

मनुष्य का कर्म आचरण और जीवन उसके द्वारा ग्रहण किए जाने वाले आहार पर निर्भर करता है। मनुष्य के समस्त आचारण् व्यवहार चेष्टा और कर्म शरीर के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाते हैं अतः इसकी स्वस्थता एवं स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। भोजन का हमारे आचारण्विचार से गहरा नाता है। हम जैसा अन्न खाते हैं वैसा ही हमारा आचरण होता हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कहा है कि खाया हुआ अन्न तीन भाग में विभक्त हो जाता हैण्स्थूल मध्यम व सूक्ष्म। स्थूल अंश से मल का निर्माण होता है मध्यम अंश से मांस बनता है व सूक्ष्म अंश से मन की पुष्टि होती है। अन्न मनुष्य के भौतिक शरीर को पोषित करने के साथ साथ सूक्ष्म शरीर की अवधारणा में महत्वपूर्ण योगदान देता है। जिस प्रकार दधि मथने पर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत बनता है उसी प्रकार अन्न के सूक्ष्म अंश से मन बनता है। मन अन्न्मय ही हैं। इसी उपनिषद में कहा है।
आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। आहारशुद्धि से सत्वशुद्धिः व सत्वशुद्धिः से ध्रुवा स्मृतिः व स्मृतिः शुद्धि से सभी ग्रन्थियों का मोचन होता है। सात्विक अन्न से सात्विक चिन्तन उत्पन्न होता है। अतः अन्न की शुचिता और उस पर किये जाने वाले संस्कार शुद्ध होने चाहिए। प्राणी के नेत्रए श्रोत्र, मुख आदि द्वारा आहरणीय रूप मन का निर्माण अन्न के सूक्ष्म भाग से होने के कारण अन्न की दुष्टि से ही मन के विचार भाव और सोच बदल जाते हैं। मन से ही विचार एविचारों से आचार और आचार से कार्य सम्पन्न होते है। संसार में तेजी से हिंसा बढ़ रही है। इसका मूल कारण खानपान का दूषित होना ही है। इसका आकलन हमारी भोजन के प्रति रुचि से लगाया जा सकता है। सात्विक व पौष्टिक भोजन हमारे तन व मन दोनों के लिए बेहतर होता है। न केवल आहार शुद्ध हो अपितु उसे बनाने वाले हाथ परोसने वाले और उसमें उपयोग लाए जाने वाले पदार्थ तथा आहार जहाँ तैयार किया जा रहा है वहाँ का वातावरण भी शुद्ध होना चाहिए। उसे उसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।

13.4.1 आहार द्रव्य होते हैं सात्विकए राजसिक व तामसिक

सभी आहार द्रव्य पांचभैतिक होते है। उनके अन्दर विद्यमान पांचभैतिक आधर पर ही विभिन्न प्रकार के आहारीय घटकों की रचना होती है। उन्ही के आधार पर ही उनकी त्रिगुणात्मक कार्मुकता स्थापित होती है। सत्व गुण में आकाश गुण की बहुलता होती है। रज गुण में वायु और अग्नि महाभूत की बहुलता होती है। तम गुण में जल और पृथ्वी महाभूत की बहुलता होती है। द्रव्यों के पंचभौतिक स्वरूप का ज्ञान हो जाने से हम सात्विकए राजसिक व तासिक आहार के स्वरूप को समझ सकते है।

13.4.2 सात्विक भोजन के लिए आवश्यक है अन्न शुद्धि

खाद्य वस्तुएं पवित्र व सात्विक होनी चाहिए। सरल सारवान व हितग्राही आहार सात्विक होता है। सतो गुणी भोजन से ही मन की सात्विकता स्थिर रहती है। इससे आयुएबल, उत्साह, आरोग्य एसुख और प्रीति की वृद्धि होती है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, रूक्ष और दाहक विदाही आहार राजसिक होता है। इनके ग्रहण करने से रोग उत्पन्न होते हैं। बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा, स्पर्श तथा दृष्टि से अपवित्र आहार तामसिक होता है जिनसे तन में जड़ता, अज्ञानता और पशुभाव जाग्रत होते हैं। इसी आधार पर सात्विक आहार श्रेष्ठ माना जाता है।

सात्विक आहार का प्रमुख घटक अन्न होता है। उसकी पवित्रता व शुद्धता के लिए यह आवश्यक है कि उसे साफ जल से धोकर सुखा लिया जाए। जिस स्थान पर भोजन का पाक होता है वह स्थान पवित्र व स्वच्छ होना चाहिए। भोजन को बनाने वाला व्यक्ति भी स्वच्छ होना चाहिए। सात्विक भोजन मानव स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव छोड़ता है जबकि तामसिक भोजन मनुष्य को रोगी बनाता है। सात्विक भोजन हमारे शरीर बीमारियों से निबटने की शक्ति प्रदान करता है। भोजन को केवल पेट भरने का साधन मानकर ही ग्रहण करने से उससे हमं आत्मिक शांति व आनंद नहीं मिलता है। अर्थ आयु बुद्धि बल आरोग्य सुख और प्रीति को बढाने वाले एवं रसयुक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय हों ऐसे आहार सात्विक प्रवृति के मनुष्यों को प्रिय होते हैं। युक्तिपूर्वक संस्कार किया हुआ, दोषों से रहित व गुण युक्त भोजन करना चाहिए। मनुस्मृति में अन्न को ब्रह्म एरस को विष्णु एवं आहार ग्रहण करने वाले को महेश्वर कहा है।

13.4.3 भाव शुद्धि से होती है भोजन के गुणों में वृद्धि

शरीर का विकास भोजन, पानी मिट्टी, हवा, धूप आदि से होता है। जिस प्रकार का भोजन होता है उसी तरह का भोजन निर्मित होता है। व्यक्ति के शरीर पर भोजन के साथ–साथ उसे किस भावना के साथ सेवन किया है उसका अलग महत्व होता है। जिस तरह किसी श्रद्धालु का एक धार्मिक स्थल के प्रति भाव होता है उसी तरह का भाव भोजन बनाने वाले का होना चाहिए। भोजन के हर कण–कण में ऊर्जा व आनंद छुपा है। अन्न के हर एक निवाले को यदि हम शांतिपूर्वक प्रेम से ग्रहण करेंगे तो वह हमें असीम सुख देने के साथ–साथ बेहतर स्वास्थ्य भी प्रदान करेगा। भोजन से हमें संतुष्टि और ऊर्जा दोनों मिलते हैं। प्रेम व भक्ति भाव से निर्मित भोजन व उसी भाव से भोजन करने वालें द्वारा ग्रहण किया जाने पर शरीर की पुष्टि होती है। भोजन बनाने वाला व्यक्ति अगर क्रोध में हो तो या असंतुष्ट हो अथवा नाराज हो तो वह भोजन नीरस, रूक्ष व अपथ्य होकर भोजन करने वाल को अतृप्त और असंतुष्ट कर देता है। अतः भोजन निर्माण करते समय पाक निर्माता के मन में ईश्वर के प्रति भावनात्मक प्रेम भक्ति ए परिवार के सदस्यों के स्वस्थ जीवन कामना के साथ साथ शुद्ध शान्त व प्रेममय वातावरण का होना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से ही भोजन से पहले भगवान को मंत्र के माध्यम से धन्यवाद देने की परंपरा हैं। ऐसा माना जाता है कि भोजन से पहले यदि भोजन मंत्र बोला जाए तो भूख बढ़ती है भोजन सुपाचित होने के साथ ही पूरे शरीर को भोजन से सकारात्मक ऊर्जा मिलती है। हमारा शरीर भोजन से ही मिली ऊर्जा पर ही पूरी तरह निर्भर रहता है। ऐसी मान्यता है कि भोजन से पहले मंत्रोच्चार से जो ऊर्जा मिलती है वह ऊर्जा सकारात्मक कार्यों में खर्च होती है। आपको कार्य करने के लिए अधिक ऊर्जा मिलती है। हमारे यहाँ अन्न को देवता माना गया है। अतः उसे आवश्यकता से ज्यादा इस्तेमाल करना और झूठा छोड़ना दोनों ही गलत है। ब्राह्मनो, स्वजनो, अतिथियों और सेवकों को भोजन करा लेने के बाद ही उससें बचे हुए अन्न को ही गृहस्थ व्यक्ति को खाना चाहिए। देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों को खिलाने के बाद, जो अन्न बचे स्वयं के लिए उस अन्न का ही प्रयोग करना चाहिए।

13.4.4 द्रव्यशुद्धि से प्राप्त होती है भोजन की गुणवत्ता में वृद्धि

जब मनुष्य में तम दोष की बहुलता होती है तो वह धन कमाने के लिए अनीतिए चोरी, तसकरी, लूट जैसे रास्तों को अपनाता है। इस प्रकार से अर्जित धन से खरीद कर बनाया गया भोजन दोषों से युक्त होता है। इस प्रकार का भोजन तन और मन दोनो को दुष्प्रभावित कर देता है। भोजन करने वाले का चाल चलन चिन्तन मनन व आचार व्यवहार इस प्रकार के भोजन के प्रभाव को स्पष्ट रूप् से परिलक्षित करता है। महाभारत के भीष्म पितामह का चरित्र इस बात का प्रबल प्रमाण है। परिश्रम ईमानदारी से अर्जित धन से बना भोजन न केवल सात्विक गुणों से युक्त होता है अपितु आरोग्यकारक होता है।

13.4.5 कालशुद्धि आवश्यक है अच्छे भोजन के लिए

जिस तरह अग्निहोत्र दिन में दो बार करने का विधान है उसी तरह स्वस्थ लोगों को दिन में दो बार आहार ग्रहण करने का निर्देश है। प्रातः काल व सायं दो काल के भोजन के बीच में कम से कम दो याम अर्थात छः घण्टे का अन्तर रहना चाहिए। इससे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से होता है। इससे अधिक देर करने तक शरीर में पहले से संचित बल का क्षय होता है। शाम का भोजन सूर्यास्त के पहले करना। दरअसल यह नियम व्यक्ति के स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर बनाया गया है। सूर्यास्त के पहले भोजन करने से न केवल पाचन तंत्र ठीक रहता है बल्कि हम कई तरह की बीमारियों से भी बच जाते हैं। प्रातःकाल और सांयकाल के भोजन के बीच कम से कम छः घण्टे का अंतर रहना चाहिए। इससे अन्न का परिपाक ठीक प्रकार से होता है। इससे अधिक देर करने से पहले से संचित बल का क्षय होता है।

मनुष्य अपनी इंद्रियों के माध्यम से संसार के नाना प्रकार के आकर्षणों से युक्त रूप रस शब्द, गंध व स्पर्श द्वारा विषयों का आस्वादन लेते हुए स्वास्थ्य, सुख और शांति की मृगमरीचिका में आजीवन विचरण करता रहता है। उसे स्वास्थ्य, सुख और शांति के बदले बारण्बार शारीरिक मानसिक बौद्धिक व आत्मिक बेचौनी चिंता व तनाव से जूझते रहना पडता है। चंचल मन जिसे नियंत्रित करना वायु को नियंत्रित करने के समान दुष्कर है वह इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं रख पाता। बुद्धि इंद्रियों के विषयोन्मुख होने के दुष्परिणाम जानते हुए भी न तो मन को रोक पाती है न इंद्रियों को।

13.4.6 क्षेत्रशुद्धि

जिस स्थान पर भोजन बनता है उस स्थान की शुद्धता का विशेष महत्व है। चौका और भोजन गृह की शुद्धि से आहार की सात्विकता बनी रहती है। प्रत्येक स्थान का वायुमण्डल, वातावरण और पर्यावरण हमारे मन को प्रभावित करता है। इन की शुद्धि स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। प्राचीन काल की परम्परा अनुसार चौका व्यवस्था में चर प्रकार की शुद्धियॉ–क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि व भाव शुद्धि का समुच्चय रहा है। ऐसे स्थान साफ व प्रकाश युक्त होते थे। ऐसे स्थानों पर गोबर का लेप होता था। अनाधिकृत व्यक्तियों का प्रवेश निषिद्ध होता था। भोजन निर्माण स्थल पर जूतों का प्रवेश निषिद्ध होता है। भोजन का सेवन भी पवित्र व साफ स्थान पर करना चाहिए। सड़क किनारे, नाली किनारे, भिन्नभिन्नती मक्खियों के नजदीक एधूल के बीच, कोई वस्तु नही खाना चाहिए। श्मशान जैसी अपवित्र स्थान पर भोजन नही करना चाहिए।

13.5 आहार ग्रहण विधि

भारतीय संस्कृति में आहार ग्रहण करने के लिए एकल व सहभोज दोनो प्रकार की परम्पराएं प्रचलित रही है। दोनों ही अवस्थाओं में भोजन स्थल की शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया है। जूते चप्पल पहन कर एखड़े होकर बिना हाथ पांव धोए भोजन नही करना चाहिए ।

13.5.1 भोजन से पहले स्नान आवश्यक है

निरोग शरीर होने पर बिना स्नान किये खाने से मल–भोजन और बिना जप पूजा के खाने से पूर्व– शोणित भोजन का दोष होता है। इस लिए स्नान के बाद भोजन करना चाहिए। शास्त्रों में लिखा है कि दोनो हाथ व दोनों पांव और मुंह धोकर पूर्वाभिमुख होकर मौन धारण कर भोजन करें। बिना पूजा के भोजन का निषेध है और बिना स्नान के पूजा नही करनी चाहिए। शरीर अस्वस्थ रहने पर गीले कपड़े से शरीर पोंछ कर

कपड़े बदल लेने चाहिए और मानसिक स्नान कर लेना चाहिए। स्वयं को पवित्र जल से स्नान कर लेने की दृढ़ भावना करने से मानसिक स्नान सम्भव होता है।

भोजन करते समय लोभ से रहें दूर।योगशास्त्र में मनुष्य की स्वाभाविक श्वास गति बारह अंगुल किंतु भोजन से पहले बीस अंगुंल बतायी है । श्वास की गति अधिक होने पर आयु घटती है और कम होने पर बढ़ती है । लोभ से भोजन करने में तथा हाथ पांव न धोकर भोजन करने में श्वास गति बढ़ती है। इसी कारण भगवान को भोग लगाकर प्रसाद रूप से तथा हाथ पांव धोकर खाने की परम्परा है।

13.5.2 पूर्वाभिमुख होकर भोजन करें

प्राणस्वरूप सूर्य पूर्व से उदित होता है। इससे आयु और शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए पूर्व की ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। भोजन करने का स्थान स्वच्छ होना चाहिए। भोजन का स्थान पवित्र, एकान्त, गोमय तथा जल से सिंचित होना चाहिए। भूमि पर एलकड़ी के पाटे पर, या आसन पर सुखासन में बैठना चाहिए। लकड़ी का टुकड़ा विद्युत कुचालक का कार्य करता है। इस कारण भोजन करने से उत्पन्न आन्तिरक शक्ति जमीन के सम्पर्क में नही आ पाती। वह शक्ति शरीर में ही सुरक्षित रहती है। सुखासन में बैठने से शरीर पर आवश्यक दवाब नही पड़ता।

13.6 मन की प्रवृत्तियों की लिए भोजन पर ध्यान देना आवश्यक

सामान्य मनुष्य न तो सक्षम गुरुओं के संपर्क में होता है न शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा ही ज्ञानयोग भक्तियोग कर्मयोग राजयोग हठयोग को जीवन में अपना पाता है। ऐसी स्थिति में उसे सबसे पहले अपने भोजन पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि भोजन का सीधा प्रभाव मन और विचारों पर पड़ता है। योग–पद्धित में मान्य अहिंसा की परम्परा है। संसार के कुछ भागों में मांस खाना परमावश्यक हो सकता है किन्तु परिवहन साधनों के अत्यधिक विकास से यह आवश्यकता अब समाप्त होती जा रही है। जैविकीय दृष्टि से मानव भी पशु के समीप ही है। अतः पशु का मांस खाना न तो मन को प्रिय होता है और न क्षुधा शान्त करने वाला होता है। मांस पशु को मारकर प्राप्त किया जाता है अतः वह मृत खाद्य है। जब पशुओं को मारने के लिए बूचड़खाने ले जाया जाता है तो पशु को ज्ञात होता है कि उसका अन्त आने वाला है। अतःएव उनके मांस में भय, कष्ट, क्रोध और हताशा के नकारात्मक भाव भरे होते हैं। इस मांस को खाने पर मांसाहारी व्यक्ति में भी वे भाव आते हैं। इसके विपरीत दूध इससे सर्वथा भिन्न होता है क्योंकि पशु प्रेम भाव से उमग कर ही दूध देता है।

गीता में निर्दिष्ट तीन प्रकार के सात्विक राजसी और तामसी भोजन के अनुसार ही अनुसार ही मन की प्रवृत्तियां और विचार बनते हैं। इन्ही के अनुरूप हम वाणी से बोलते हैं और उन्हीं से प्रेरित होकर आचरण करते हैं। हम जैसा आचरण करते हैं उसका तद्नुरूपपरिणाम भी सुख दुख स्वास्थ्य अथवा बीमारी और कष्ट के रूप में प्राप्त करते हैं। तामसी भोजन करने वाला निश्चित रूप से आलसी प्रमादी और अकर्मण्य होगा। राजसी भोजन करने वाले व्यक्ति में विलासी क्रोधी, झगडालू प्रवृत्ति वाला होने। दिष्ट होने की वजह से अधिक भोजन खाने की आदत वाला होने के कारण बार–बार अस्वस्थ होने की संभावना होती है। इसी प्रकार सात्विक भोजन के प्रभाव से मनुष्य श्रेष्ठ विचारों सद्ग्रंथों और सत्पुरुषों की ओर प्रेरित होता है। सदाचार शांत स्वभाव स्वस्थ शरीर रोगों से मुक्ति सात्विक भोजन के परिणाम होते हैं। उस व्यक्ति की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। उसके पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश में शांति और सामंजस्य होता है। मनुष्य का जीवन धृति क्षमा दम अस्तेय आदिधर्म के दस लक्षणों को धारण करने योग्य बनकर शांति औरआनंदप्राप्तकरने है।

व्यक्ति की आवश्यकता एवम प्रकृति के अनुकूल प्रतिकूल का विचार किए बिना खा लेने पर सात्विक होते हुए भी राजस तामस के प्रभाव वाले ही हो जाते हैं । हम जो भोजन रोजाना करते हैं उनमें पौष्टिकता तो होती है लेकिन कई बार हम अपनी जानकारी के अभाव में उसे नष्ट कर देते हैं। जैसे चावल को धोकर उसका पानी फेंक देना सब्जियों को काटने के बाद धोना या फिर उन्हें ढेर सारे मसालों के साथ तैयार करना।

13.6.1 उपवास से बढ़ती है आध्यात्मिक शक्ति

उपवास के दौरान अन्न न खाने के पीछे धार्मिक कारण यह है कि अन्न उदर पूर्ति करता है हमें संतुष्टि प्रदान करता है। हमारे शरीर के लिए कभी कभी भूखा रहना भी फायदेमंद होता है। उपवास करने पर हम अन्नादि नहीं खाते हैं जिससे हमारे पाचन तंत्र को विश्राम मिलता है। व्रत हमारे स्वास्थ्य के लिए बहुत फायदेमंद है क्योंकि इस दौरान हम खानपान के संबंध में पूरी सावधानी रखते हैं और हम स्वस्थ और निरोगी बने रहते हैं। इससे कब्ज अजीर्ण सिर दर्द बुखार आदि रोगों से रक्षा होती है। आध्यत्मिक शक्ति बढ़ती है। ज्ञान विचार पवित्रता बुद्धि का विकास होता है। इसी कारण उपवास व्रत को पूजा पद्धति को शामिल किया गया है। व्रत में सात्विक व मादकता से रहित फलाहार हमारे शरीर को सभी आवश्यक पौष्टिक तत्व देता है और बीमारियों से रक्षा करता है। ऋग्वेद में लिखा है कि जीभ पर काबू रखों, स्वाद के लिए नही अपितु स्वास्थ्य के लिए खाओ।

13.6.2 नियम अनुसार भोजन खाने से होती है वाछित लक्ष्य की प्राप्ति

शरीर से मल मूत्र त्याग कर देने पर हृदय में स्वच्छता हो जाने पर समस्त दोष शरीर में यथा स्थान अग्रसर होने पर, फिर भूख के पैदा होने पर शरीर में वायु का संचार होने लगता है। इस प्रकार शरीर में जठराग्नि के अनुभव होने पर निर्मलता आ जाती हैं इसलिए यथा समय नियम से भोजन कर लेना चाहिए। जीवन में मनचाही उपलब्धि सन्तोष सुखण्समृद्धि की कामना रहे तो दो तीन अथवा अनेक व्यक्तियों के साथ भोजन कार्य सम्पन्न करना चाहिए। भोजन करते समय सर्वप्रथम मीठे पदार्थों का सेवन करना चाहिए। उसके बाद खट्टा नमकीन पदार्थों को खाना चाहिए अन्त मे तीखा कसैली वस्तुओ का सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से भोजन भली भान्ति पच जाता है और शरीर की धातु, परिपुष्ट हो जाती हैं।

13.6.3 इन का पालन करने से भोजन से मिलता है उचित लाभ

कांस्य पात्र में नारियल का जल ताम्रपात्र में रखा गया मधु व इसी बर्तन में रखा गया गोमूत्र दही आदि बिना घी के मदिरा के तुल्य माना है।

सर्वदा भोजन काल में मांगलिक वस्तुओं का दर्शन करना चाहिए। इससे मन प्रसन्न रहता है व आयु और धर्म की वृद्धि होती है। इस लोक में आठ मंगल हैं। ब्राह्मण गाय अग्नि फूल की माला घी, सूर्य, जल और राजा।

13.6.4 भोजन करते समय रखें ध्यान

मनु स्मृति अनुसार सर्वदा भोजन की पूजा करनी चाहिए व बिना निन्दा किये भोजन करना चाहिए। भोजन देख कर मन प्रसन्न होना चाहिए। बाहर से भी प्रसन्नता का एहसास होना चाहिए। भोजन को देख का उसका सभी प्रकार से अभिनन्दन करना चाहिए। पूजित भोजन के प्रयोग से बल और स्फूर्ति की वृद्धि होती है।

रात्रि के आहार के पाचन में समय़ अधिक लगता है इसलिए रात्री के प्रथम प्रहर में ही भोजन कर लेना चाहिए। शीत ऋतु मे रातें लम्बी कारण सुबह भोजन जल्दी कर लेना चाहिए और गर्मियों मे दिन लम्बे होने के कारण सायंकाल का भोजन जल्दी कर लेना उचित है।

सुबह उठ कर कुल्ला कर के ताजा जल पीये या ताम्बे के बर्तन में रखा जल पीये। पवित्र बर्तन में रखा हुआ जल सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। सूरज निकलने से पहले उठे कुछ योग अभ्यास करे और प्राणायाम को जीवन का अंग बनाए ।

योगी साधक भक्षण कर लेने पर सदैव मूलाधार में स्थित कुण्डली का संकोच न करे और वायुप्राशन के द्वारा उसे पूर्ण करता रहे। यदि साधक भक्षण का जो नियत स्थान है उस स्थान में सुखपूर्वक वायु पूर्ण करता रहे तो ऐसा जितेन्द्रिय योगी धीरे – धीरे काल बीतने पर सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बारम्बार वायुभक्षण से भक्ष पदार्थ पच

जाता है। क्योंकि बिना पूरक प्राणायाम के भक्षण किया गया पदार्थ नहीं पचता, अथवा इस प्रकार के भक्षण को त्याग कर अन्य प्रकार से भक्षण करना चाहिए। क्योंकि भक्षण के बिना नाड़ी समूह पर स्थित देवता तृप्त नहीं होते

भोजन के उपरान्त बाहर खुले स्थान पर अच्छी तरह निकल कर लगभग सोलह बार कुल्ला कर मुख में फंसे अन्न कण निकालने चाहिए। इसके बाद खुली आंख जल के छींटे देने चाहिए। गीले हाथ रगड़ कर तीन बार आंख पोछें। मुख प्रक्षालन के उपरान्त लघुशंका करने से अतिरिक्त उष्णता व अम्लता बाहर निकल जाता है।

भोजन के बाद बिस्तर पर आठ श्वास तक चित्त लेटेंए सोलह श्वास तक दायीं करवट और बत्तीस श्वास तक बायीं करवट लेटना चाहिए। इससे भोजन आसानी से पचता है।

13.7 वेद देते है भोजन सम्बन्धित निर्देश

वेदों में शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए शुद्ध रखने के लिए शुद्ध, पुष्टिदायक, रोग नाशक अन्न तथा जल का सेवन करना आवश्यक बताया है। जल को सुख प्रदान करने वाला तथा शक्ति प्रदान करने वाला बताया है। अन्न विषयक अनेक मन्त्र वेदों में आये है जिनमें गेहू, मसूर व चावल आदि का सेवन करने को निर्देश है। भोजन में गोदुग्ध का सेवन महत्व है। शरीर के सौन्दर्यवृद्धि का कारण दुग्ध ही है।

ऋग्वेद में लिखा है कि शारीरिक और आत्मिक सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को अपने आहारएविचार व चेष्टाओं में सादगी रखनी चाहिए। उसे ब्रहम्चर्या का पालन करना चाहिए। मनुष्य को ऐसा आहार करना चाहिए जो मधुर, रसयुक्त एस्वादिष्ट अन्न से यथाविधि बनाया गया हो। जो रोग को नष्ट कर आयु बल की रक्षा करता हो। तीखे ,कसैले, बासी और मांस आदि का प्रयोग घृणित होता है। हमारा आहार ऐसा होना चाहिए जिससे बुद्धि, अवस्था और बल में निरन्तर वृद्धि होती रहे। हमारा जीवन ऐसा होना चाहिए कि हम पूर्ण आयु प्राप्त कर सकें। हमारी अकाल मृत्यु न हो इसलिए हम संयमित जीवन जिएं। जल मनुष्य के लिए कल्याणकारी होता है। इसके सेवन से बाह्य और आन्तरिक मल दूर होते हैं। जल से मनुष्य को जीवन प्राप्त होता है। मल का शोधन होता है, शरीर पवित्र होता है, अतः हम शारीरिक निर्मलता और मानसिक प्रसन्नता के लिए जल का प्रयोग करना चाहिए। जल के विधिवत प्रयोग और नियमपूर्वक सेवन से सर्वागं नीरोगता की प्राप्ति होती है। सामवेद में लिखा है कि प्रातः कालीन प्राणदि वायु सूर्योदय तक निर्दोष रहती है। अतः प्रातःकाल उठकर प्राणःवायु का सेवन करना चाहिए। इससे स्वास्थ्य और आरोग्य स्थिर रहता है। वायु जीवन है एआरोग्य दाता है, प्रातःकाल उठ का वायु का नियमित सेवन करें। यजुर्वेद में लिखा है कि सदैव पुष्टिदायक और आरोग्यकारी अन्न का सेवन करें। दान में भी ऐसा ही अन्न प्रदान करना चाहिए। इससे बल की वृद्धि होती है और उन्न्ति की सम्भावनाएं और बढ़ती है। धर्म एअर्थ काम और मोक्ष का प्रमुख साधन मनुष्य शरीर है। इसलिए उचित आहार, संयमित विहार और आचरण में। सुखों का मूल है। जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी में अपना घर बनाकर निवास करता है, उसी प्रकार शरीर भी जीवात्मा का घर है। अतः इसे ब्रहमचर्या, सात्विक अन्न, पथ्य और संयम द्वारा स्वस्थ व निरोग रखें ।

अथर्ववेद में लिखा है कि व्यक्ति ब्रहमचर्या का पालन करते हुए नियमित आहार, व्यायाम और श्रम द्वारा अपना शरीर दृढ़ और मजबूत बनावें और सदैव स्वस्थ रहें। उत्तम पदार्थो के सेवन और श्रेष्ठ पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त कर पूरी आयु भोग कर ससांर का कल्याण करे। मानव देह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। बन्धन मुक्ति की सम्पूर्ण शक्तियां और साधन इसमें विद्यमान है। इसलिए मनुष्य को ऐसा आहार विहार, विचार और व्यवहार बनाना चाहिए जिससे पूर्ण आयु का भोग कर सके। जो लोग

चावल तथा जौ आदि सात्विक भोजन प्रसन्नचित्त होकर करते है, उनका शरीर पुष्ट होता है और रोग पास नही आते। जिस प्रकार गाय घास खाकर और स्वच्छ जल पीकर संसार को दूध देती हैं, इसी प्रकार मनुष्य को सात्विक आहार खाकर सदैव संसार का उपकार करना चाहिए ।

13.8 सारांश

मांसमछली, अंडे, प्याज, लहसुन, बासी तथा सड़ा भोजन बुद्धि को मलिन बनाता है। अतः इनके प्रयोग से बचें।

लाल मिर्च एखटाई, तेल के बने पदार्थ एबाजार के बने नंगे पड़े व दूषित पदार्थ स्वास्थ्य के लिए अहितकर है।

तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चाय, काफी आदि सब प्रकार की नशीली वस्तुएं स्वास्थ्य को नष्ट करती है।

भोजन सात्विक, सुपाच्य, तथा ऋतु के अनुकूल तथा स्वास्थ्य कारक होना चाहिए।

बहुत गरम भोजन, चाय तथा बहुत गरम दूध पीना अथवा बहुत ठंडा भोजन, बरफ का सेवन स्वास्थ्य के लिए उचित नही होता ।

पान तम्बाकू के सेवन के बचें। भोजन जल्दी जल्दी मत करें। भली प्रकार से चबा कर भोजन करें सभी प्रकार के नशों से दूर रहें।

खड़े खड़े भोजन मत करें। चलते फिरते भोजन मत करें। भोजन करते समय बाते करना हानिकर है। भोजन मौन रह कर प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिए।

भोजन पवित्रता और शुद्धता से बना कर ही प्रयोग करना वाहिए। शुद्ध और पवित्र स्थान पर ही भोजन करना चाहिए। भोजन एकान्त मे ही करना चाहिए। उस पर किसी की दृष्टि नही पड़नी चाहिए।

मुंह साफ कर, कुल्ला कर हाथ पैर धोकर गीले पैर भोजन करना स्वास्थ्य के लिए हितकर है। भोजन के लिए या तो पालथी मार कर स्थिर बैठना चाहिए अथवा दोनो हाथों को दोनों घुटनों के बीच में रख कर भोजन करना चाहिए।

भोजन करते समय ग्रास इस प्रकार उठाना चाहिए कि पात्र से भूमि पर या वस्त्र पर कोई जूठन नही गिरनी चाहिए।

अन्यथा आप कितने ही आसन–प्राणायाम करते रहें, वे निरर्थक ही सिद्ध होंगे। उचित आहार का चयन करें और निश्चित समय पर खाएं। आहार में शरीर के लिए उचित पोषक तत्व होना जरूरी है। ना कम खाएं और ना ज्यादा, मसालेदार तो बिल्कुल ही नहीं। निरोगी रहकर लम्बी उम्र चाहते हैं तो आहार पर ध्यान दें। यौगिक आहार का चयन करें।

13.9 शब्दावली

उदरपूर्ति	पेट भरना
सान्निध्य	साथ
शुचिता	पवित्रता
चौका	रसोई
सोपान	सीढ़ी, परम्परा
निर्दोष	बिना दोष के
अभिनन्दन	प्रशसां करना, अनुमोदन करना, स्वागत
पूर्वाभिमुख	पूर्व की ओर उन्मुख
अवधारण	निश्चय करना, सीमा निश्चित करना

13.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

1 मन का निर्माण आहार के किस भाग से होता है।

2 मन अन्न्मय ही हैं। यह किस उपनिषद में कहा है

3 नियम अनुसार भोजन खाने से क्या लाभ प्राप्त होते हैं ?

4 भेजन की पवित्रता से क्या अभिप्रायः है?

5 भेजन करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?
6 भोजन की पवित्रता का कालशुद्धि से क्या सम्बन्ध है?
7 भाव शुद्धि से भोजन के किन गुणों में वृद्धि होती है ?
8 सात्विक भोजन खाने के लिए किस किस प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ?
9 उपवास से क्या लाभ प्राप्त होते हैं ?
10 मन की प्रवृत्तियों का भोजन के साथ क्या सम्बन्ध है?
11 वेदों में किस प्रकार के भोजन को लेने का निर्देश दिया गया है?
12 किस प्रकार के भोजन बुद्धि को मलिन बनाता हैघ् तपस्या का मूल आधार क्या है?
13 मनुस्मृति में आहार के सम्बन्ध में ब्रह्म, विष्णु एव महेश्वर किस को कहा है।

रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

.....का पालन करते हुए नियमित आहार, व्यायम और श्रम द्वारा अपना शरीर दृढ़ और मजबूत बनावें और सदैव स्वस्थ रहें
ब्रहमचर्या
.....होकर भोजन करें।
पूर्वाभिमुख
भोजन..... मे ही करना चाहिए।
एकान्त
.....में लिखा है कि व्यक्ति ब्रहमचर्या का पालन करते हुए नियमित आहार, व्यायम और श्रम द्वारा अपना शरीर दृढ़ और मजबूत बनावें और सदैव स्वस्थ रहें
अथर्ववेद
उपवास से .....शक्ति बढ़ती है।
आध्यात्मिक
श्वास की गति ....होने पर आयु घटती है और .....होने पर बढ़ती है।
अधिक, कम

13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरक सहिंता
सुश्रुत सहिंता
अष्टांग संग्रह
अष्टांग हृदय संवर्तिका व्याख्या– वैद्य बनवारी लाल गौड़
काश्यप सहिंता
कल्याण आरोग्य अंक
चारुचर्या

इकाई 14 :– आयुर्वेदोक्त पथ्याहार

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 जीवन में आहार की आवश्यकता
14.4 पथ्य आहार
14.5 आहार के प्रकार
14.5.1 श्रेष्ठ आहार
14.5.2 शूक धान्य
14.5.3 शिम्बी धान्य
14.5.4 कृतान्न
14.5.5 शाक वर्ग
14.5.6 फल वर्ग
14.5.7 हरित वर्ग
14.5.8 गोरस वर्ग
14.5.9 तक्र
14.5.10 दधि
14.5.11 घृत
14.6 आहार में उपस्थित विभिन्न रसों के गुण
14.6.1 मधुर रस के गुण
14.6.2 अम्ल रस के गुण
14.6.3 लवण रस
14.6.4 कटु रस
14.6.5 तिक्त रस
14.6.6 कषाय रस
14.6.7 रोग विशेष में पथ्य
14.7 भोजन क्रम अनुसार पथ्य
14.8 भोजन पात्र के अनुसार पथ्य
14.9 अवस्था विशेष में पथ्य
14.10 भोजन सेवन के कुछ सामान्य नियम
14.11 सारांश
14.12 शब्दावली

14.13 अभ्यास हेतु प्रश्न
14.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.1 प्रस्तावना

शरीर के तीन उप स्तम्भों आहारए निद्रा व ब्रह्मचर्या में से आहार की गणना सर्वप्रथम की गयी है। आहार से शरीर पुष्ट होता हैएबल की वृद्धि होती है देह को धारण करता है । आहार के कारण ही आयु एतेजए उत्साह की वृद्धि होती है। ओज व अग्नि की वृद्धि में आहार ही कारण है। अन्न मार्ग से जो कुछ शरीर के भीतर ले जाया जाता है उसे आहार कहते हैं। वह शरीर में रसादि धातुओं के रूप् में परिणित होकर शरीर को पोषित करता है। शरीर में जो भी क्षय होता है उसे पूरा करता है। अतः शरीर की वृद्धि व स्थिति के लिए आहार का अपना एक अलग महत्व है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में क्या खाना चाहिए इस के विवेचन के साथ साथ किस प्रकार खाना चाहिए, कब खाना चाहिएए इन सब का विस्तार से विवेचन किया गया है। आहार से अधिक से अधिक लाभ कैसे लिया जाए यह भोजन के रूप में चयनित द्रव्यों के साथ साथ उनकी प्रयोग विधि पर भी निर्भर करता है। आहार के रूप् में क्या क्या खाना चाहिए किस प्रकार खाना चाहिए इन सब का वर्णन इस इकाई में किया गया है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने से आप निम्नलिखित की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
आहार की शरीर के लिए उपयोगिता क्या है ?
किस प्रकार का आहार शरीर के लिए हितकर है और किस प्रकार का अहितकर ?
पथ्य आहार किसे कहते है और अपथ्य आहार किसे कहते है ?
किस प्रकार के रस की बहुलता वाला आहार शरीर के लिए हितकर है ?
किस ऋतु में कौन सा आहार हितकर है ?
किस रोग में क्या खाना चाहिए ?

14.3 जीवन में आहार की आवश्यकता

आहार को मानव देह का पोषक एवं धारक कहा है। चरक संहिता में आहार के देह धारकत्व व पोषक तत्व के बारे में लिखा है कि विधिवत सेवित किया गया आहार शरीर की वृद्धि करके बल, वर्ण तथा सात धातुओं को ऊर्जा प्रदान करके सुख तथा रोग प्रतिरोधक फल प्रदान करता है। आयुर्वेद में शरीर एवं व्याधि को आहार सम्भव माना है. आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवाः। शरीर के उचित पोषण एवं रोग निवारणार्थ सम्यक् आहार विहार का होना आवश्यक है। चरक सूत्र स्थान 27वें अध्याय में अन्न को सभी प्राणियों का प्राण कहा है। बिना अन्न के व्यक्ति के शरीर का अभाव हो जाता है। अन्न में ही वर्णए शरीर की प्रसन्नता, सुस्वरता, जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टि, हर्ष, पोषण, बल, मेधा ये सभी बाते स्थिर हैं। सांसारिक कर्म यां स्वर्ग प्राप्ति में यज्ञादि जो वैदिक मो़क्षादि यज्ञ एतप आदि कर्म हैएवे सब अन्न में ही प्रतिष्ठित है।

14.4 पथ्य आहार

जो भोजन शरीर की सम धातुओं को प्रकृति अर्थात समानावस्था में रखता है और विषम धातुओं को सम अवस्था में करता है उसे हितकारी आहार कहते है। हितकर आहार को पथ्य कहते है और अहितकर आहार को अपथ्य कहते है। वस्तुतः आहार के लिए जो अनुकूल है उसे पथ्य कहते है। पथ का अर्थ है मार्ग या स्रोतस तथा अनपेत का अर्थ है अनपकारक अर्थात अपकार न करने वाला। चर्क्रपाणि के अनुसार शरीर के बाहय दोष, मल धातुओं के निवर्तक मार्ग या स्रोतस् को मार्ग के रूप में ग्रहण किया जाता है।
जो पथ के लिये हितकर हो उसे पथ्य कहते है। चरक ने ही आगे पथ्य के सन्दर्भ मे यह कहा है कि पथ्य या अपथ्य का कोइ नियत लक्षण नही है। कोई भी भाव सर्वदा

पथ्य या अपथ्य नही होता अपितु पथ्य या अपथ्य होना कई घटको पर निर्भर करता है।

14.5 आहार के प्रकार

खाद्यत्व गुण समान होने के कारण आहार एक प्रकार का है। उत्पत्ति भेद से आहार के दो भेद हैं यथा स्थावर एवं जांगम। लाभ की दृष्टि से आहार दो प्रकार का है यथा हित फलजनक व अहित फलजनक। उपयोग भेद से आहार के चार भेद हैं यथा पान अर्थात पीना, अशन अर्थात दांतो से काट कर खाना, भक्ष्य अर्थात चबााकर खाना व लेह्य अर्थाात चाट कर प्रयोग करना। स्वाद भेद से आहार मधुरए अम्ल, लवण, कटु तिक्त व कषाय छः प्रकार से होता है। गुण भेद से आहार बीस प्रकार का होता हैं।

14.5.1 श्रेष्ठ आहार

आहार के प्रत्येक वर्ग में से जो द्रव्य सबसे अधिक हितकर है उसका उल्लेख चरक ने किया है शूक धान्य वर्ग में से लाल चावल, दालों में से मूंग की दाल व सभी प्रकार के जल में से वर्षा का जल, सभी प्रकार के नमक में से सैंधा नमक, सभी प्रकार के शाक में से जीवन्ती का शाकए सभी पशुओं के मांस में से मृग का मांस, बिल में रहने वाले सभी प्राणियों के मांस में से गोह का मांस, सभी प्रकार के कन्द में से अदरख का कन्द सबसे श्रेष्ठ होता है।

14.5.2 शूक धान्य

शूक अर्थात बाली जिसमें कांटे जैसा स्वरूप हो में से लाल रंग के चावल सर्वश्रेष्ठ माना है। वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाले वे चावल जो साठ दिन में तैयार हो जातेा हैं को ब्रीही चावल कहा जाता हैं। यह चावल पचने में हल्के होते है और तीनो दोषों का नाश करते है।

जौ रूखे होते हैए पचनें में भारी होते हैं। मोटापा कम करते हैं। कफ और पित्त का नाश करते हैं। गेंहू जीवनदायक होता हैए टूटी हुयी अस्थियों को जोडने में सहायक होता है।

14.5.3 शिम्बी धान्य

शिम्बी धान्य अर्थात द्विदल यानि दाले शूक धान्य की तरह एक वर्ष पुराने होने पर करना चाहिए। नयें अन्न का प्रयोग करने पर वह स्रोतों का अवरोध करता है। मूंग, अरहर, मसूर आदि दालें वायु का अवरोध करने वाली, पचने में हल्की, मल को बांधने वाली, मेद, कफ व रक्त के विकारों को दूर करती है। राजमां रूखे हाते है और मल की वृद्धि करते है। कुलत्थ की दाल अश्मरी, श्वास, खांसी, बवासीर आदि में लाभकर है। सेम का प्रयोग कफ, शोफ और विष का नाश करती है। उडद की दाल पचती देरी से है और शुक्र की वृद्धि करती है। तिल गर्म होते हैं, तिलों का प्रयोग त्वचा व केशों के लिए हितकर है। इसके प्रयोग से बल की वृद्धि होती है।

14.5.4 कृतान्न

कृतान्न का अर्थ है पका हुआ अन्न। कृतान्न वर्ग में मण्ड, पेया, विलेपी, ओदन, लाजा व मांसरस की गणना की है। यद्यपि इन सबका विवेचन रोगियों के लिए पथ्य बताते समय किया है इनका प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी लाभकर है। चावलों को चौदह गुणा जल में पकाकर केवल द्रव भाग का छान कर प्रयोग करना मण्ड कहलाता है। चावल अथवा दलिया को छः गुणा जल में पकाकर घनभाग सहित पीने की स्थिति में प्रयोग किया जाए उसे पेया कहते है। जिसमे पानी और भी कम हो व घनभाग अधिक हो उसे विलेपी कहते है। मण्ड को कल्याणकारी कहा गया है। इसके प्रयोग से शरीर में वायु का पथ अवरुद्ध नही होता है । इससे प्यास अधिक नही लगती। शरीर की धातुओं का पोषण ठीक प्रकार से होता । धातुओं का पोषण होता है और दोषों का नाश होता है। स्रोतस् मृदु होते हैं, भोजन पकाने वाली अग्नि की वृद्धि होती है। पसीना आकर शरीर शुद्ध रहता है। पेया के प्रयोग से भूख व प्यास ठीक लगती है। भोजन ठीक प्रकार से पचता है। शरीर स्वस्थ रहता है। दुर्बलता का नाश होता है। विलेपी का प्रयोग आंखों के रोगो को ठीक रखता हैं। दिल स्वस्थ रहता है। प्यास ठीक लगती है।

शरीर की कमजोरी दूर होती है। अच्छी प्रकार से धोकर बनाये गये चावल पचने में हल्के होते हैं। मूंग की दाल का पानी जिसको घी से संस्कारित किया हो उसका प्रयोग व्रण अर्थात जख्म होने की अवस्था एगले के रोग व आंखों के रोगियों के लिए लाभकर है। इसी विधि से बने मासंरस का प्रयोग शरीर की पुष्टि करता है।

14.5.5 शाक वर्ग

पाठकों बथुआ का शाक तीनों दोष का नाश होता है। मकोय का शाक शुक्र की वृद्धि करता है इसके सेवन से वृद्धावस्था देरी से आती है।

14.5.6 फल वर्ग

अंगूर का सेवन करने से प्यास कम लगती है, शरीर में जलन कम होती है, बुखार, नकसीर फूटना, आवाज का बैठ जाना, मुख का सूखनाए खांसी इन सब में मुन्नके का प्रयोग लाभ करता है। अंजीर के प्रयोग से शरीर तृप्त होता है। खजूर का फल शरीर को पुष्ट करता है शरीर में शुक्र की वृद्धि होती है। नारियल का फल शरीर में बल की वृद्धि करता है। पका हुआ आलू बुखारा शरीर की पुष्टि करता है। कच्चा बेल का फल वायु और कफ का नाश करता है और भोजन पचाने वाली अग्नि की वृद्धि करता है। सूखा बेर वायु और कफ का नाश करता है। आंवले का फल मेद, स्वेद व कफ को नष्ट करता है। बहेड़े का फल रस, रक्त, मांस व स्रोतस मेद के रोगो को नष्ट करता है। मीठा अनार पित्त का नाश करता है। गुणों में खट्टे अनार के फल को श्रेष्ठ होता है। नीबू का प्रयोग शराब के नशे को, कास, श्वास, मल के रोग, भोजन में रुचि न होना, हिचकी जैसे विकारों में लाभकर है। बादाम, पिस्ता अखरोट शरीर में शक्ति की वृद्धि करता है।

14.5.7हरित वर्ग

भोजन के साथ बिना पकाये सेवन किये जाने वाले द्रव्यों को हरित वर्ग के अन्तर्गत रखा है। अदरख का प्रयोग भोजन में रुचि पैदा करता है, जठराग्नि की वृद्धि करता है व शरीर में वीर्य की वृद्धि करता है। नींबूं का प्रयोग मुख को साफ करता है, अन्न को अच्छी तरह पचाने में सहायता करता है। मूली अपनी बाल्यावस्था में तीनों दोषों को दूर करती है जबकि अपनी वृद्धावस्था में तीनों दोषों को बढ़ाती है। तुलसी हिचकी, कास, विष, श्वास, व पार्श्वशूल को दूर करती हैं। प्याज पचने में भारी, बल व शुक्र की वृद्धि करने वाला होता है। लहसुन का प्रयोग त्वचा के विकारों को दूर करता है, कृमियों का नाश करता है और वीर्य की वृद्धि करता है।

14.5.8 गोरस वर्ग

दूध को पूर्ण आहार कहा गया है। इसमें सभी प्रकार के मधुर शीत और स्निग्ध गुण मौजूद होते हैं। शिशु का प्रथम आहार दूध ही होता है। इसके सेवन से शरीर की वृद्धि होती है बल बढ़ता है, बुद्धि बढ़ती है इन्द्रियां प्रसन्न रहती है, थकावट दूर होती है, रक्तपित श्वास और कास का नाश होता है। दूध ऐसा द्रव पदार्थ है जो सभी प्राणियों के लिए सात्म्य होता है। दूध के प्रयोग से शरीर का शोधन होता हैए तृष्णा का नाश होता है। जठराग्नि की वृद्धि होती है। क्षीण और क्षत रोग में हितकर है। पाण्डु रोग रक्ताल्पता, शोष, गुल्म,उदर रोगए अतिसार, ज्वर, दाह और शोथ में दूध का प्रयोग विशेष रूप से हितकर है। अम्लपित्त रोग का वर्णन यद्यपि चरक ने अलग से नहीं किया, पर दूध के गुणों का उल्लेख करते हुए दूध की उपयोगिता अम्लपित्त में बताई है। योनि विकार मूत्र विकार प्रदार वात पित्त विकारों में दूध को पथ्य माना है।

यद्यपि चरक संहिता में आठ प्रकार के प्राणियों के दुग्ध का वर्णन किया है, लेकिन गाय के दूध को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। गाय के दूध की समानता ओज के साथ होती है। अर्थात् जो गुण गो दुग्ध में होते हैं वही ओज में होते हैं। गो दुग्ध को रसायन के रूप में प्रयोग करने का निर्देश है। इसके प्रयोग से वृद्धावस्था देरी से आती है और शरीर स्वस्थ रहता है। जिसको नींद कम आती हो या भूख अधिक लगती हो उसके लिए भैंस का दूधश्रेष्ठ है।

एक खुर वाले पशुओं यथा घोड़ी, गधी आदि का दूध बल्य व शरीर में स्थिरता पैदा करने वाला होता है। बकरी का दूध शीत, मल को बांधने वाला रक्तपित्त, अतिसार क्षय

कास एवं ज्वर में हितकर है। भेड़ी का दूध निकृष्ठ होता है। ऊंटनी का दूध रूक्षता उत्पादक वीर्य में उष्ण होता है इसका प्रयोग आनाह, क्रिमि शोथ उदर रोग एवं अर्श और वातकफज व्याधियों में किया जाता है।

किसी भी प्राणी का दुग्ध अगर सुबह निकाला जाए तो वह गुरू होता है। शाम को निकाला गया दूध सुबह की तुलना में लघु होता है। बकरी सारा दिन बैठी नहीं रहती और तीखी कड़वी कसैली पत्तियां खाकर अपने जीवन का निर्वाह करती है, उसका दूध हल्का होता है। जो गाय अर्जुन वृक्ष के पत्ते उड़द के पौधे के पत्ते अथवा इक्षु के पत्ते आहार के रूप में ग्रहण करती है उनके दूध में शुक्र की वृद्धि करने की अद्भुत क्षमता होती है। बुखार पुराना हो गया हो, तो वहां पर दूध का प्रयोग अमृत की तरह काम करता है। लेकिन एक बात ध्यान देने हैं कि बुखार की नवीन अवस्था में दूध का प्रयोग बिल्कुल नहीं कराना चाहिए। पेट में पानी भर जाए अर्थात् जलोदर रोग में व्यक्ति को केवल ऊंटनी का दूध और गाय के दूध पर ही रखा जाए तो आशातीत लाभ मिलते हैं। ग्रहणी का विकार होने पर दूध का यथाविधि प्रयोग लाभ देता है।दूध का प्रयोग केवल पीने के लिए नहीं किया जाता अपितु विभिन्न प्रकार से इसके प्रयोग निर्दिष्ट हैं। नकसरी फूटने की समस्या में स्त्री दुग्ध की दो बूंदे नाक में डालने से लाभ मिलता है। अवगाहन टब बाथ लेप में दूध के प्रयोग से अच्छे फल मिलते है। वमन विरेचन बस्ति और स्नेहन के कार्य के लिए भी दूध का प्रयोग किया जाता है। कफज रोगों में इसे विभिन्न द्रव्यों से संस्कारित कर दूध का प्रयोग किया जाता है। दूध का प्रयोग किया जाता है। दूध में इतने गुण होने के कारण ही कुछ ग्रन्थों में इसे अमृत भी कहा गया है।

14.5.9 तक्र

पथ्य के रूप में तक्र का प्रयोग श्रेष्ठ फलदायी है। इसका स्वाद मनोनुकूल होता है। यह आसानी से पच जाता है। इसके प्रयोग से बलएओज व स्फूर्ति की वृद्धि होती है। इसका प्रभाव अमृत तुल्य माना गया है। उदर विकारों में यह एक रामबाण के समान गुणकारी है। योगरत्नाकर नामक प्रसिद्ध आयुर्वेद के ग्रन्थ में लिखा है कि अगर कैलाश पर्वत पर यदि तक्र होता तो क्या भगवान नीलकण्ठ ही रहते, वैकुण्ठ में यदि तक्र होता तो क्या केशव अर्थात भगवान विष्णु सांवले ही रहते, देवलोक के राजा क्या दुर्भग ही रहते, चन्द्रमा जैसे द्विजपति को क्या क्षय रोग होता, श्री गणेश जी का उदर क्या इतना बढा होता, कुबेर को क्या कुष्ठ रहता, और क्या अग्निदेव के अन्दर दाह रहता। कभी नहीं, अर्थात तक्र सेवन से विष, विवर्णता, असौन्दर्य, क्षय, उदर रोग, कुष्ठ और दाह आदि विभिन्न रोग दूर होते। जिस प्रकार देवताओं के लिए अमृत प्रधान है उसी तरह पृथ्वी पर पर मनुष्यों के लिए तक्र की प्रधानता होती है। तक्र सेवन से मनुष्य रोगी नही होता। दधि में चतुर्थांश जल डाल कर मथा जाने पर उसे तक्र कहते हैं।

14.5.10 दधि

दही रुचिकारक, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, स्नेहन के योग्य, बलवर्धक होती है। पचनें के उपरान्त इसका रस खट्टा हो जाता है। दधि का प्रयोग मंगलकारी द्रव्य के रूप में किया जाता है। इसके शरीर में मोटापा बढ़ता है। पीनस, मूत्रकृच्छ एविषम ज्वर में इसका प्रयोग श्रेष्ठ फलदायी है।

14.5.11 घृत

गो के घृत के प्रयोग से स्मरण शक्ति, बुद्धि, अग्नि, शुर्क्र, ओज की वृद्धि होती है।

14.6 आहार में उपस्थित विभिन्न रसों के गुण

14.6.1मधुर रस के गुण

रसए रक्त, मांसए मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र, दूध, को बढ़ाने वाला, आंखों के लिए हितकर, बालों के लिए हितकर, मुख के वर्ण को ठीक रखने वाला, शारीरिक बल को बढ़ाने वाला टूटी हुयी अस्थि को जोडने वाला, रस रक्त को पुष्ट करने वाला बालक, वृद्ध क्षाम क्षीण के लिए हितकर, तृष्णा, मूर्च्छा व दाह का शमन करने वाला होता है।

14.6.2 अम्ल रस के गुण

अम्ल रस खाये हुए भोजन को पचाने में सहायक होता है। वायु को रोकने वाला, शरीर में वायु की गति को बनाये रखने वाला होता है। हृदय को अच्छा लगने वाला होता है। यह रस शीतल होता है।

14.6.3 लवण रस

संशोंधन पाचन, विशलेष्ण, क्लेदन अर्थात गीला करने वाला ढीला करने वालाए सभी रसों का उभाडने वाला होता है। इसके प्रयोग से स्रोतस् शुद्ध होते है। लवण रस के प्रयोग से शरीर कोमल होता है।

14.6.4 कटु रस

पिप्पली, मरिचए शुण्ठी आदि में पाया जाने वाला कटु रस भोजन पकाने वाली अग्नि को बढ़ाता है। भोजन को पचाता है, भोजन के प्रति रुचि बढ़ाता है, स्रोतो का शोधक होता हैं। स्थूलता, आलस्य, कफ, कृमि, विष, कुष्ठ, खुजली इन सबको शान्त करता है।

14.6.5.तिक्त रस

करेला, गिलोय, नीम आदि में पाया जाने वाला तिक्त रस मल का छेदकए रुचि को बढ़ाने वाला, खुजली, तृष्णा, ज्वर, मूर्च्छा को शान्त करता है। स्त्रियों के दूध को शुद्ध करता हैं। मल मूत्र क्लेद मेद धातु चर्बी, तथा पूय को सुखाता है।

14.6.6 कषाय रस

हरीतकी आदि में पाये जाने वाला कसैला रस मल को सुखने वाला, घाव को भ्रने वाला, स्तम्भन करने वाला, शरीर की धातुओं को कम करने वाला व शरीर के गीलेपन को सुखाने वाला होता है।

14.6.7 रोग विशेष में पथ्य

अतिसार, पुराने शालि चावल, मसूर तथा अरहर की दाल का सूप एबकरी का दूधए व घी, गाय का दूध, घी,दही, मट्ठा, शहद, अदरख, सोंठ, अनार, केले के वृक्ष के नये फूल

ग्रहणी पुराने चावल, मूंग अथवा मसूर की दाल तिल का तेल, मधु, जीरा, जायफल, धनिया जामुन का फल।

अर्श रोग पुराने चावल, कुलत्थ की दाल, परवल, लहसुन, बथुआ, सोंठए हरड़, गोमूत्र, सरसों का तेल

कांजी, आवला, मट्ठा, नींबू। अजीर्ण, बथुआ, कोमल मूली, नमक, मट्ठा, नींबू, अदरख, काली मिर्च, अजवायन, मेथी, धनिया, दही, उबला हुआ जल, तीखे व कडवे पदार्थ, पान, नारंगी ।

क्रिमिरोग लहसुन, बथुआ, हींग, नीम के कोमल पत्र, हरड़, तिल, सरसों का तेल, मधु, गोमूत्र, पान, अजमोदा, कडवे द्रव्य।

पाण्डु रोग पुराने जौं, गेंहू, मूंग, कच्चे केले के फल, आम, हरड़, गोमूत्र, आंवला, मट्ठा, मक्खन, बैंगन, कांजी, पेठा व हल्दी।

शोष रोग पुरानी मदिरा, रेगिस्तान क्षेत्र में निवास करने वाले पशु, पक्षियों का मांस, मूंग,साठी के चावल,गेंहू, जौ,लाल चावल गेंहू जौ शालि धान्य।

क्षय रोग पुराना गेंहू, चना, मूंग, बकरे का मांस, बकरी कर दूध, पुराना मद्य, सफेद चन्दन, नारियल की गिरी, आंववला, खजूर, आम, पका हुआ केला, सेंधा नमक,

कास रोग गेंहू, जौ, उड़द, मूंग, कुलत्थ, पुराना घी, बकरी का दूध, मकोय का शाक, ब्रैगन,कच्ची मूली,गोमूत्र, मुनक्का,छोटी इलायची, गोमूत्र,लहसुन, हरड़,सोंठ,मरिच,उष्ण जल,मधु, सुपाच्य अन्न।

श्वास रोग पुराने साठी चावल, कुलत्थ, गेंहू, जौं, पुराना घी, बथुआ, बैंगन लहसुन, हरड, नींबू, कुंदरु, सोंठ, मरिच, पिप्पली, गोमूत्र।

हिक्का रोगसभी प्रकार के नमक, पुराने कुलत्थ, गेंहू, चावल, लहसुन, परवल, कच्ची मूली, काली तुलसी, खस का जल, गुनगुना पानी।

अरुचि रोग जब भोजन में रुचि न हो

गेंहू, मूंग, लाल चावल, मूली, बैंगन, सहजन की फली, अनार के बीज, परवल, खजूर, दूध, अदरख, मट्ठा, मिश्री, हरड़, अजवायन, काली मरिच, हींग, मीठे, खट्टे व कड़वे पदार्थ।

तृष्णा रोग अर्थात प्यास का अधिक लगना

चावलों का माण्ड, चीनी, भुने हुए मूंग, मसूर, अथवा चने उबाल कर उनका पानी खजूर, आम, अनार, आंवला, ककड़ी, बेर, मुनक्का, परवल, गाय का दूध, मीठे व कड़वे पदार्थ नारियल का पानी, फल, मधु, सोया जायफल, धनिया, कपूर, चन्दन।

मदात्यय रोग फालसा, नींबू, परवल, जौं, दूध, मिश्री, चौलाई, फालसा, खजूर, अनार, आंवला, नारियल मुनक्का, पुराना घी, कपूर।

दाह रेग अर्थात शरीर में जलन होना

लाल चावल, मुग, मसूर, चना, जौ, सत्तू, आंवला, चिरौंजी, सिंघाड़ा, ककड़ी, केला, अनार, मिश्री, शतघोत घृत, नीम करेले जैसे कडवे पदार्थ।

14.7 भोजन क्रम अनुसार पथ्य

भोजन में पहल मीठी वस्तुएं, फिर खट्टी व उसके बाद नमकीन और अन्त में कडवीएतीखी व कसैली वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए।

भोजन करते समय पहले अनार आदि फल, फिर पेय पदार्थ, और उसके उपरान्त यथा योग्य भक्ष्य पदार्थो का प्रयोग करना चाहिए।

फलों में आंवला निरापद व दोषरहित है। यह भोजन के प्रराम्भ व आदि में हितकर है।

घृत लगाकर कठिन द्रव्य शुरु में व मृदु अथवा नरम द्रव्य बाद में करने चाहिए।

भोजन के शुरु में नमक व अदरख का सेवन सर्वदा हितकर है। यह अग्निदीपक, रुचिकारक तथा जीभ, कण्ठ को शुद्ध करने वाला होता है।

14.8 भोजन पात्र के अनुसार पथ्य

मिट्टी आदि के बर्तन जल से धो कर उनमें भोजन का पाक करने से भोजन रुचिकारक तथा गुण युक्त होता है। मिट्टी के अभाव में लौह पात्र में पकाना चाहिए। इस प्रकार बना भोजन नेत्र विकार और बवासीर के रोग का नाशक होता है। कांसे के पात्र में बना भोजन हितकारी, बुद्धिदाता और पवित्र होता है।

सुश्रुत संहिता के अनुसार घी को काले लोहे के बर्तन में व पेय अर्थात पीने वाले द्रव्यों को चांदी के बर्तनों में रख कर प्रयोग करना चाहिए। सूखे और चिपकने वाले पदार्थों को सोने वाले बर्तनों में प्रयोग करना चाहिए। द्रव और रसदार पदार्थ चांदी के बर्तनों में प्रयोग करने पर ही लाभकारी होते है। खट्टे मीठेए दीपन व पाचन द्रव्यों का प्रयोग पत्थर के बर्तनों में करना चाहिए। उबाल कर ठण्डा किया हुआ पानी तांबे के बर्तन में प्रयोग करना चाहिए। पानी शर्बत शराब आदि को विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तनो में रखना चाहिए।

भावप्रकाश के अनुसार स्वर्ण का भोजनपात्र प्रयोग करने से दोषों का नाश होता है, नेत्र ज्योति बढ़ती है और पथ का शोधन होता है। चांदी के पात्र के प्रयोग से आंखों की रोशनी बढ़ती है और पित्त दोष का नाश होता है। कांसे का पात्र बुद्धि की व्रद्धि करने वाला रक्त और पित्त को साफ करने वाला होता है। पीतल का बर्तन कृमि और कफ का नाश करने वाला होता है। लोहे के बर्तन में किया गया भोजन स्वास्थ्यदायक होता है। इसके प्रयोग से शोथ पाण्डु कामला का नाश होकर शरीर में बल की वृद्धि होती है। पत्तलों में बना हुआ भोजन रुचिकारक, अग्नि को बढ़ाता है, विष और पाप का नाश करता है अर्थात निर्दोष होता है।

14.9 अवस्था विशेष में पथ्य

भोजन करने के बारह प्रविचार होते हैं। शीतए उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, द्रव, शुष्क, एककालिक, द्विकालिक, औषध युक्त, मात्रा हीन, दोषशामक और जीवन धारण करने के लिए।

प्यास, गर्मी, नशा, शरीर में जलन विष प्रयोग व अधिक स्त्री सेवन से उत्पन्न क्षीणता वाले व्यक्तियों के लिए शीत भोजन पथ्य है।

कफ और वायु के रोगों से युक्त विरेचन किए हुए घी तेल के सेवन किए हुए, चिपचिपाहट किए हुए को उष्ण भोजन पथ्य है।

वात प्रधान, रूक्ष देह वाले व्यायाम से पीड़ित और रोजाना व्यायाम करने वाले के लिए स्निग्ध अर्थात चिकनायी वाला भोजन पथ्य है।
अधिक चर्बी वाले, प्रमेह के रोगी व कफज विकारों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए रूखा भोजन पथ्य है।
सूखी देह वाले, प्यासे, और दुर्बलों को द्रव अर्थात तरल भोजन पथ्य है।
व्रण, प्रमेह के रोगियों के लिए सूखा भोजन हितकर है।
दुर्बल अग्नि वाले के लिए एक काल भोजन पथ्य है जबकि सम अग्नि वाले के लिए दो बार भोजन करना अपथ्य है। औषधि से द्वेष करने वाले के लिए औषध युक्त आहारपथ्य है।
मंद अग्नि वाले के लिए कम मात्रा में किया गया आहार पथ्य है। ऋतु अनुसार किया गया भोजन दोष शामक होता है। जीवन को धारण करने के लिए स्वस्थ व्यक्ति द्वारा यथा विधि लिया गया आहार पथ्य है।

14.10 भोजन सेवन के कुछ सामान्य नियम

उष्ण भोजन को ग्रहण करना चाहिए।
स्निग्ध आहार को गहण करना चाहिए।
मात्रावत् आहार को गहण करना चाहिए।
पहले किये भोजन के पूर्ण रूप के पच जाने पर ही भेजन करना चाहिए।
विरुद्ध आहार न करें।
उपयुक्त स्थान पर व उचित आहार ग्रहण करें।
शान्तिपूर्वक, एकाग्र मन से भोजन करें।
अपनी पाचनशक्ति के अनुसार ही भोजन करें।
क्षतरोग, उष्णकाल, दुर्बल मूर्च्छा, चक्कर आना, नकसीर फूटना जैसे रोगों में जक्र का प्रयोग नुकसान पंहुचाता है।
आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार भोजन करने का उचित अवसर वह है जब व्यक्ति मल मूत्र त्याग के उपरान्त अपने को हल्का महसूस करे, ठीक से डकार आ जाए, इन्द्रिय निर्मल हो जाने से मन प्रसन्न हो जाए ओर भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाए।
आहार मन के अनुकूल होना चाहिए। जितना उचित समय में पच सके उतनी ही मात्रा में भोजन करना चाहिए। साठी चावल, शालि चावल, मूग की दाल, सैन्धव नमक, आमलक, जौ, वर्षा का जल, दूध, घी, जंगल में होने वाले प्राणियों के मास व शहद का प्रयोग प्रति नित्य करना चाहिए।
भोजन करते समय सर्वप्रथम मनुष्य को मीठे व्यंजनो का सेवन करना चाहिए। उसके बाद तीखा, कसैला, अन्त में खट्टा नमकीन पदार्थों का प्रयोग से करना चाहिए। ऐसा करने से भोजन भलीभान्ति पच जाता है।। तथा शरीर गत सभी धातुओं को परिपुष्ट करता है। भोजन करने के बाद थोड़ी देर बाद जल पीने से भोजन ठीक प्रकार से पचता है। भोजन करने के बाद अच्छी प्रकार से दोनो हाथों से पानी को मथकर आंखों पर छिडकाव करना चाहिए। इस प्रकार से नेत्र रोग नही होता है। यदि नेत्र रोगी हो तो लाभ होता है। भोजन करके बैठने के बाद थोड़ी देर तक टहलना चाहिए। इससे मनुष्य सुख का अनुभव होता है। टहलने से आयु बढ़ती है।
भोजन काल के थोड़ी देर बाद जल पीने से रसायन का काम करता है। अर्थात वृद्धावस्था को दूर करता है और इसे सबसे श्रेष्ठ माना है।
जो भोजन शरीर को पोषण दे व कोई रोग उत्पन्न न करे उसका सेवन रोज करना चाहिए।
गर्म भोजन स्वादिष्ट लगता है और भोजन करने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। इससे भोजन का पाक शीघ्र हो जाता है।
दूध से पका अन्न हृदय को बल देता हैए घाव, क्षीण, रक्तपित्त के दोष को दूर करता है। बल को बढाता है, नित्य नेत्रों को शक्ति देता है।
तेल से पका अन्न भोजन हल्का, पोषक तथा उदर की अग्नि बढाता है। वात कफ को बढाता है। बीस प्रकार के प्रमेह दूर करता है।

सब्जियों में ताजी सब्जी लाभप्रद होती है। एक से अधिक वर्ष वाला चावल तत्काल शक्ति प्रदान करता है। ताजा जल दूध व दही से सुखया चावल हितकर होता है।
भोजन करके 100 कदम चलने से उदर स्थित जठराग्नि भूख बढ़ जाती है। रात्रि में बायी ओर शयन करने से जीवन में वैद्य की आवश्यकता नही होती।
आप जो भी आहार लें उसका ठीक से पाचन हो इस बात को ध्यान में रखकर जठराग्नि को बराबर प्रदीप्त रखिए।
अदरक, काली मिर्च, करेला, नीम और मैथी जैसे तीखे व कड़वे पदार्थ, सूर्य–स्नान, कसरत वगैरह से यह जठराग्नि प्रदीप्त है, जबकि ठंडे पेय आइसक्रीम आदि से जठराग्नि मंद पड़ती है तथा पाचन तंत्र पर बोझ बढ़ता है। याद रखिए गर्मी जीवन है और ठंड मृत्यु। इस सूत्र को ध्यान में रखकर ही खाना–पीना चाहिए।
अन्न से आठ गुना पिसा हुआ आटा, पिसे हुए अन्न से आठ गुना दूध, दूध से आठ गुणा उड़द तथा उड़द से आठ गुना घी लाभकारी होता है। घी से आठ गुना तैल मालिश करने से लाभ देता है न कि खाने में।
एक प्रहर के पश्चात भोजन करने से रोगग्रस्त हो जाता है, दो प्रहर के उपरान्त भोजन करने से रोगमुक्त हो जाता है तीन प्रहर बाद भोजन करने से शुष्कता आती है तथा अन्तिम प्रहर में भोजन करने से शरीर की शक्ति नष्ट हो जाती है।

14.11 सारांश

इस इकाई को पढ़ कर आप जान चुके होंगे कि आहार हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है। किस प्रकार के आहार के सेवन से शरीर स्वस्थ रह सकता है। किस प्रकार के आहार का प्रयोग रोजाना किया जा सकता है। किस रस के द्रव्यों का सेवन करने से क्या लाभ प्राप्त होते है। किस प्रकार के धान्य श्रेष्ठ फलदायी है। विभिन्न फलों के प्रयोग से क्या लाभ होते है। कच्चे खाये जाने वाले द्रव्य, पका हुआ अन्न खानें से क्या लाभ है। दूध, एघी,दही बादि के क्या गुण है। किस रोग विशेष में कौन सी वस्तु हित कर है ।
किस प्रकार के भोजन में कौन से आहार का प्रयोग करना चाहिए। भोजन करते समय विभिन्न वस्तुओं का क्रम क्या होना चाहिए। भोजन करने के क्या नियम है।

14.12 शब्दावली

प्रतिभाए	विवेक, बुद्धि
तुष्टि	प्रसन्नता
हर्ष	आनन्द
मेधा	धारणात्मक शक्ति
अनपेत	अविचलित
विषम	अनियमित, जो सम न हो
अस्थि्	हड्डी
अश्मरी	पत्थरी, गुर्दे में जो पत्थरी बनती है उसे अश्मरी कहा जाता है।
श्वास	सांस का रोग जिसे लोक भाषा में दमा कहा जाता है।
शोफ	सूजन
घनभाग	ठोस भाग
शाक	साग, खाने के रूप में प्रयुक्त होने वाले पत्ते
मेद	चर्बी

14.13 अभ्सास हेतु प्रश्न

किस प्रकार के आहार को हितकर आहार कहा जाता है ?
विभिन्न ऋतुओं में किस किस प्रकार के आहार का प्रयोग करना चाहिए ?
पथ्य आहार किसे कहते हैं ?
किन्ही दस रोगों में पथ्य आहार योजना स्पष्ट करें।
तक्र सेवन की क्या उपयोगिता क्या है ?
दूध पीने से क्या लाभ है ?

भोजन में उपस्थित विभिन्न रसों के प्रयोग से क्या लाभ है ?
फल खाने से क्या लाभ हैं कुछ रोजाना जीवन में प्रयोग में होने वाले फलों के गुणों का वर्णन करें।

14.14. सन्दर्भ ग्रन्थ

चरक संहिता
सुश्रुत संहिता
अष्टांग संग्रह
अष्टांग ह्रदय संवर्तिका व्याख्या–वैद्य बनवारी लाल गौड़
काश्यप संहिता
कल्याण आरोग्य अंक
चारुचर्या
पथ्यापथ्यविनिर्णयः, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता
आरोग्य अंक कल्याण, भाव प्रकाश
स्वस्थवृत समुच्चय
स्वास्थ्य विज्ञान और सार्वजनिक आरोग्य

इकाई 15 योग शास्त्रोक्त एवं आयुर्वेदोक्त आहार में सामंजस्य

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 स्वास्थ्य का महत्व
15.4 आहार और आपका स्वास्थ्य
15.4.1 आहार का स्वास्थ्य के साथ सम्बंध
15.4.2 तीन प्रकार का आहार
15.4.3 कैसे प्राप्त करें सात्विक आहार
15.5 आयुर्वेद अनुसार भोजन करने से जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।
15.6 भोजन ग्रहण करने की विधि में भी है योग एवं आयुर्वेद में सामंजस्य

15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 अभ्यास हेतु प्रश्न
15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.1 प्रस्तावना

निरोग जीवन एक ऐसी विभूति है जो हर किसी को अभीष्ट है। स्वस्थ रहने की कामना मनुष्य अदिकाल से ही करता आया है। स्वस्थ व्यक्ति के काम करने का सामर्थ्य न केवल अपने लिए हितकर होता है अपितु उसका अस्तित्व समाज के लिए भी लाभकारी होता है। वैदिक काल से लेकर अब तक तत्कालीन युग की परिस्थितयों के फलस्वरूप इन साधनों के रूप में अनेक परिवर्तन हुए लेकिन स्वस्थ रहने की मूल भावना में कोई अन्तर नही आया। स्वस्थ रहने के के लिए निर्दिष्ट अनेक उपायों मे जो मूल भावना निहित है वह आज के युग में भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। योग हो या आयुर्वेद दोनों में न केवल मनुष्य के स्वस्थ रहने के लिए लाभ बताए गये है अपितु उसको प्राप्त करने के लिए साधनों का भी उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की सिद्धि के लिए आरोग्य को ही एक आधार बताया है। आरोग्य प्राप्ति के विभिन्न साधनों का उल्लेख योग और आयुर्वेद ने चाहे अलग अलग ढंग से किया हो लकिन लक्ष्य प्राप्ति की समानता में कोई भेद नही है। दोनों ने अच्छे आहार विहार के नियमों का पालन करने से हम उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति का निर्देश दिया हैं। उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु आहार का विशेष योगदान है। शरीर स्वस्थ पर तन मन और हमारी लंबी उम्र ये सब निर्भर करता है हमारे द्वारा ग्रहण किए जाने वाले भोजन पर। पर्याप्त भोजन और भोजन करने की सही विधि हमारी शारीरिक और मानसिक क्षमता में असीमित वृध्दि करता है। सामान्य मनुष्यों ने न तो शास्त्रों का अध्ययन किया होता है और न ही उसके पास इतना समय कि वह एक गुरु की तलाश करके योग या आयुर्वेद के रहस्यों को समझे। उसके लिए एक ही श्रेष्ठ उपाय है कि वह उचित भोजन का सेवन करे।

15.2 उदेश्य

हम जानते हैं कि भोजन का सीधा प्रभाव मन और विचारों पर पडता है। कहते हैं जैसा खाओ अन्न वैसा बनेगा मन। योगसाधक को पौष्टिक ए सुपाच्य व सात्विक आहार न मिले तो उसको वांछित लाभ नही मिलता है। इसी तरह आयुर्वेद में भी औषध चिकित्सा के साथ साथ खान पान पर बल दिया गया है। आहार में क्या हो यह हमारे ऋषिगण निर्धारित कर गए हैं। वे एक ऐसी व्यवस्था बना गए हैं जिसका अनुपालन करने पर व्यक्ति को कभी कोई रोग सता नहीं सकता योग की दृष्टि से व आयुर्वेद के अनुसार सवस्थ रहने के लिए क्या क्या आहार लेना चाहिए व किस प्रकार लेना चाहिए इस इकाई में आप इस बारें में जानोगे। योग व आयुर्वेद द्वारा निर्दिष्ट आहार में परस्पर क्या सामंजस्य है उसकी जानकारी आप इस इकाई में प्राप्त करोगे।

15.3 स्वास्थ्य का महत्व

आयुर्वेद में शरीर की निरोगता को धर्म का प्रथम साधन कहा है। चरक संहिता में धर्म अर्थ काम व मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का मूल कारण शरीर का आरोग्य रहना बताया है। रोग इस शरीर का नाश करते है। इसी लिए शास्त्रकारों ने सभी कामों को छोड़ का सबसे पहले शरीर का अभाव हो जाता है और उसके बाद सब का अभाव हो जाता है। वेद में कहा गया है कि अन्न ही ब्रह्म अर्थात ईश्वर है। अन्न को ग्रहण किया जाए तो वह अमृत समान होता है। मनुष्य के समस्त आचार–व्यवहार, चेष्टा और कर्म शरीर के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाते हैं। हमारे ऋषियों को स्वास्थ्य का महत्व सर्वविदित था। इसलिए स्वस्थ व्यक्ति के लक्षणो का उल्लेख सुश्रुत संहिता में किया गया है। वात, पित्त व कफ इन तीन दोषों का साम्यावस्था में होना एभोजन पचाने वाली अग्नि का सम मात्रा में होना, रस, रक्त मांस मेद, अस्थि, मज्जा व शुर्क्र आदि धातुओं का सम प्रमाण में होना व इनकी क्रियाएं ठीक ढंग से संचालित

होना और आत्मा, मन व इन्द्रियों का प्रसन्न रहना ही किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य को परिभाषित करते है। इस स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए ही आयुर्वेद में निर्देश दिये है। चरक संहिता का प्रयोजन ही धातुओं की समावस्था को प्राप्त करना बताया है। अतः मानव शरीर की स्वस्थता एवं सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इसमे अवस्थित होकर जीव अपना आश्रय बनाता है। जिस तरह किसी यंत्र को गति प्रदान करने के लिए ईंधन की आवश्यकता होती है इसी तरह शरीर को गतिमान बनाये रखने के लिए आहार की आवश्यकता होती है।

15.4 आहार और आपका स्वास्थ्य

15.4.1 आहार का स्वास्थ्य के साथ सम्बंध

यौगिक आहार का उदेश्य मनुष्य को स्वस्थ रखना हैं। एक स्वस्थ शरीर ही योग की क्रियाओं को अच्छे ढंग से सम्पादित करने में सहायक हो सकता है। जैसा खाओ अन्न वैसा होगा मन, इस तथ्य से हमारा समाज परिचित है। हम जो भी आहार लेते हैं उसके सूक्ष्म भाग से मन का निर्माण होता है। यह केवल इस बात पर निर्भर नही करता कि हम क्या खा रहे है, अपितु हमे इसका भी ध्यान रखना होता है कि हमारा भोजन किस प्रकार की कमायी से बना है, ईमानदारी की अथवा अनूचित साधनों का प्रयोग करके उस अन्न को खरीदा गया है, क्या भोजन का निर्माण पवित्र व स्वच्छ स्थान पर हुआ है या किसी अन्य स्थल पर। भाव शुद्धि के साथ साथ क्षेत्र शुद्धि का भी महत्व है। भोजन पकाते समय भोजन बनाने वाले का चिंतन कैसा था। क्रोघ से युक्त व्यक्ति जब किसी भोजन को बनाएगा तो उसका उचित लाभ नही मिल पाता। कोई व्यक्ति सात्विक है या राजसिक अथवा तामसिक इस आधार पर उसकी भोजन के स्वरूप की आवश्यकता निधारित होती है। स्वस्थ रहता है। जो व्यक्ति शुद्ध भाव से भोजन नही करता वह नीरोग नही रह सकता। क्रोध, ईष्या, उत्तेजना एचिंता, मानसिक तनाव, भय आदि की अवस्था में किया गया भोजन स्वास्थ्य को नुकसान करता है। शुद्ध चित्त से प्रसन्नतापूर्वक किया गया आहार शरीर को पुष्ट करता है, कुत्सित विचार एवं भावों से किये गये भोजन से व्यक्ति कभी स्वस्थ नही रह सकता। इसके साथ भोजन बनाने वाले के भाव भी शुद्ध होने चाहिए। उसें भी ईष्या, द्वेष क्रोध आदि से ग्रस्त नही होना चाहिए। भोजन किस भावना के साथ बनाया गयाए किस भाव और दुलार के साथ खिलाया गयाए किस वातावरण और मनोभाव से भोजन ग्रहण किया गयाए आदि बातों का सीधा प्रभाव मन पर पड़ता है।

15.4.2 तीन प्रकार का आहार

गीता अनुसार आयु बुद्धि बल आरोग्य सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले रसयुक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा जो स्वभाव से ही मन को प्रिय हो ऐसा भोजन सात्विक को प्रिय होते हैं। जबकि कड़वे खट्टे लवण युक्त बहुत गरम तीखे रूखे दाहकारक दुःख चिंता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं। अधपका रसरहित दुर्गंधयुक्त बासी और उच्छिष्ट तथा अपवित्र है वह भोजन तामस को प्रिय होता है। यह आहार स्वादिष्ट संपूर्ण पुष्टिवर्द्धक जीवंतता ऊर्जा स्वास्थ्य व प्रसन्नता में वृद्धि करता है। जो व्यक्ति दुर्गंध युक्त व अपवित्र भोजन करता है उसमें तामसिक गुणों की वृद्धि होती है। तामसी भोजन करने वाला निश्चित रूप से आलसी प्रमादी और अकर्मण्य होगा। राजसी भोजन करने वाले व्यक्ति में विलासी क्रोधी झगडालू प्रवृत्ति वाला होने स्वादिष्ट होने की वजह से अधिक भोजन खाने की आदत वाला होने के कारण बार–बार बीमार होने की संभावना होती है। सात्विक भोजन के प्रभाव से मनुष्य श्रेष्ठ विचारों सद्ग्रंथों और सत्पुरुषों के प्रति रुचि पैदा करता है। होता है। कोई व्यक्ति लगातार उक्त वर्ग में से किसी प्रकार का भोजन करता रहे तो उसमें उस से सम्बधित गुण विकसित होने शुरु हो जाते है। नमकीन व खट्टे और तीखे पदार्थों का सेवन करने वालों में राजसिक गुणों की वृद्धि होती है। रसयुक्त चिकने पदार्थों का सेवन करने वालों में सात्विक गुणों की वृद्धि होती है। सात्विक आहार व्यक्ति को संतुलिक स्वस्थ शरीर, शांति सामंजस्यपूर्ण तालमेल की कुशलता और बौद्धिक व्यक्तित्व प्रदान करता है। सात्विक आहार यौगिक की श्रेणी में शामिल किया जाता है और यह आहार व्यक्ति के

तन और मन को शुद्ध कर शक्तिव स्वस्थ और प्रसन्नता से भर देता है। सात्विक आहार शांत व स्पष्ट मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है। सात्विक भोजन आयुर्वेद के प्राचीन नियमों पर आधारित हैए जो सामान्य व पारंपरिक विधियों से तैयार किया जाता है।

15.4.3 कैसे प्राप्त करें सात्विक आहार

योग में भोजन की शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है। सात्विक आहार का प्रमुख घटक है अन्न। अन्न स्वच्छ और पवित्र होना चाहिए। पाकशाला में प्रयोग में आने वाले बर्तन भी साफ होने चाहिए। भोजन करते समय हमें क्षेत्र या स्थान की शुद्धि का विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राचीन परम्परा के अनुसार चौके में अनाधिकृत व्यक्ति का प्रवेश वर्जित रहता था। इस परम्परा का पालन वर्तमान में भी अपेक्षित है। भोजन बनाने के लिए द्रव्य सदैव नीतिपूर्वक ढंग से अर्जित कमायी से ही खरीदने चाहिए। अनीति अनाचार और बेईमानी आदि अधर्म के साधनों के धन से बनाया गया भोजन हमारे तन और मन को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। ऐसा भोजन हमारे चिंतन को सात्विक कभी नही बना सकता है। भोजन किस काल में किया जा रहा है, इससे भी भोजन की गुणवत्ता प्रभावित होती है। उचित काल में भोजन न करने से विभिन्न प्रकार के रोग पैदा होते है। भोजन करने का सही समय वही है जब तेज भूख लगे। नियमित समय पर भोजन करना स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। हितकर भोजन, उचित मात्रा में व उचित काल में करने से व्यक्ति स्वस्थरहता है।

योग और आयुर्वेद दोनों शुद्ध शाकाहारी भोजन शांति प्रेम और आध्यात्मिक जागरूकता के विकास को प्रोत्साहित करते है। योग आहार के आधार आदर्श अहिंसा का रवैया योग साधकों द्वारा योगाभ्यास में शीघ्र सफलता प्राप्त करने के लिए कहा गया है कि भोजन पुष्टिकारक होए सुमधुर हो स्निग्ध हो गाय के दूध से बनी चीजें हों सुपाच्य हो तथा मन को अनुकूल लगने वाला हो। इस प्रकार के भोजन योग के अभ्यास को आगे बढ़ाने में सहायक तत्व होते हैं।

15.5 आयुर्वेद अनुसार भोजन करने से जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

शण्डिल्य स्मृति में लिखा है कि शुद्ध अन्न के भोजन से मनुष्य कल्मष रहित होकर परम पवित्र हो जाता है। इन्द्रिया परम प्रसन्न रहती हैं। शरीर में शीघ्र ही सात्तिवकता की वृद्धि हो जाती है। अन्न की शुद्धि से ही सभी प्रणियों में सत्व गुण की वृद्धि होती है। सत्व गुण की वृद्धि से सत्कर्मो में प्रीति उत्पन्न होती है। असत्कर्मे में नही। शुद्ध अन्न के सेवन से आरोग्य प्राप्त होता है एरूप सुन्दर हा जाता है ए वाणी को शक्ति प्राप्त हो जाती, साथ ही कीर्ति एश्रीए ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और अच्छे कार्य में ही मन लगता हैं। आयुर्वेद एक स्वस्थ जीवन के लिये सात्विक आहार पर बल देता है तथा शरीर एवं मन दोनों में आनन्दमय स्थिति का समर्थन करता है आयुर्वेद के अनुसार हम उन्हीं पंच तत्वों से निर्मित हैं जिनसे विश्व यजल अग्नि वायु पृथ्वी एवं आकाश। जब हम इन तत्वों के निकट रहते हैं या उनके और प्रकृति के साथ एक हो जाते हैं तो हमारे अन्दर ऊर्जाओं यदोषों में संतुलन आयुर्वेदिक पाकण्विधि ताजे भोजन खाने की सलाह देता है क्योंकि यह अधिकतम मात्रा में ऊर्जा प्रदान करता है एवं हम अच्छे स्वास्थ्य का आनन्द लेते हैं।आयुर्वेद अनुसार भोजन करने से जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

योग अनुसार आहार पौष्टिक होना चाहिए, सुपाच्य होना चाहिए, ऐसा न हो कि उसके प्रयोग से कोई रोग पैदा हो। आयुर्वेद में आहार द्वारा स्वास्थ्य की जो कल्पना की गयी है वह अपने आप में महत्वपूर्ण है। न केवल एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए अपितु रोगानुसार अलग अलग प्रकार के भोजन का निर्देश दिया गया है। भोजन की पवित्रता पर आंच न आए, भोजन की गुणवत्ता बनी रहे व भोजन किसी दोष से युक्त न हो एदिन के किस काल में क्या खाना चाहिए, किस ऋतु में क्या प्रयोग करना चाहिए इस का विस्तृत वर्णन किया है।

आयुर्वेद का प्रयोजन चरक संहिता अनुसार स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना व रोगी के रोग को शांत करना होता है। इसके लिए पथ्य का विशेष महत्व हैं। योग

जिस तरह न केवल सुपाच्य व पौष्टिक आहार को महत्व देता है अपितु भोजन से अधिक लाभ लेने के लिए भाव शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धिव क्षेत्र शुद्धि की उपयोगिता जानता है उसी तरह आयुर्वेद में केवल आहार के द्वारा स्वस्थ रखने के प्रयास किये गये हैं। एक दिनचर्या के आधार पर भोजन के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, ऋतुओं के अनुसार किस प्रकार के आहार की कल्पना कैसी होनी चाहिए इस सब का निर्देश आयुर्वेद में किया गया है। शीत काल में भारी अथवा देरी से पचने वाली वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। जबकि गर्मियों में अथवा वर्षा में अग्नि की स्थिति कम होने से कम खाना चाहिए। जहां तक कि नित्य प्रयोग हेतु दूध, घी, मूंग, सैंधव नमक का नित्य प्रयोग करना व कूर्चिका आदि के रोजाना प्रयोग पर निषेध जैस विषयों पर आयुर्वेद में प्रकाश डाला है। रात को दही सेवन का निषेध यद्यपि उसके अभिष्यन्दि होने के कारण बताया गया है धार्मिक ग्रन्थों में रात्रि में दही में अलक्ष्मी का वास होने के कारण उसे मना किया है।

आयुर्वेद में भोजन करने के जो नियम बताए हैं उनके प्रयोग से न केवल शारीरिक अपितु मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। चरक सहिता के विमान स्थान में भोजन करने के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूण निर्देश दिए है जो इस प्रकार हैं।

जल्दी जल्दी भोजन नही करना चाहिए। जल्दी जल्दी भोजन करने से आहार स्नेह का प्रभाव शरीर पर नही रहता। सुस्ती पड़ी रहती है। इससे भोजन के गुणों का प्रभाव शरीर पर ठीक प्रकार से नही होता। अधिक देर तक भोजन नही करना चाहिए। अधिक देर तक भोजन करने वाला संतुष्ट नही होता। आहार ठण्डा हो जाता है और आहार का पाक विषम हो जाता है। भोजन करते समय न तो बोलना चाहिए और न तो हसना चाहिए। इन सबको वे दोष होते हैं जो जल्दी जल्दी खाने से होते है। भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर है या नही ऐसा विचार करके ही भोजन करना चाहिए। जितनी भूख हो उससे आधा भाग अन्न से पाव भाग जल से भरना चाहिए और पाव भाग वायु के आने जाने के लिए खाली रखना चाहिए। भोजन से पूर्व पानी पीने से पाचनशक्ति कमजोर होती है शरीर दुबला होता है। भोजन के बाद तुरंन्त पानी पीने से आलस्य बढ़ता है और भोजन सही नही पचता। बीच मे थोडा सा पानी पीना हीतकर है। भोजन के बाद थोडा सा छाछ पीना आरोग्यदायी है। इससे मनुष्य कभी रोगी नही होता।प्यासे व्यक्ति को भोजन नही करना चाहिए। प्यासा व्यक्ति भोजन करता है तो उसे आँतों के भिन्न–भिन्न। रोग होते है। भूखे व्यक्तिट को पानी नही पीना चहिए। अन्नं सेवन से ही भूख को शांत करना चाहिए। भोजन के वाद बैठे रहने वाले के शरीर में आलस्य भर जाता है। बायीं करवट ले कर लेटने से शरीर पुष्टे होता है। सौ कदम चलने वाले के उम्र बढती है और दौड़ने वाले की मृत्यू उसके पिछे ही दौड़ती है। हमारी शरीर को कितने भोजन की आवश्यकता है अथवा हमें कितना भोजन खाना चाहियेए इसका हमें पता हो। अधिक भोजन सेवन करने वाले ही बीमार पड़ते हैं। सीमित भोजन वाले बचे रहते हैं। भूखे रहना शरीर के लिये हानिकारक होता है। वहीं बहुत अधिक खाना भी हमें रोगी कर देता है। सीमित मात्रा में किया भोजन पच जाता है। उससे बनने वाला रस भी हमारी शरीर को चलाता है।

15.6 भोजन ग्रहण करने की विधि में भी है योग एवं आयुर्वेद में सामंजस्य

भोजन करने से पहले स्नान आवश्यक हैं। मल मूत्र त्याग के उपरांत प्राय शीतल जल में अच्छी तरह से स्नान कर संध्याए नित्य अर्चना समाप्त करने के अनन्त भोजन करना चाहिए। भोजन से पहले हाथ पैर व मुख धोने से बाहरी गंदगी दूर होगी ए वहीं शीतलता आती है, श्वासगति सम होती है और आयु बढ़ती है। भोजन करते समय पूर्वमुख होने से आयु बढ़ती है और दक्षिण की ओर मुख रखने से आयु की प्राप्ति होती है। भारतीय परंपरा के अनुसार खड़े होकर भोजन करना ठीक नही होता। भोजन का स्थान पवित्र एगोबर तथा जल से सिंचित होना चाहिए। भोजन भूमि पर लकड़ी के पाटे पर अथवा आसन पर सुख पूर्वक बैठ कर करना चाहिए। ऐसा करने से आमाशय पर अनावश्यक दवाब नही पड़ता। भोजन करने के पात्र भी भोजन की गुणवत्ता को

निर्धारित करते हैं। प्राचीन काल में गरम लोहे की उपयोग जानते थे इसलिए गरम लोहे की कड़ाही और तवे का उपयोग भोजन बनाने के लिए निर्दिष्ट है। महाभारत में केवल एक वस्त्र पहन कर भोजन न करने का निर्देश है। भोजन करते समय उत्तरीय रेशमी वस्त्र ओढ़ना उचित होता है। रेशम कुचालक होने से भोजन की भीतरी उर्जा को सुरक्षित रखने में सहायक होता है। देवता द्वारा प्रदत्त भोजन को करने से पहले उनको समर्पित करना चाहिए। भोजन परोसे जाने पर मंत्र उच्चारण उपरांत भोजन पात्र का परिसेचन अर्थात उसके चारों ओर जल का मंडल बनाना चाहिए। इससे भोजन बाहरी शक्ति और बुरी दृष्टि से सुरक्षित रहता है। भोजन को प्रसाद मानकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। भोजन अगर मन को अच्छा न भी लगे तो भी उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। क्रोध करने से अथवा भोजन को त्यागने से मन और शरीर दोनों का नुकसान होता है। आनन्दित होकर किया गया भोजन बल और पराक्रम की वृद्धि करता है। जो भोजन देरी से पचे उस भोजन से परहेज करना चाहिए। भोजन में स्वाद को अधिक महत्व दिया जाता है तथा स्वाद में प्रियता व अप्रियता भी भोजन के चयन में कारण बनता है। इसी कारण चीनी, नमक व चिकनायी का समावेश हो जाता है। यह उचित नही है। अधिकांश लोग अनियमित भोजन करते है। कभी कम और कभी अधिक। भोजन न तो आवश्यकता से अधिक मात्रा में करना चाहिए और न ही कम मात्रा मे।

उपवास भी रखता है शरीर को स्वस्थ

अधिक आहार की आदत योग में बाधा उत्पन्न करती है। डटकर भोजन करने वाले आलस्यए निद्रा, मोटापा आदि के शिकार बन जाते हैं। आहार संयम होना आवश्यक है। आहार का एक अलग पहलू भी है उसे निराहार अथवा उपवास कहा जाता है। योग हो या आयुर्वेद उपवास के महत्व को किसी ने नकारा नही। हमारे लिए जितना महत्वपूर्ण भोजन खाना होता है उतना महत्वपूर्ण उपवास करना भी होता है। उपवास का महत्व केवल आयात्मिक दृष्टि से नही अपितु शारीरिक दृष्टि से भी है। एक ओर जहां भोजन करने का महत्व है वहीं भोजन छोड़ने का भी महत्व है। अधिकतर यौगिक क्रियाओं का अभ्यास खाली पेट ही करना चाहिए। विवेकपूर्ण आहार से ही शान्त, सुखी स्वस्थ तथा आध्यात्मिक जीवन पूर्णरूप से व्यतीत किया जा सकता है। योग में किसी भी प्रकार से मादक भोजन का उल्लेख नही किया गया। आयुर्वेद में भी किसी प्रकार के मादक भोजन करने का निषेध है। भोजन करते समय स्पर्श अथवा दृष्टि दोष से बचना चाहिए। स्पर्श से न केवल एक शरीर से दूसरे शरीर में रोग संक्रमित होते हैं अपितु शारीरिक व मानसिक वृत्तियों के प्रवेश होने की सम्भावना होती है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक विशिष्ट वृत्ति होती है। समान वृत्ति के लोगों के द्वारा छुआ गया भोजन सुरक्षित होता है। भोजन पर माता, पिता, सुहृद् एवैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस और चकवे की दृष्टि पड़ना उत्तम हैं। इसके विपरीत कुत्ते, दरिद्र, भूखे, पाखण्डी, स्त्रैण, रोगी की दृष्टि से व्यक्ति रोगी हो सकता है।

हम जो भोजन करते हैं उससे हमारा शरीर बनता है। इसको आधुनिक चिकित्सा शास्त्र भी मानता है। भारतीय ज्ञान इससे भी ऊपर है। भोजन के साथ भाव का भी महत्व हैए क्योंकि इससे खाने वाले का मन तुष्ट होता है। खाद्य पदार्थ है कि मज़ा आया जा सकता है योग आहार का सबसे अच्छा खाद्य पदार्थ होते हैं और इस सब्जियां, फल, शहद, सेम, रस, मक्खन और दूध जैसे आसान पचाने खाद्य पदार्थ शामिल हैं। योग आहार के रूप में प्रति बचने फूड्स खाद्य पदार्थ है कि आसानी से नहीं पचा सकते हैं या यह भी एक भारी प्रसंस्कृत खाद्य माना जा सकता है । योगाभ्यास के आधे घंटे पश्चात ही कुछ खाना या पीना चाहिए। गहन ध्यान के एक घंटे पश्चात ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। कठिन प्राणायाम के अभ्यास के पौने घंटे बाद भोजन लेना चाहिए। अधिकतर यौगिक क्रियाओं का अभ्यास खाली पेट ही करना चाहिए। वज्रासन का अभ्यास भोजन करने के बाद करने से पाचन तंत्र सशक्त होता है।

15.7 सारांश

आपने पढ़ा कि जीवन के लिए स्वास्थ्य सबसे महत्वपूर्ण है। इसी के द्वारा मानव जीवन के वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। हमारा स्वास्थ्य केवल औषधियों से ही प्राप्त हो

ऐसी सोच नही होनी चाहिए। आप ने जाना कि न केवल हमारा शरीर निर्माण में अपितु रोगों की उत्पत्ति में भी आहार भी कारण है। योग हो या आयुर्वेद एदोनो ने आहार की उपयोगिता को महत्व दिया है। योग ने सात्विक आहार लेने पर जोर दिया है तो आयुर्वेद ने उस आहार की कल्पना के साधन बताए है। योग शास्त्र में आहार की गुणवत्ता पर जोर दिया गया है लेकिन आहार के घटक क्या होने चाहिए इस बात का विस्तार से वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। किस प्रकार प्रयोग करने से सामान्य भोजन हितकर बन जाता है व किन कारणों से हितकर भोजन भी अहितकर हो जाता है। इन सब का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। यह बात सत्य है कि जब दो विज्ञान साथ साथ समाज में अपना प्रभाव दर्शा रहें हो तो उनका प्रभाव एक दूसरे के उपर पड़ना स्वाभाविक ही है। अतः योग और आयुर्वेद की एक साथ यात्रा ने एक दूसरे के विचारों को प्रभावित किया है। योग ने जिस प्रकार के आहार की कल्पना की है उसको साकार करने के लिए जो साधन व दिशा निर्देश हैं वो आयुर्वेद में ही निहित है। यहां तक कि आयुर्वेद में आहार से न केवल उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु अपितु दीर्घ आयु की प्राप्ति बतायी है। प्रतिदिन हित आहार करने वाला, सोच समझा कर कार्य करने वाला, विषयों में अनासक्ति रखने वाला एदान देने वाला, हानि लाभ में सम रहने वाला, सत्यपरायण एक्षमावान, आप्त पुरुषों की सेवा करने वाला, उनकी शिक्षा के अनुसार चलने वाला पुरुष ही नीरोग और शतायु होता है। आयुर्वेद न जिस आहार विहार को रोग पैदा करने वाला बताया है धर्मशास्त्र के अनुसार वह भोजन पाप जनक होता है। आपने जाना कि एक श्रेष्ठ मानसिक स्वास्थय ही शरीर को स्वस्थ रखने में कारण होता है। भोजन के सम्बन्ध में द्रव्य शुद्धि एकाल शुद्धि एभाव शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि व क्रिया शुद्धि जैसे भावों की आवश्यकता न केवल भोजन द्वारा मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु अपितु उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु बतायी है। योग द्वारा जिस सात्विक आहार के प्रयोग का निर्देश दिया है उसके लाभ हमे आयुर्वेद के नियमों का पालन करने से मिलते हैं। भोजन करने के लिए हम ने उत्तम द्रव्यों का चयन किया है उसके साथ साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि हम भोजन करतें किस प्रकार हैं। बिना स्नान किये भोजन करने से गुणकारी आहार द्रव्यों से भी वो लाभ प्राप्त नही होते जिसकी उनमें पात्रता होती है। विपरीत दिशा में भोजन करके भी वांछित लाभ नही मिलते। योग हो या आयुर्वेद दोनो ने भोजन से सही लाभ लेने के लिए उनकी गुणवत्ता के साथ साथ पवित्रता पर भी बल दिया है। बुद्धिमता इसमें है कि हम उक्त सिद्धातों के अनुसार ही भोजन को ग्रहण करें। याद रखें कि मनुष्य की आवश्यकतायें प्रकृति के सहयोग आसानी से पूरी हो जाती है लेकिन सभी इच्छायें कभी पूरी नहीं होती है।

15.8 शब्दावली

विभूति	शक्ति, समृद्वि एप्रसन्नता
वांछित	इच्छा एकामना, रुचि
कुत्सित	निन्दित
पाकशाला	रसोई घर जहां भोजन बनाया जाता है।
कूर्चिका	दूध को फटाकर बनाया गया एक द्रव्य
अनन्तर	सटा हुआ, समीप
पाचन तंत्र	शरीर के वे सारे अंग जो भोजन करने से लेकर उस को पचाने का काम करते है।
अभिश्यन्दि	बहाव, लेस से युक्त

15.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1 गीता में कितने प्रकार के भोजन का उल्लेख किया है।
2 उपवास के लाभ बताएं।
3 स्वास्थ्य का क्या महत्व है।
4 आरोग्य के लिए आहार का क्या महत्व है।
5 आहार ग्रहण विधि के कुछ नियम बताए।

6 योग और बायुर्वेद अनुसार भोजन ग्रहण करते समय किन बातों का घ्यानरखना चाहिए।
7 सात्विक आहार के गुण क्या है, इसें किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।
8 योगाभ्यास हेतु उचित आहार बताएं।
9 भोजन पर दृष्टि दोष का क्या प्रभाव होता है।
10 आयुर्वेद अनुसार व्यक्ति को किस प्रकार का अहार लेना चाहिए।

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चरक संहिता
काश्यप संहिता
रसायन वाजीकरण दर्पण , वैद्य ओम् प्रकाश उपाध्याय
कल्याण आरोग्य अंक
चारुचर्या
सुश्रुत संहिता
अष्टांग संग्रह
अष्टांग हृदय संवर्तिका व्याख्या वैद्य बनवारी लाल गौड़

इकाई 16 . योग एवं आयुर्वेद द्वारा निषिद्ध आहार विवेचन

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 निषिद्ध आहार

16.4 अपथ्य आहार क्या है

16.4..1 तामसिक भोजन से बचें।

16.4.2 ये होते हैं अपथ्य आहार

16.4.3 मधुरादि वस्तुओं का अधिक सेवन करना है निषिद्ध ।

16.4.4.पिप्पली क्षार व लवण का लगातार सेवन हानिकारक होता है।

16.4.5. निषिद्ध शाक

16.4.6 निषिद्ध फल

16.4.7 निषिद्ध कंद

16.4. 8 निषिद्ध मांस

16.5 आहारयोगि वर्ग में न प्रयोग करने योग्य द्रव्य

16.6 इक्षु विकार में से न सेवन करने योग्य द्रव्य ।

16.7 विरुद्ध अन्न का प्रयोग है निषिद्ध

16.8 ऋतु अनुसार निषिद्ध आहार

16.9 रात को भोजन न करें।

16.10 ऐसे न करें भोजन

16.11 भोजन पात्र के अनुसार पथ्य ध् अपथ्य

16.12 रोग अनुसार अपथ्य

16.13 सारांश

16.14 शब्दावली

16.15 अभ्यास हेतु प्रश्न

16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.1 प्रस्तावना

जिन रोगों के बारे में कभी सुना भी नहीं गया था उन्हें देखना ही नहीं भोगना भी हमारी विवशता बनती जा रही है। इस पृथ्वी पर हजारों चिकित्साण्पद्धतियाँ विकसित हो चुकी हैं। फिर भी आज का मानव रोगों से घिरा जीने को विवश है। आइए जाँच करें–कहीं हम ही तो गलती नहीं कर रहे हैं। हमारे रोगों कष्टों का कारण कहीं हम ही तो नहीं। हमे क्या खाना चाहिएए कब खाना चाहिए और कैसे खाना चाहिए इसको जानने में व इसका पालन करने के लिए हम लोग न केवल प्रयासशील रहते हैं अपितु यथासम्भ्व इन नियमों का पालन भी करते है। हम स्वस्थ रहें इस के लिए अहितकर आहार से बचना भी स्वास्थ्य प्राप्ति कीओर एक महत्वपूर्ण कदम है। प्रस्तुत इकाई में अहितकर आहार उससें होने वाले विकारों आदि का वर्णन किया है ।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप जान सकोगे कि अहितकर आहार क्या है ?
अपथ्य किसे कहते है किस प्रकार प्रयोग करने से पथ्य भोजन भी अपथ्य आहार का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मधुर, अम्ल आदि रस अधिक मात्रा में सेवन क्यों नही करने चाहिए विरुद्ध आहार क्या हैघ् स्वास्थ्य के लिए हितकर किन द्रव्यों का प्रयोग लगातार नही करना चाहिए। शाक वर्ग एफल वर्ग, धान्य वर्ग जैसे विभिन्न वर्गो के द्रव्य किन कारणें से सेवन करने के योग्य नही रहते। पथ्य भोजन किस प्रकार के बर्तन में करने से वह अपथ्य बन जाता है। किस काल में भोजन करने से पथ्य भोजन भी अपथ्य बन जाता है। किस ऋतु में कौन सा भोजन निषिद्ध है। जल का किस प्रकार प्रयोग करने से वह अपथ्य वह अहितकर हो जाता है। किस रोग में किस प्रकार के भोजन का निषेध है । किस प्रकार के भावों से युक्त भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर नही है। तामसिक भोजन क्या है। इसका निषेध क्यों है। विभिन्न शास्त्रों ने किस प्रकार के अथव किस अवस्था में भोजन नही करना चाहिए ।

16.3 निषिद्ध आहार

योग साधना के लिए सात्विक आहार लेने का निर्देश है। राजसिक अथवा तामसिक आहार योग साधना में बाधक होता है। आयुर्वेद में से आहार के सेवन का निर्देश है जिसके प्रयोग से धातुएं समावस्था में रहे। धातुओं को विषम करने वाले व तीनों दोषों का प्रकोप करने वाले आहार का निषेध है।

16.4 अपथ्य आहार क्या है

जिस आहार के प्रयोग से शरीर की सम धातुएं विषम हो जाती है व विषम धातुएं सम नही होती है उसे अहितकर आहार कहा जाता है। अयोग्य, अनुचित, असंगत, व अहितकर पदार्थों को अपथ्य कहा जाता है। कुछ द्रव्य स्वभाव से अपथ्य होते हैं और कुछ उनकी प्रयोग विधि के फल स्वरूप अपथ्य बन जाते हैं । इस प्रकार के भोजन का सेवन निषिद्ध होता है।

16.4.1 तामसिक भोजन से बचें

अधपका, दुर्गन्ध युक्त, रसरहित, बासी व अपवित्र भोजन तामसिक होता है। अधिक कड़वा, खट्आ, तीखा, रूखा व दाहकारक भोजन राजसिक होता है अतः इनके प्रयोग से बचना चाहिए।

16.4.2 ये होते हैं अपथ्य आहार

दालों में से उड़द की दाल ए जलों में से वर्षा ऋतु में नदी का जलए लवण में से ऊषर नमक, पत्तेदार सब्जियों में से सरसों का शाक, दूध वर्ग में से भेड़ी का दूध, घी वर्ग में से भेड़ी के दूध का घृत, वसा के विभिन्न प्रकारों में से भैंस की वसा, विभिन्न प्रकार के कन्दों में से आलू व इक्षु से बनी वस्तुओं में से राब का प्रयोग स्वभाव से अपथ्य होता है। इनका प्रयोग कम से कम करना चाहिए।

16.4.3 मधुरादि वस्तुओं का अधिक सेवन करना है निषिद्ध

मीठी वस्तुओं के अधिक सेवन से मेद की वृद्धि होती है। शरीर में मोटापा आता है जठराग्नि मन्द होती है। प्रमेह, गण्डमाला, अर्बुद आदि कफज रोगो की उत्पत्ति होती है। अम्ल रस के अतिसेवन से शरीर शिथिल हो जाता हैं। आंखों के आगे अन्धेरा छा जाता है। चक्कर आते हैं। खुजली होती है। शरीर में खून की कमी होती है। शरीर में सूजन बढ़ जाती है। हृदय प्रदेश में जलन पैदा करता है। लवण रस के अतिसेवन से पित्त की वृद्धि होती है, प्यास अधिक लगती है, शरीर का मांस गलना शुरु हो जाता हैए त्वचा के रोगों में त्वचा में स्राव निकलना शुरु हो जाता है। दांत गिरने शुरु हो जाते हैं, पौरुष शक्ति कम हो जाती है, बाल सफेद होने शुरु हो जाते है। इसके अतिसेवन से अम्लपित्त रक्तपित्त, विसर्प, वातरक्त, इन्द्रलुप्त आदि रोग पैदा होते हैं ।

कटु रस अर्थात तीखी वस्तुओं के अधिक सेवन से पौरुष शक्ति का नाश होता है। शरीर कमजोर होता है चक्कर आते हैं, गले मे जलन होती है शरीर का बल कम होता है।

तिक्त रस अर्थात कडवी वस्तुओं के अधिक सेवन से शरीर में रूक्षता बढ़ती है। शरीर की धातुओं का यथा रस, रक्त, मासं, अस्थि, मज्जा, शुक्र का शोषण होता है। मुख सूखता है। कसैली वस्तुओं का अधिक सेवन करने से पेट फूल जाता है, बोलने में पीड़ा होती है, पौरुष शक्ति का नाश होता है।

16.4.4 पिप्पलीए क्षार व लवण का लगातार सेवन हानिकारक होता है

पिप्पली, क्षार व लवण का अतिप्रयोग नही करना चाहिए। पिप्पली रस में कटु होते हुए भी विपाक में मधुर व गुरु होती है। यह न तो अधिक स्निगध होती है और न ही अधिक उष्ण होती है। इसमें अत्याधिक क्लेद उत्पन्न करने की क्षमता होती है। इसके कारण यह शीघ्रता से शुभ अशुभ फल देने में कारण होती है। इसका उचित रूप से प्रयोग कल्याणकारी होता है जबकि अनुचित प्रयोग दोषों को संचित करके रोगो को उत्पन्न करने में कारण होता है। अगर इसका प्रयोग सतत रूप से किया जाए तो यह गुरु व क्लेदजनक होने के कारण कफ का उत्क्लेश करती है। उष्ण होने का कारण पित्त का प्रकोप करती है। अल्प रूप से उष्ण व स्निग्ध होने से वात का शमन करने में समर्थ नही होती।

क्षार उष्ण, तीक्ष्ण व लघु होने से पहले शोषण व इसके उपरान्त क्लेद उत्पन्न करता है। उचित मात्रा में उसका प्रयोग भोजन का पाचन करने में सहायक होता है। इसका अधिक प्रयोग केश़, आंखें, हृदय व पौरुष शक्ति के लिए अहितकर है। जो लोग क्षार का सेवन अधिक करते हैं उन्हे कम दिखायी देना, नंपुसकता, गंजापन व बालों का सफेद होना जैसे विकार होते हैं।

लवण अपने उष्ण व तीक्ष्ण गुण के कारण़ न तो अधिक भारी होता है और न ही अधिक चिकना। इसका अधिक सेवन करने से शरीर का मांस गलना शुरु हो जाता है व शरीर शिथिल हो जाता है। बाल गिरने शुरु हो जाते है। बाल पक जाते है। चेहरे पर झुर्रियां आ जाती है।

16.4.5 निषिद्ध शाक

पत्तदार वह सब्जियां जिनको कीड़ा लगा होएहवा या धूप के कारण खराब हो गयी होएपुरानी हो गयी हो, उस ऋतु में पैदा हुयी हो जिस ऋतु में वह पैदा नही होती उनका प्रयोग नही करना चाहिए। जिस पत्तेदार सब्जी को उबाल कर पानी न निकाला हो व बिना घी अथवा तैल के हो उसका प्रयोग नही करना चाहिए।

16.4.6 निषिद्ध

फल जो फल अधिक पका हो, कच्चा हो, जो पुराना हो, क्रिमि, सर्प एपाला, दूषित अकाल में उत्पन्न सड़ा गला तथा खराब फल नही खाने चाहिए ।

16.4.7 निषिद्ध कंद

छोटा अर्थात कम समय का, अपनी ऋतु में न उत्पन्न हुआ, रोग युक्त, कृमि द्वारा खाया गया अथवा अच्छी तरह न उगा गया कन्द का सेवन नही करना चाहिए।

16.4.8 निषिद्ध मांस

मरे हुए प्राणी का मांस, कृश व दुर्बल प्राणी का मांस अधिक चर्बी वाला, वृद्ध अथवा बाल्य अवस्था वाले प्राणी का मांस, विष के प्रयोग से मरा हुआ प्राणी व अपने स्वाभाविक स्थान को छोड कर अन्य स्थान पर पले प्राणी का मांस इन सब का प्रयोग नही करना चाहिए।

16.5 आहारयोगि वर्ग में न प्रयोग करने योग्य द्रव्य

मिर्च, जीरा, हींग, सरसों आदि का तेल से संस्कारित करने वाले द्रव्यों का व सिरहा आदि का अल्प मात्रा में प्रयोग करना चाहिए जितने से स्वास्थ्य की रक्षा हो जाए।

16.6 इक्षु विकार में से न सेवन करने योग्य द्रव्य

नया गुड़ कफ को बढ़ाने वाला च अग्नि को मंद करने वाला होता है। बिना साफ किया गुड़ मज्जा, रक्त, मांस, मेद, कफ को बढ़ाने वाला होता है।

मधु उष्ण, उष्णता से पीडित व्क्ति द्वारा सेवित मधु, उष्ण काल तथा उष्ण पदाथों के साथ मधु का सेवन अहितकर होता है।

मद्य विधान के विपरीत प्रयोग की गयी मद्य अहितकर होती है। इसका प्रभीव विष के समान होता है। नयी शराब पचने में भारी त्रिदोष करने वाली होती है। गरम वस्तु के साथ शराब का प्रयोग नह करना चाहिए। भूखे व्यक्ति को इसके प्रयोग से बचना चाहिए। मलिन शराब का प्रयोग नही करना चाहिए ।

जल भोजन से पहले पानी पीने से अग्नि मंद होती है व दोषों का प्रकोप होता है। इस तरह जल के प्रयोग से शरीर कृश होता है । भोजन के अन्त में पिया हुआ जल स्थूलता कारक होता है व कफ दोष की वुद्धि करता है। अधिक पानी पीने से भोजन पचता नही है। बिल्कुल पानी न पीने से भी वही दोष होता है। प्यास लगने पर ज्वर का रोगी अगर अधिक जल पीता है तो उसका कफ और पित्त अधिक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में आम की वृद्धि, नींद का अधिक आना, पेट में अफारा होना, अंगों में भारीपन, श्वास जैसे विकार उत्पन्न होते है।

16.7 विरुद्ध अन्न का प्रयोग है निषिद्ध

विरुद्ध अन्न का सेवन आर्युवेद में निषिद्ध है। जो आहार शरीर की धातुओं का विरोध करे उसे विरुद्ध आहार कहते हैं। जो आहार शरीर के दोषों को बाहर नही निकालता अपितु कुपित अवस्था में उन्हे शरीर में ही रहने देता है उसे विरुद्ध आहार कहते हैं। चरक संहिता में शरीर को हानि पहुंचाने वाले 18 प्रकार के विरुद्ध आहार का वर्णन किया है। दूध के साथ मछली का प्रयोग नही करना चाहिए। सभी प्रकार के मांस के साथ मधु, तिल, गुड़, दूध, उड़द, मूली, कमल की नाल, अंकुरित धान्य का प्रयोग नही करना चाहिए। इनके प्रयोग से बहरापन, अन्धत्व, कम्पन, शरीर में जकडाहट, उच्चारण ठीक प्रकार से न होना गूंगापन व नाक से बोलना जैसे विकार हो सकते हैं। सरसों के तैल में भुने हुए कबूतर के मांस का प्रयोग मधु व दूध के साथ सेवन नही करना चाहिए। इसका प्रयोग करने से अपस्मार, शंखक प्रदेश में शूल, गलगण्ड, सिराजन्य ग्रन्थि जैसे रोग होते है। आम, करौंदा, जामुन, इमली, फालसा, अखरोट, कटहल, नारियल, अनार, आंवला, इन सब का प्रयोग दूध के साथ नही करना चाहिए। मोठ, कुलत्थ, उड़द व सेम का प्रयोग दूध के साथ नही करना चाहिए। सत्तू को दूध में मिलाकर नही खना चाहिए। जिस बर्तन में मछलियां पकायी गयी हों उसमें पिप्पली और मकोय को नही पकाना चाहिए। मधु को गर्म करे नही खाना चाहिए। मधु का प्रयोग बराबर घी की मात्रा के साथ सेवन नही करना चाहिए। वात प्रकृति वाले कोए मरु प्रदेश में रहले वाले को व अधिक मात्रा में इसका प्रयोग नही करना चाहिए। वृद्ध व्यक्तियों में इसका प्रयोग कम मात्रा में ही करना चाहिए। इसी तरह मरु प्रदेश में रूखी वस्तुए व जल की अधिकता वाले देश में अधिक चिकनायी वाली व ठंडी वस्तुओं का सेवन विरुद्ध होता है। शीत ऋतु में ठंडे व रूखे पदार्थों का सेवन व उष्ण काल में कटु अर्थात तीखे पदार्थों का प्रयोग काल विरुद्ध होता है। किसी व्यक्ति की भोजन पचान वाली अग्नि मंद हो तो वह देरी से पचने वाला भोजन करे अथवा तीक्ष्ण अग्नि वाला व्यक्ति कम या हल्का भोजन करे तो वह भोजन अग्नि विरुद्ध कहलाता है। ठंडी और

गरम वस्तुओं को परस्पर मिलाकर खाना भी विरुद्ध कहलाता है। जिस व्यक्ति का कोष्ठ मृदु होता है उस के लिए गुरु पदार्थ व क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति के लि अल्पमात्रा व मृदुवीर्य भोजन विरुद्ध होता है। जिस व्यक्ति ने व्यायाम किया हो अथवा थकावट हो गयी हो उसे ऐसा भोजन देना जो वात ,दोष की वृद्धि करता हो वह भोजन उसके लिए विरुद्ध होता है। आलसी व्यक्ति को निद्रा में लीन रहने वाले व्यक्ति को अगर कफ की वृद्धि करने वाला आहार दे दिया जाए तो उसके लिए वह विरुद्ध आहार होता है। मल मूत्र का त्याग किये बिना खनाए भूख न लगी हो तो भोजन करना विरुद्ध होता है। खटायी का दूध के साथ प्रयोग संयोग विरुद्ध होता है। एकान्त में न किया जाने वाला भोजन शास्त्र विरुद्ध होता है। विरुद्ध अन्न के प्रयोग से नंपुसकता, अन्धापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोटक, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, अफारा, गलरोग, पाण्डुरोग, आमविष, किलास, कुष्ठ, संग्रहणी, शोष, रक्तपित्त, ज्वर, पीनस जैसे रोग पैदा होते है ।

16.8 ऋतु अनुसार निषिद्ध आहार

हेमन्त ऋतु – कम मात्रा में भोजन करना, हल्का भोजन करना, जल में सत्तू घोल कर उसका प्रयोग नही करना चाहिए।

शिशिर ऋतु –तीखे, कडवे, कसैले, हल्के, व ठंडे खानपान का प्रयोग नही करना चाहिए।

बसन्त ऋतु –दधि का प्रयोग नही करना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु –नमकीन, खट्टी व तीखी वस्तुओं का प्रयोग नही करना चाहिए। मद्य का प्रयोग भी इस ऋतु में वर्जित है।

वर्षा ऋतु–पानी में घुला सत्तू, नदी का पानी रूक्ष भोजन, का प्रयोग नही करना चाहिए।

शरद ऋतु – चर्बी, तेल, जल में रहने वाले प्राणियो का मांस, क्षारीय वस्तु व दही का प्रयोग नही करना चाहिए।

16.9 रात को भोजन न करें

शाम होते ही भोजन कर लें। रात का इंतजार न करें। शाम को हल्का भोजन ही करें। जिनकी पाचन शक्ति कमजोर हो, वे और जल्दी व हल्का भोजन कर लें। फिर रात में कुछ न खायें। दिन भर भोजन क्रम से करने से रात को भूख भी नहीं लगेगी।

दिनभर क्रम से भोजन करेंगे तो रात को भूख–प्यास नहीं लगेगी। यदि फिर भी रात को भूख–प्यास लगे तो अपने भोजन क्रम पर ध्यान दें। बिल्कुल पेट भरकर भोजन न करें। थोड़ी भूख रखें। भोजन में अरूचि न होने दें।

रात में थककर तुरंत भोजन न करें। थकान से भूख बढ़ती है। पहले थोड़ा आराम कर लें जिससे थोड़ी सी भूख शांत हो जाये। फिर थोड़ा गर्म था शीतल पेय ले लें जोकि आपकी भूख को शांत करेगा। कुछ खास खाने का मन न करे तो ऐसी चीज दिन में ही खायें। जो व्यंजन रात में नहीं पच पाते, उन्हें दिन में ही अपने भोजन में शामिल करें। अपने भोजन पर ध्यान दें। भोजन करने के समय पर ध्यान दें। तभी तो आप स्वस्थ रह सकेंगी। याद रखें रात में भोजन करने से परहेज करें।

16.10 ऐसे न करें भोजन

प्रकृति विरुद्ध आहार वात पित्त व कफ इन तीन दोषों को और रस रक्तादि धातुओं को स्वेद मूत्र आदि मलों एवं उपधातुओं को, त्रयोदश अग्नियों एवं स्रोत को दूषित करता है।

दही से मिश्रिन अन्न शरीर की चर्बी बढ़ाने वाला, आलस्य देने वाला, उदर की अग्नि मन्द करने वाला, उष्ण, पित्त, क्लेद तथा क्फ वर्धक घाव वाले रोगियों के लिए हानिकारक है। अत्यत सूखा अन्न बल वर्ण को नष्ट करता है। अति उष्ण अन्न मद, दाह, प्यास उत्पन्न करता है। बल को मिटाता है, भ्रम व रक्तपित्त को उत्पन्न करता है। तिनके, केश आदि से अपवित्र गया भोजन, दोबारा गर्म किया गया भोजन, अत्यधिक नमकीन तथा गर्म भोजन सर्वथा त्याग का देना चाहिए।

नीच, दरिद्र, भूखे, पाषण्ड, स्त्रैण, रोगी, मुर्गे, सर्प और कुत्ते की दृष्टि भोजन में ठीक नही होती। अन्न में संक्रमित होने से अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है। किसी वस्तु से माथा लपेट कर तथा जूता पहन कर भोजन करना उचित नही होता। इस प्रकार भोजन करना आसुरी प्रकृति का लक्षण है।

बहुत अधिक चिकनायी वाला भोजन कफ की वृद्धि करता है। हृदय में भारीपन व आलस्य लाता है। इसके सेवन से उल्टी आने को मन करता है व भोजन में अरुचि पैदा होती है।

भोजन का निश्चित समय बीत जाने पर जो व्यक्ति कम या अधिक भोजन करता है उसका भोजन स्वयंमेव विषमय हो जाता है। भोजन करने के बाद तुरन्त भोजन करना ठीक नही होता है।

अत्याधिक भोजन करने से ग्लानि भावना पैदा होती है जबकि कम मात्रा में भोजन करने से शरीर की शक्ति कम हो जाती है। भोजन काल के आरम्भ में जल पीने से जठराग्नि धीरे धीरे कमजोर हो जाती है, शरीर के अंग प्रत्यंग दुर्बल हो जाते हैं। भोजन काल के मध्य में जल पीने से भूख बढ़ती है। आठ प्रकार से अन्न दूषित हो जाता है. रक्त, चिपचपा, अपवित्र, काढ़ा बन जाने से, सुखाया जाने से जला हुया, बदसूरत, मनुष्य द्वारा नही उपजाया गया दुर्गनधयुक्त भात नही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यह सवर्था भारी और दूषित होता है।

प्यासे व्यक्ति को पहले भोजन नही करना चाहिए तथा भूखे व्यक्ति को पहले जल नही पीना चाहिए। जो मनुष्य प्यासा रहता है वह गुल्म रोगी हो जाता है तथा भूखे रहने वाला व्यक्ति भगन्दर का रोगी हो जाता है।

रात्रि के समय थोड़ा जल पीना भी विष के समान होता है।

आम अर्थात कच्चा, जला हुया, मल को बांधने वाले द्रव्य अजीर्ण का कारण होते है।

भोजन करने वाला व्यक्ति यदि निन्दा करने वाला तथा क्रोध करने वाला होता है तो वह भोजन निश्चित रूप से अपचन अन्न अजीर्ण होकर विष तुल्य हो जाता है। अपना हित चाहने वाले को अकेले भोजन नही करना चाहिए। दुष्कर्म से अर्जित कृपण का धन दुष्परिणाम देने वाला होता है। ऐसे धन के भोजन के करने से प्रत्यक्ष फल नही मिलता। इस प्रकार के धन से दरिद्र को भोजन देने से भी लाभ नही होता।

जिस स्थान पर भोजन बनाया जाए उस स्थान को शुद्ध न करके बनाया जाए तो भोजन से वांछित लाभ नही प्रापत होता।

16.11 भोजन पात्र के अनुसार पथ्य– अपथ्य

तांबे के पात्र में बनाया हुआ भोजन भोजन में अरुचि पैदा करता है। इसका प्रयोग अम्लपित्त का कारक होता है। उष्ण प्रकृतिवाले व्यक्ति तथा अम्लपित्त, रक्तपित्त, त्वचाविकार, यकृत व हृदयविकार से पीड़ित व्यक्तियों के लिए काँसे के पात्र स्वास्थ्यप्रद हैं। इससे पित्त का शमन व रक्त की शुद्धि होती है। परंतु श्स्कन्द पुराण के अनुसार चतुर्मास के दिनों में ताँबे व काँसे के पात्रों का उपयोग न करके अन्य धातुओं के पात्रों का उपयोग करना चाहिए। चतुर्मास में पलाश यढाकद्ध के पत्तों में या इनसे बनी पत्तलों में किया गया भोजन चान्द्रायण व्रत एवं एकादशी व्रत के समान पुण्य प्रदान करने वाला माना गया है। इतना ही नहींए पलाश के पत्तों में किया गया एकण्एक बार का भोजन त्रिरात्र व्रत के समान पुण्यदायक और बड़े–बड़े पातकों का नाश करने वाला बताया गया है। चतुर्मास में बड़ के पत्तों या पत्तल पर किया गया भोजन भी बहुत पुण्यदायी माना गया है एल्यूमीनियम के बर्तनों का उपयोग कदापि न करें। वैज्ञानिकों के अनुसार एल्यूमीनियम धातु वायुमंडल से क्रिया करके एल्यूमीनियम ऑक्साइड बनाती हैए जिससे इसके बर्तनों पर इस ऑक्साइड की पर्त जम जाती है। यह पाचनतंत्र, दिमाग और हृदय पर दुष्प्रभाव डालती है। इन बर्तनों में भोजन करने से मुँह में छाले, पेट का अल्सर, एपेन्डीसाईटिस, रोग, पथरी, अंतःस्राव, ग्रन्थियों के रोग, हृदयरोग, दृष्टि की मंदता, माईग्रेन, जोड़ों का दर्दए सर्दी, बुखारए बुद्धि की मंदता, डिप्रेशन, सिरदर्द, दस्त, पक्षाघात आदि बीमारियाँ होने की पूरी संभावना रहती है। एल्यूमीनियम के कुकर का उपयोग करने वाले सावधान हो जायें।

16.12 रोग अनुसार अपथ्य

नवज्वर . दूध, घी, दालें, मासं, मठा, मद्य, देरी से पचने वाले पदार्थ, अधिक पेय द्रव।
ज्वर . विरुद्ध भोजन, जलन पदा करने वाले द्रव्य, दूषित जल, क्षारीय द्रव्य, पत्र शाक, चना आदि अंकुरित धान्य, मछली, पान आदि
अतिसार .अधिक जल पीना, विरुद्ध आहार, गेहूं, उड़द की दाल, जौए बथुआ, मकोय, सेमफली, आलू, पेठा, लौकी, बेर, देरी से पचने वाली वस्तुएं, आम, सुपारी, पान, गुड़, लहसुन, आमला, दूषित जल, दही का पानी, नारियल, तेल आदि से बने पदार्थ, हरी सब्जियां, ककड़ीए, अधिक नमक व अधिक खट्टे पदार्थ।
ग्रहणी . अधिक जल पीना, विरुद्ध आहार, गोमूत्र, राजमाष, अदरख, गेहूं, उड़द की दाल, जौ, बथुआ, मकोय, सेमफली, मटर, आलू, पेठा, लौकी, बेर, देरी से पचने वाली वस्तुएं, आम, सुपारी, पान, गुड़, लहसुन, आमला, दूषित जल, दही का पानी, नारियल, पान मुन्नका क्षारीय पदार्थ तेल आदि से बने पदार्थ, हरी सब्जियां, ककड़ी, अधिक नमक व अधिक खट्टे पदार्थ।
अर्श. कुलत्थ की दाल, गुड़एब्रैंगन, तिल, सरसों, दधि, दूध, लहसुन, अधिक जल पीना, अधिक नमक, शराब, विरुद्ध आहार, दाले, जलन पैदा करने वाले द्रव्य।
मन्दाग्नि व अजीर्ण . पीठी के बने पदार्थ, अधिक जल पीना, विरुद्ध आहार जामुन का फल, दालें, आलू, दूध को फटा कर बनाये गये पदार्थ, आम व इमली से बना पेय रस ताड़ के फल दूषित जल, घी तैल में बने पदार्थ व कब्जकारक आहार।
क्रिमि रोग अधिक पेय द्रव्य, विरुद्ध आहारए पीठी के बने पदार्थ, उड़द की दाल, दधि, पत्रशा, मांस, दूध, अम्लपदार्थ, मीठी वस्तुएं, भैंस का मांस, अजीर्णकाराक पदार्थ।
क्षय रोग. रूखा भोजन, अधिक पेय द्रव्य, पान तरबूज, कुलत्थ, उड़द, लहसुन, हींग, खट्टे, तिक्त व कसैले पदार्थ, पत्र शाक, क्षारीय द्रव्य, कुंदरू, करेला, जलन पैदा करने वाले पदार्थ।
कासरोग –मछली, कन्दशाक, जलन पैदा करने वाले पदार्थ, सरसों, दूषित जल, गोल लौकी, विरुद्ध आहार, देरी से पचने वाली वस्तुएं
श्वास रोग – कब्जकारक पदार्थ, तेल में बने पदार्थ, दूषित जल, सेम, भेजन के बाद जल का प्रयोग, कफकारक पदार्थ, मछली, आलू, सरसों, रूखे ठण्डे तथा देरी से पचने वाले पदार्थ
हिक्का रोग –विरुद्ध भोजन, कब्ज करने वाला आहार, जलन पैदा करने वाला आहार, सेम, **उड़द, तिल, जल प्रधान देश में उत्पन्न पशु पक्षियों का मांस, मछली, सरसों खट्टे पदार्थ, गोल लौकी, देरी से पचने वाला भोजन।**
तृष्णा रोग –अधिक मात्रा में घी तेल, देरी से पचने वाला भोजन, नमकीन, कसैले पदार्थ, सोंठ, पिप्पली, मरिच, दषित जल, तीखे पदार्थ।
मदात्यय –शराब का सेवन अधिक हो जाने पर पान, नमक मिले पदार्थों का प्रयोग
दाह रोग–शरीर में जलन होने पर तक्र सेवनए मधु, क्षार, पित्त वर्धक आहार, हींग, पान, पित्त वर्धक आहार, तीखे द्रव्य।
उन्माद रोग–पागलपन की अवस्था में सभी प्रकार के विरुद्ध भोजन, गरम भोजन, करेला, सभी प्रकार के पत्र शाक, तिक्त अर्थात कड़वी वस्तुएं पलाश के बीज, कुंदरु।
अपस्मार मिरगी में अपवित्र भोजन, मद्य, मछली, विरुद्ध अन्न, तीख भोजन, सभी प्रकार के पत्र शाक, पलाश के बीज
आमवात दधि, मछली, गुड़, दूध, उडद, पीठी, दूषित जल, विरुद्ध आहार, अपनी प्रकृति के प्रतिकूल भोजन, देरी से पचने वाले पदार्थ, लेसदार पदार्थ।
उदर शूल रूखा भोजन, कड़वे और कसैले द्रव्य, देरी से पचने वाला भोजन, दालें, नमक, तिल, ठण्डा भोजन, शराब व तीखा भोजन।
हृदय रोग विन्धयाचल पर्वत से निकलने वाला जल, दूषित जल, देरी से पचने वाला भोजन, कड़वे और कसैले द्रव्य पत्रशाक, क्षारीय द्रव्य।
अश्मरी रोग पत्थरी कब्जकारक पदार्थ, देरी से पचने वाले पदार्थ, रूखा भोजनए

प्रमेह नया अन्न, दधि, जलीय प्रदेश में रहने वाले प्राणियों का मांस, कांजी, मदिरा, सिरका, तेल, क्षार, घी गुड़, लौकी, ताड के फल के भीतर वाली गिरी, विरुद्ध भोजन। खट्टे मीठे व नमकीन पदार्थ व लेसदार पदार्थ।

बहुत तेजी से भोजन न करें। अत्याधिक सुस्ती से भोजन न करे।

अम्लपित सभी प्रकार के नये अन्न, विरुद्ध अन्न, तिल, उड़द, कुलत्थ, तेल, सेवन, कांजी, खट्टे पदार्थ, नमकीन व तीखे पदार्थ, देरी से पचने वाले पदार्थ, दही व शराब

वातज रोगों में अपथ्य देरी से पचने वाले पदार्थए, पीठी व तण्डुल का प्रयोग भोजन के बाद नही करना चाहिए। भूख लगने पर इनका प्रयोग अल्प मात्रा में करना चाहिए।

कम मात्रा में खाया हुआ भोजन असंतोष बल क्षीणता करता है। अधिक मात्रा वाला भोजन आलस्य, भारीपन गुडगुड़ाहट और सुस्ती करता है। सुश्रुत

थका हुआ जो मनुष्य तुरन्त अन्न पान करता है उसको ज्वर हो जाता है अथवा उल्टी होती है। अतः थका हुआ और व्यायाम से पीड़ित मनुष्य तत्काल भोजन न करे। आत्रेय संहिता

अधिक जल पीनेए विषम भोजन, व नींद में खाया गया भोजन पचता नही है।

कभी भी केवल एक रस के सेवन में तत्पर नही होना चाहिए। अधिक उष्ण अन्न के सेवन बल का नाश होता है जबकि ठण्डा भोजन पचने में कठिन होता है। सुश्रुत

अत्यन्त गीला भोजन ग्लानिकारक और युक्तिपूर्वक किया भोजन बल दायक होता है। अपवित्र, दूषित एजूठा, पत्थर, तृण, मिट्टी से युक्त मन को अप्रिय, बासी, अस्वादिष्ट और दुर्गन्धित अन्न का सेवन नही करना चाहिए। अतिभोजन नही करना चाहिए। पदम पुराण में लिखा है कि अतिभोजन आरोग्य को, आयु को स्वर्ग को तथा पुण्य को नष्ट कर लोकव्यवहार में निन्दा को प्राप्त करता है। अनुचित प्रकार से भोजन करने पर वह आसुर भोजन कहलाता है। कूर्म पुराण के अनुसार जो भोजन सिर ढक कर किया जाता है एवं जूते चप्पल पहन कर किया जाता है वह आसुरी भोजन कहलाता है। आसुर भोजन से मनुष्यों की आयु क्षीण होती है।

सृष्टि पुराण में लिखा है कि गीले पैर से शयन व सूखे पैर से भोजन नही करना चाहिए। कूर्म पुराण अनुसार हिंसक भोजन नही करना चाहिए। हिंसक भोजन यही नहीं है कि कोई आदमी मांसाहार करता हो। हिंसक भोजन यह भी है कि कोई आदमी क्रोध से आहार करता हो। क्रोध से भोजन करते वक्त दुख मेंए चिंता में भोजन करते वक्त भी आदमी हिंसक आहार ही कर रहा है। क्योंकि उसे इस बात का पता ही नहीं है कि वह जब किसी और का मांस लाकर खा लेता है, तब तो हिंसक होता ही है लेकिन जब क्रोध और चिंता में उसका अपना मांस भीतर जलता हो तब वह जो भोजन कर रहा है वह भी अहिंसक नहीं हो सकता है। वहां भी हिंसा मौजूद है। बिना भूख के खाना रोगों को आमंत्रित करता है। कोई कितना भी आग्रह करे या आतिथ्यवश खिलाना चाहे पर आप सावधान रहें। सही भुख को पहचानने वाले मानव बहुत कम होते हैं भूख न लगी हो फिर भी भोजन करने से रोगों की संख्या बढ़ती जाती है। एक बार किया हुआ भोजन जब तक पूरी तरह पच न जाएए खुलकर भूख न लगे दुबारा भोजन नही करना चाहिए ।

16.13 सारांश

इस इकाई पढ़ने से आप ने जाना कि कुछ द्रव्य स्वभाव से ही अहितकर होते हैं और कुछ मात्र प्रयोग विधि से पथ्य भोजन भी अपथ्य बन जाते है। मीठी, खट्टी एनमकीन, कसैली आदि वस्तुएं उचित मात्रा में हितकर होती हुइ भी अधिक मात्रा में सेवन करन से अहितकर होने से उनका प्रयोग निषिद्ध है। पिप्पली, क्षार व लवण शरीर के लिए हितकर होते हुए भी उनका लगातार सेवन निषिद्ध है। विभिन्न प्रकार के फल, अनाज एशाक, धान्य आदि किस प्रकार सेवन के योग्य नही रहता है। आपने जाना कि सभी ऋतुओं में सभी प्रकार का भोजन का प्रयोग नही करना चाहिए। कुछ रोग मात्र अपथ्य आहार के सेवन करने से ही बढ़ जाते है। किस रोग मे किस प्रकार के आहार का प्रयोग नही करना चाहिए .इस प्रकार की जानकारी आपने प्राप्त की। आपने जाना कि किस काल में कौन सा भोजन नही करना चाहिए व किस बर्तन में कौन सा भोजन

निषिद्ध है। इस इकाई के अध्ययन से आप शरीर को स्वस्थ रखने के लिए किस प्रकार के आहार से बचना चाहिए की जानकारी को अभिव्यक्त कर सकोगे।

16.14 शब्दावली

विसर्प त्वचा के ऊपर फैल जाने वाला एक विकार
जलोदर पेट में पानी भर जाना
विस्फोटक, त्वचा पर फफोले पड़ जाना
उन्माद, एक प्रकार का पागलपन
भगन्दर, गुदा में होने वाला एक रोग
मूर्च्छा, बेहोशी की अवस्था
अफारा, पेट का फूल जाना
गलरोग, गलें का रोग
पाण्डुरोग, खून की कमी का रोग
आम विष, भारी भोजन करने से और अग्नि मंद होने के कारण भोजन का पाक ठीक प्रकार से नही होता । इस प्रकार की स्थिति लगातार बनी रहने से आम विष बननब की स्थित पैदा होती है।
किलास, सफेद कुष्ठ का एक प्रकार
कुष्ठ त्वचा में होने वाले रोगों
संग्रहणी कभी पका हुआ अथवा कभी अधपका मल निकलना ।
शोष, शरीर का सूख जाना, ऐसा प्रायः राजयक्ष्मा अर्थात टी बी की अवस्था में होता है।
रक्तपित्त शरीर के ऊपर अथवा नीचे के भाग में से रक्त का निकलना।
ज्वर, बुखार
पीनस पुराना जुकाम

16.15 अभ्यास हेतु प्रश्न

रिक्त स्थान भरें:

1 प्रमेह ..... रस के अधिक सेवन से होता है।
2 पिप्पली, ... व लवण का लगातार प्रयोग नही करना चाहिएं
3 अत्यंत ..... अन्न बल वर्ण को नष्ट करता है।
4 सृष्टि पुराण में लिखा है कि ... पैर से शयन व .... पैर से भोजन नही करना चाहिए।
5 कभी भी केवल .... रस के सेवन में तत्पर नही होना चाहिए।
6 ....रस के अतिसेवन से दांत गिरने शुरु हो जाते हैं।
7 कटहल, नारियल,अनार,आंवला,.इन सब का प्रयोग .....के साथ नही करना चाहिए।

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें।

1 विभिन्न ऋतुओं में किस प्रकार के भोजन का निषेध है ।
2 विभिन्न रोगों में निर्दिष्ट अपथ्यों का उल्लेख करें
3 किस प्रकार के पात्र में कौन कौन सा भोजन नही करना चाहिए।
4 भोजन करते समय किस प्रकार के भावों से युक्त होना नही चाहिए।
5 विरुद्ध आहार किसे कहते हैं । इसके प्रयोग से कौन से रोग होते है।

16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चरक संहिता
सुश्रुत संहिता
अष्टांग संग्रह

इकाई – 17 योग एवं आयुर्वेदिक पद्धतियों का वैज्ञानिक महत्त्व

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 योगासन का वैज्ञानिक महत्त्व
17.4 प्राणायाम, त्रिबंध एवं मुद्रा विज्ञान का वैज्ञानिक महत्त्व
17.5 षट्कर्मों का वैज्ञानिक महत्त्व
17.6 अश्टांग योग का वैज्ञानिक महत्त्व
17.7 आयुर्वेदिक त्रिदोशों का वैज्ञानिक महत्त्व
17.8 आयुर्वेदिक पंचमहाभूत, पंचकर्म एवं पथ्यापथ्य का वैज्ञानिक महत्त्व
17.9 आयुर्वेदिक दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं सदवृत्त का वैज्ञानिक महत्त्व
17.10 सारांष
17.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
17.12 निबंधात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

स्वस्थ अर्थात् ''रोगमुक्त जीवन' मानव की सर्वोच्च प्राथमिक आवश्यकता है। ''धमार्थकाममोक्षणां आरोग्यं मूलमुत्त्मम्'' के अनुसार चारों पुरूषार्थ अर्थात् 1 धर्म 2 अर्थ 3 काम 4 मोक्ष की प्राप्ति के मूल में आरोग्यता (निरोगी काया) सर्वोपरि मानी गयी है। त्रिऐषणायें 1. प्रानेषना 2. धनेषणा 3. परलोकेषणा की पूर्ति का माध्यम भी स्वस्थ जीवन है। साथ ही ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' अर्थात् धर्म का साधन भी स्वस्थ शरीर को माना है।

आज के भौतिकवादी यांत्रिक युग की चकाचौंध में मानव भोगविलासी प्रवृति, प्रज्ञापराध, अब्रह्मचर्य, प्रदूषित एवं मिलावटी आहार–विहार, कीटनाशक रसायनों से उत्पादित आहार सामग्री, इलेक्ट्रोनिक उपकरणों (मोबाइल आदि) से उत्पन्न आणविक तरंगों तथा प्रतिस्पर्धा के युग में मानसिक तनाव आदि के कारण बीमार हेाता जा रहा है। ऐसे में शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य हेतु योग एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के स्वास्थ्य सिद्धान्तों का दैनिक जीवन में पालन करते हुये दोनों पद्धतियों द्वारा दो उद्देश्य 1 स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य का संवर्धन तथा 2 बीमार व्यक्ति के रोग का उपचार कर आरोग्यता प्राप्त की जा सकती है।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम अध्ययन करेगें–
योगासन का वैज्ञानिक महत्त्व
प्राणायाम, त्रिबंध एवं मुद्रा विज्ञान का वैज्ञानिक महत्त्व
शट्कर्मों का वैज्ञानिक महत्त्व
अश्टांग योग का वैज्ञानिक महत्त्व
आयुर्वेदिक त्रिदोशों का वैज्ञानिक महत्त्व
आयुर्वेदिक पंचमहाभूत एवं पथ्यापथ्य का वैज्ञानिक महत्त्व
आयुर्वेदिक दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं सदवृत्त का वैज्ञानिक महत्त्व

17.3 योगासन का वैज्ञानिक महत्त्व

योगासनों को करते समय शरीर को आगे, पीछे, दांये, बायें आसनों की विधि के अनुसार झुकाते हैं, तानते हैं, ढ़ीला करते हैं या मरोड़ की क्रिया करते हैं इससे शरीर की रक्तनलिकायें शुद्ध होती है, जिससे हृदय को सम्पूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त पहुँचाने तथा

विकार युक्त अशुद्ध रक्त को वापस हृदय की ओर लाने में सुगमता होती है। स्वस्थ रहने का यह सिद्धान्त है कि शरीर में जहाँ जहाँ शुद्ध रक्त कोशिकाओं में संचरित होता है सम्बन्धित वे अंगावयवसक्रिय, पुष्ट तथा रोगमुक्त होते हैं।

योगासनों द्वारा फुफ्फुस के वायुकोषों में अधिकाधिक प्राणवायु (O_2) की अभिवृद्धि होती है, जिससे रक्त की अधिक मात्रा में शुद्धि होती है।

शरीरस्थ निर्मित विजातीयद्रव्य जो कि रोगोत्पत्ति के प्रधान कारण है, वे शनैःशनैः नासिका (CO_2) त्वचा (पसीना), मूत्रेन्द्रिय (मूत्र) तथा गुदेन्द्रिय (मल) आदि द्वारा बाहर उत्सर्जित होते हैं। योगासनों द्वारा जाठराग्नि सशक्त होती है जिससे पाचन शक्ति बढती है एवं सम्यक् मात्रा में भूख लगती है। परिणामस्वरूप आहार से पाचनोपरान्त पोषण द्वारा ऊर्जा एवं शक्ति प्राप्त होती है।

योगासनों द्वारा शरीर के जोड़ संधियों तथा मेरूदण्ड में कठोरता दूर होकर लचीलापन आता है। जिससे रक्तसंचार संयमित होता है तथा मेरूदण्ड की लचकता से षडचक्र प्रभावित होकर शक्ति के केन्द्र जागृत होते हुये आरोग्यता प्राप्त होती है।

शरीर शिथिल करने वाले आसनों द्वारा शरीर तथा मस्तिष्क की नस–नाड़ियाँ तनाव मुक्त होकर कार्यशील होती है। नाड़ियां शुद्ध एवं शान्त होती है जिससे तनाव दूर होकर मन प्रसन्न होता है।

ध्यान के आसनों द्वारा चित्त शान्त होती है, मन स्थिर होता है, इंन्द्रियों की गति अन्तर्मुखी होती है तथा मन सात्विक विचार प्रधान होते हुये नकारात्मकता दूर होकर सकारात्मक जीवन शैली का भाव बढ़ता है।

योगासनों के द्वारा शरीर की रक्तवाहिनियाँ लचीली रहती है वे सख्त कठोर नहीं हो पाती, जिससे हृदय को बल मिलता है साथ ही रक्तसंचार संतुलित एवं नियमित होता है।

योगासनों से फुस्फुसों की मजबूती बढ़ती है।

योगासनों से रक्तशुद्ध होता है। मनस्थिर होकर शांत होता है।

योगासनों से अंतस्त्रावी ग्रंथियों का स्त्राव नियमित होता है। जिससे रोग प्रतिरोधक क्षमता बढती है।योगासनों से पाचन संस्थान सशक्त होता है, जिससे अग्निमांद्य कब्ज आदि दूर होती है।

योगासनों से मांसपेशियां को मजबूती मिलती है जिससे शरीर सुन्दर दिखता है।

योगासनों से शरीर एवं मन दोनों की आरोग्यता प्राप्ति होती है।

योगासनों से महिलाओं में लावण्यता, सौम्यता एवं सुन्दर आकर्षक शरीर बनता है।

योगासनों से जीवन शैली जन्य रोग जैसे – मधुमेह, मनोअवसाद, तनाव, मोटापा, थायोराइड, वातरोग, हृदय रोग आदि दूर होते है।

योगासनों से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, जिससे मेधा शक्ति, धारणा शक्ति एवं बौद्धिक क्षमता बढ़ती है।

योगासनों द्वारा शरीर में उत्पन्न विजातीय द्रव्य जैसे – मल, मूत्र, स्वेदादि (पसीना) सम्यक् मात्रा में बाहर निकलते है।

17.4(अ) प्राणायाम, त्रिबंध एवं मुद्रा विज्ञान का वैज्ञानिक महत्त्व

प्राणायाम करने से पाचन तंत्र स्वस्थ होकर उदर विकार (पेटरोग) दूर होते है।

- प्राणायाम करने सेहृदय एवं फुफ्फुस सशक्त होते है।
- प्राणायाम करने से शरीर में ऑक्सीजन (O_2) प्राणतत्त्व की मात्रा बढ़ती है।
- प्राणायाम करने से अतिरिक्त संचित मेद (Fat) दूर होता है।
- प्राणायाम करने से रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।
- प्राणायाम करने से शरीर की नाड़ियां, रक्तनलिकायें शुद्ध होती है।
- प्राणायाम करने से शारीरिक सुस्ती–आलस्य दूर होता है।
- प्राणायाम करने से भूख प्यास सम्यक् मात्रा में लगती है।

- प्राणायाम करने से लम्बा गहरा पूरक, कुम्भक एवं रेचक होता है। जिससे दीर्घायु प्राप्त होती है।
- प्राणायाम करने से उदर, यकृत (लीवर), मूत्राशय, छोटी आंत, बड़ी आंत्र आदि अंगावयव प्रभावित होकर स्वस्थ होते हैं।

  प्राणायाम करने से बढे हुए या घटे हुए त्रिदोष(वात पित्त कफ) समअवस्था में हो जाते हैं।
- प्राणायाम करने से विजातीयतत्त्व (रोक्तिसक) नष्ट होते है।
- प्राणायाम करने से काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार आदि मानसिक दोष नष्ट होते हैं।
- प्राणायाम करने से मन में शांति, एकाग्रता, स्थिरता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है।
- प्राणायाम करने से षड़चक्रों का शोधन, भेदन एवं कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।
- प्राणायाम करने से वलित (गंजापन) एवं पलित रोग (बालों का पकना) दूर होते है।
- प्राणायाम करने से चेहरे पर ओज, तेज, आभा, प्रभा, दीप्ति एवं कांति बढ़ती है।
- प्राणायाम करने से मोटापा, कब्ज, कॉलेस्ट्राल, अम्लपित्त (एसीडिटी), एलर्जी, श्वास रोग, माइग्रेन, किडनी आदि के रोग दूर होते हैं।
- प्राणायाम करने से स्त्रियों के माहवारी (आर्त्तव), प्रदर, यौन रोग एवं अन्य हार्मोन्स के विकार दूर होते हैं।
- प्राणायाम करने से ''हार्ट के ब्लोकेज'' दूर होते हैं।
- प्राणायाम करने से शरीस्थ ''जीवन ऊर्जा'' बढ़ती है एवं सकारात्मक शक्ति जन्य भाव उत्पन्न होते हैं।
- प्राणायाम करने से समस्त त्रिदोषजन्य रोग दूर करने में सहायता प्राप्त होती है।
- प्राणायाम करने से सभी सातचक्रों का शोधन होता हैं।
- प्राणायाम करने से गर्मी के रोग (पित्तजन्य) सर्दी के रोग (कफजन्य) नष्ट होते हैं एवं वायु सम्यक् मात्रा में होने से सभी वातरोग भी नष्ट होते हैं।
- **17.4 (ब) योगासन एवं प्राणायाम का वैज्ञानिक विवेचन स्वास्थ्य की दृष्टि से –**
- महर्षि पतजंलि ने अष्टांग योग में पांच यमों को प्रतिरोधक तथा पंचनियमों को अनुपालनीय बताया है।
- यम एवं नियमों को स्वास्थ्य एवं कल्याण हेतु योगाभ्यास के पूर्व अपेक्षित एवं अनिवार्य बताया है।
- आसनों का अभ्यास शरीर एवं मन में स्थायित्व, स्थिरता तथा मनोदैहिक स्थिति में जागरूकता बनाये रखने हेतु आवश्यक बताया है।
- आसनों का अभ्यास शरीर एवं मन में स्थायित्व, स्थिरता तथा मनोदैहिक स्थिति में जागरूकता बनाये रखने हेतु आवश्यक बताया है।
- प्राणायाम द्वारा पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्रक्रिया के सुव्यवस्थित एवं नियमित अभ्यास को दीर्घश्वसन के प्रति जागरूकता तथा मन के प्रति सजगता उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण बताया है। मन की शांति एवं मनके नियंत्रण हेतु प्राणायाम की महत्ती भूमिका है।
- प्रत्याहार के अभ्यास से व्यक्ति सांसारिक विषयों का त्यागकर मन तथा चैतन्य केन्द्र के एकीकरण का प्रयास कर, इंद्रियों के निग्रह (नियंत्रण) को प्राप्त करता है।
- मन के एकीकरण की अवस्था ध्यान है। मन का व्यापक आधार क्षेत्र का विषय धारणा है। शरीर एवं मन में अन्तर्मुखी केन्द्रित ध्यान की निरन्तरता एवं एकाग्रता होने पर यही ध्यान की अवस्था समाधि में परिवर्तित हो जाती है।

17.4 स) त्रिबंधों का वैज्ञानिक महत्त्व

बंध एवं मुद्रा ऐसे योग अभ्यास है जो विशेषरूप से नियंत्रित श्वसन के साथ विशेष शारीरिक बंधों एवं विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से किये जाते हैं। बंध एवं मुद्राओं के द्वारा मन का नियंत्रण तथा उच्च योगिक सिद्धियों कीप्राप्ति के लिये आधार तैयार होता है। वस्तुतः बंध एवं ध्यान मूल रूप से प्राणायाम से संबंधित ही है।

बंध तीन प्रकार के होते हैं, यथा 1 मूलबंध 3 उड्डियान बंध 3 जालन्धर बंध

1 मूलबंध

इसका कार्यक्षेत्र मूलाधार चक्र से संबंधित है जो कि गुदा तथा जननन्द्रियों के मध्य स्थित होता है

इससे गुदा तथा जननेन्द्रियों के विकार दूर होते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक होता है।

अर्श–भगन्दर (पाइल्स–फिस्टूला) आदि गुदा के रोग दूर होते है।

प्राण एवं अपान में समत्व भाव पैदा करता है।

कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया का आधार तैयार करता है।

मूलबंध बल–वीर्य में वृद्धि करता है, बूढ़ापे को दूर करता है एवं यौवन बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण है।

2. उड्डियानबंध

इस बंध से प्रौढ़ावस्था दूर होती है।

- युवावस्था बनी रहती है।
- अनाहतचक्र एवं मणिपूरकचक्रदोनों जागृत होते हैं।
- जठराग्नि तीव्र होती है एवं पाचन संस्थान सुधरता है।

पेट के अंगावयव जैसे – यकृत, प्लीहा, वृक्क, अग्नाशय, पित्ताशय आदि मुलायम (कोमल) होते हैं।

3. जालन्धरबंध

- इस बंध से विशुद्धिचक्र जागृत होता है।
- मस्तिष्क को विश्राम मिलता है।
- अहंकार का नाश होता है।
- कण्ठप्रदेश स्वस्थ होता है।
- मनोअवसाद, चिन्ता, तनाव, गुस्सा शांत होता है।
- स्मरण शक्ति बढ़ती है।
- मन की एकाग्रता एवं स्थिरता में सहायक होता है।

बंधों का शाब्दिक अर्थ है बांधना, कसना या नियंत्रण में होना होता है। शरीर को बांध लिया जाता है जिससे प्राणायाम द्वारा प्राप्त ऊर्जा को अन्तर्मुखी किया जाता है। जिससे शक्ति का बर्हिगमन नहीं हो पाता है। बंधों से प्राप्त शक्ति को शरीस्थ अंतरंग अवयवों में वितरण किया जाता है। प्राप्त शक्ति द्वारा अंगों की मजबूती होती है। अंगों की शुद्धि होकर वे निर्मल बनते हैं। सुषुम्ना नाड़ी जागृत होती है। प्राणायाम का विशेष पूर्ण लाभ बंधों द्वारा प्राप्त होता है। त्रिबंधों को एक साथ लगाने को ''महाबंध'' कहते हैं।

17.4 (द) मुद्रा विज्ञान का वैज्ञानिक महत्त्व–

भारतीय संस्कृति''योग विज्ञान'' का अतिवैशिष्ट लिये हुये है। प्राचीन वैज्ञानिक कलाओं के अन्तर्गत ''हस्तमुद्रा विज्ञान'' भी एक विशेष कला है। जिससे पंचतत्त्वों के द्वारा पांचों अंगुलियों से विभिन्न मुद्रायें बनाकर शारीरिक, मानसिक तथा अत्मिक उत्थान रूपी आरोग्यता प्राप्त होती है।

नाम	तत्त्व
अंगूठा	अग्नितत्त्व
तर्जनी	वायुतत्त्व

मध्यमा आकाशतत्त्व
अनामिका पृथ्वीतत्त्व
कनिष्ठा जल तत्त्व
उक्त अंगुलियां संबंधित तत्त्व को इंगित करते हुये रोगों को दूर कर स्वास्थ्य लाभ प्रदान करती हैं।
मुद्रा विज्ञान पूर्णतः अहिंसात्मक चिकित्सा विज्ञान है।
ज्ञानमुद्रा से अनिद्रा, पागलपन, चिड़चिड़ापन, क्रोध, आवेश, स्मरणशक्ति में न्यूनता आदि दूर होती है।
वायुमुद्रा में वातदोष की अधिकताजन्य रोग जैसे – पक्षाघात(लकवा), गठिया, आयवात, सिरदर्द, कम्पन्न, हृदय विकार दूर होते है।
शून्य मुद्रा (आकाशीय मुद्रा) द्वारा कर्ण रोग, बाधिर्य एवं कर्णपीड़ा दूर होती है।
सूर्य मुद्रा द्वारा शरीर का मोटापा, भारीपन कम होता है।
वरूणमुद्रा – इसके द्वारा जलतत्त्व की कमी से होने वाले रोग पथरी, रक्तविकार त्वचा में खुश्की (रूखापन) आदि दूर होता है।
पृथ्वी मुद्रा से शरीर का भार स्थिर रहता है।
प्राण मुद्रा – इसके अभ्यास से कमजोरी दूर होती है, विटामिन्स एवं प्रोटीन की कमी दूर होती है। नेत्र विकार दूर होकर दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है जिससे चश्में तक उतर जाने में सहायता मिलती हैं।
लिंग मुद्रा – इसके अभ्यास से सर्दियों में भी गरमी का अहसास होता है। पुराना नजला–जुखाम आदि दूर होते हैं।

17.5 षटकर्मों का वैज्ञानिक महत्त्व

षटकर्म शरीर के मलशोधनार्थ उपयोग में लिये जाने वाली विशिष्ट विधा का नाम है, जो निम्नानुसार है
1 धौत 2 वस्ती 3 नति 4 नौलि 5 नेति 6 कपालभाति
1 धौति – ये चार प्रकार की होती है
(अ) अन्तर्धौति
(ब) दन्तधौति
(स) हृद धौति
(द)मूलशोधन
(अ) अन्तर्धौति – इसके द्वारा शरीर के अन्दर की सफाई होती है – जाठराग्नि प्रदीप्त होती है।
पेट संबंधी रोग दूर होते हैं।
शंख प्रक्षालन द्वारा कायाकल्प का लाभ प्राप्त होता है।
नवयौवन प्राप्त होता है।
शरीर कांतिमान होकर स्वस्थ होता है।
मुख से जल ग्रहण कर मलद्वार से निष्कासन करने से आंतों की शुद्धि हेतु यह एक वैज्ञानिक पद्धति है।
पेट की शुद्धता होती है जिससे विषाक्त मल दूर होकर कब्जीयत दूर होती है।
उदर के कृमि– कीटाणु एवं विषाक्त वायु दूर होती है।
स्मरण शक्ति तेज होती है।
चेहरे पर तेज बढ़ता है।
रक्त विकार दूर होते हैं।
चिडचिड़ापन, आलस्य, थकान, सुस्ती, काम–क्रोध जैसे विकार दूर होते है।
त्रिदोष (वात पित कफ) सम अवस्थाओं को प्राप्त होते है।
मुंह से लेकर मलद्वार तक महास्रोतस की सफाई होती है।
पेट के कृमि (कीटाणु) नष्ट होते हैं।
अर्श भगन्दर (पाइल्स–फिस्टूला) जैसे गुदा के रोग नष्ट होते हैं।

''अग्निसार धौति'' के द्वारा उदर (पेट) के सभी अंगों की मालिश होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है।
पाचन संस्थान एवं जठराग्नि शक्तिशाली होती है।
शरीर में ओज, तेज, आभा एवं प्रभा बढ़ती है।
जाठराग्नि प्रदीप्त होती है।
पेट संबंधी रोग दूर होते हैं।
शंख प्रक्षालन द्वारा कायाकल्प का लाभ प्राप्त होता है।
नवयौवन प्राप्त होता है।
शरीर कांतिमान होकर स्वस्थ होता है।
मुख से जल ग्रहण कर मलद्वार से निष्कासन करने से आंतों की शुद्धि हेतु यह एक वैज्ञानिक पद्धति है। पेट की शुद्धता होती है जिससे विषाक्त मल दूर होकर कब्जीयत दूर होती है।
उदर के कृमि– कीटाणु एवं विषाक्त वायु दूर होती है।
स्मरण शक्ति तेज होती है।
चेहरे पर तेज बढ़ता है।
रक्त विकार दूर होते हैं।
चिडचिड़ापन, आलस्य, थकान, सुस्ती, काम–क्रोध जैसे विकार दूर होते है।
त्रिदोष (वात पित कफ) सम अवस्थाओं को प्राप्त होते है।
मुंह से लेकर मलद्वार तक महास्रोतस की सफाई होती है।
पेट के कृमि (कीटाणु) नष्ट होते हैं।
अर्श भगन्दर (पाइल्स–फिस्टूला) जैसे गुदा के रोग नष्ट होते हैं।
''अग्निसार धौति'' के द्वारा उदर (पेट) के सभी अंगों की मालिश होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है।
पाचन संस्थान एवं जठराग्नि शक्तिशाली होती है।
शरीर में ओज, तेज, आभा एवं प्रभा बढ़ती है।

उदर के कृमि– कीटाणु एवं विषाक्त वायु दूर होती है।
स्मरण शक्ति तेज होती है।
चेहरे पर तेज बढ़ता है।
रक्त विकार दूर होते हैं।
चिडचिड़ापन, आलस्य, थकान, सुस्ती, काम–क्रोध जैसे विकार दूर होते है।
त्रिदोष (वात पित कफ) सम अवस्थाओं को प्राप्त होते है।
मुंह से लेकर मलद्वार तक महास्रोतस की सफाई होती है।
पेट के कृमि (कीटाणु) नष्ट होते हैं।
अर्श भगन्दर (पाइल्स–फिस्टूला) जैसे गुदा के रोग नष्ट होते हैं।
''अग्निसार धौति'' के द्वारा उदर (पेट) के सभी अंगों की मालिश होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है।
पाचन संस्थान एवं जठराग्नि शक्तिशाली होती है।
शरीर में ओज, तेज, आभा एवं प्रभा बढ़ती है

(ब) दन्त धौति –

दांतों की जड़ें मजबूत होती है
जिह्वा मूल शुद्ध होकर जिह्वा मुलायम होती है।
स्वाद की अनुभूति श्रेष्ठ होती है।
कर्णधौति द्वारा कान की शुद्धता होती है।
कपाल रंध्र धौति द्वारा नाड़ियाँ शुद्ध होकर निर्मल होती है।

(स) हृद धौति

इसमें दण्ड धौति वमन धौति वस्त्र धौति का प्रयोग करने से हृदय का शोधन होता है।
प्रदूषित कफ एवं अम्ल आमाशय से बाहर निकलता है।
व्याघ्र क्रिया द्वारा अपच अन्न को उल्टी द्वारा बाहर निकालने से आमाशय शुद्ध होता

है।
वस्त्र धौति द्वारा गुल्म रोग, प्लीहा रोग, पित्त रोग एवं कब्ज रोग दूर होते हैं।

(द) मूलशोधन

इसे गणेश क्रिया भी कहते हैं।
अपान वायु का निष्कासन होता है।
मलाशय में जमे कठोर मल का निष्कासन होता है।
अजीर्ण दूर होता है।

2 वस्ति

इसके द्वारा प्रमेह का नाश होता है।
उदर रोगों का नाश होता है।
नाड़ियां शुद्ध होती है।
कोष्ठ के दोष दूर होते हैं।

3 नेति क्रिया – यह निम्न 5 प्रकार की होती है –
जलनेति
सूत्रनेति
दुग्ध नेति
घृत नेति
तेल नेति

नेति क्रिया से वैज्ञानिक लाभ

1 कफ संबंधी रोगों का नाश होता है।
2 नेत्र रोगों का नाश होकर दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।
3 आकाशगमन की शक्ति प्राप्त होती है।

4 त्राटक क्रिया के वैज्ञानिक लाभ

1 दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।
2 शारीरिक एवं मानसिक आरोग्यता प्राप्त होती है।
3 बल, ओज एवं तेज बढ़ता है।
4 स्मरण शक्ति एवं एकाग्रता बढ़ती है।
5 आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है।

5 नौलि क्रिया के वैज्ञानिक लाभ

इससे पाचन तंत्र संबंधी विकार गैस, कब्ज, अम्लपित्त (एसिडीटी) दूर होती है।
पेट (उदर) को बढ़ा हुआ मेद (चर्बी) नष्ट होती है।
वात रोगों का शमन होता है।

6 कपाल भाति के वैज्ञानिक लाभ यह

प्राणायाम नहीं अपितु शोधन की विधा है।
सभी प्रकार के बढ़े हुये कफ रोग दूर होते हैं।
चेहरे की झुरियों का नाश होता है।
ग्रीवा के पास लटकी हुयी त्वचा की सिकुडन दूर होती है।
कुण्डलनी जागरण में सहायता मिलती है।
उदर पेट के अवयव यकृत, किडनी, प्लीहा, जननांग आदि स्वस्थ होते हैं।
फुफ्फुसों संबंधी रोग दूर होते हैं।
प्रदूषित वायु के साथ विजातीय द्रव्य बाहर निकलते हैं।
महाप्राचीरा पेशी से उदरांगों का व्यायाम होता है।
नाभि के रोग दूर होते हैं।
पाचन शक्ति बढ़ती है।
शरीर में सुदृढ़ता आती है।
शरीर तेजोमय, आभावान, सुन्दर एवं आकर्षक बनता है।
चेहरे पर ओज एवं कांति बढ़ती है।

17.6 अष्टांग योग का वैज्ञानिक महत्त्व

अष्टांग योग के जीवन के समस्त क्षेत्रों का विकास होता है। ये बहिरंग एवं अंतरंग दो प्रकार का होता है। बहिरंग में 1 यम 2 नियम 3 आसन 4 प्राणायाम 5 प्रत्याहार तथा अंतरंग योग में 6 धारणा 7 ध्यान 8 समाधि का समावेश किया जाता है।

- पांच यमों के द्वारा सामाजिक एवं धार्मिक रूप से जीवन जीने की कला का विकास होता है।
- व्यक्ति के व्यवहार में सामाजिक नैतिक मूल्यों का विकास होता है।
- अंहिसा द्वारा मनसा–वाचा–कर्मणा व्यवहार शुद्ध होता है।
- ''जियो और जीने दो'' का भाव विकसित होता है।
- आपसी वैर कटुता दूर होती है।
- सत्य द्वारा ''क्रिया फल'' का आश्रय भाव बढ़ता है।
- ईमानदार, निष्कपट एवं निष्ठावान व्यक्तित्त्व प्राप्त होता है।
- अस्तेय द्वारा चोरी नहीं करने का संकल्प भाव प्रबल होता है।
- दूसरे के धन को प्राप्त करने की लालसा नष्ट होती है।
- ब्रह्मचर्य द्वारा समस्त इन्द्रियों के विकारों पर संयम द्वारा विजय प्राप्त की जाती है।
- सांसारिक भोगों से दूर रहने की कला का विकास होता है।
- विषय वासनाओं, काम के भोगों से मुक्ति मिलने से शरीर स्वस्थ निर्मल एवं कांतिवान बनता है।
- अपरिग्रह के द्वारा सांसारिक भौतिक सुख सुविधाओं का अन्धाधुंध संग्रह करने की प्रवृत्ति का विनाश होता है।
- नियमों (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान) के द्वारा व्यक्तिगत जीवन श्रेष्ठ बनता है।
- नियमों के पालन करने से ''अथ योगः अनुशासनम्' के सिद्धान्त की परिपुष्टि होती है।
- व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ चरित्रवान एवं आदर्श बनता है।
- आसनों के द्वारा शारीरिक स्वस्थता अर्जित की जाती है।
- आसनों से सम्पूर्ण जीवन काल को स्वस्थ बनाया जाता है।
- आसनों द्वारा शारीरिक कठोरता दूर होकर सम्पूर्ण शरीर में लचकता विकसित होती है।
- प्राणायाम के द्वारा मानसिक शांति, आनन्द एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है।
- प्राणायाम के द्वारा प्राणों का उत्थान एवं विकास होता है।
- प्रत्याहार के द्वारा मानसिक विकास द्वारा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति होती है।
- प्रत्याहार के माध्यम से ही एकादश इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जाती है।
- धारणाा के माध्यम से व्यक्ति का बौद्धिक विकास होता है। साथ ही मन को एकाग्र करने में सहायता प्राप्त होती है।
- ध्यान द्वारा आत्मज्ञान एवं जीवन की यथार्थता का बोध होता है।
- ध्यान द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।
- ध्यान द्वारा वास्तविक सुख शांति एवं आनन्द प्राप्त होता है।
- समाधि के द्वारा अवचेतन मस्तिष्क का विकास होता है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अष्टांग योग द्वारा सर्वप्रथम यम नियमों का पालन करते हुए जीवन के समस्त क्षेत्रों का विकास होता है तथा शारीरिक मानसिक,स्वास्थ्य के साथ–साथ आध्यात्मिक उत्कर्षता को प्राप्त किया जा सकता है।

17.7 आयुर्वेदिक त्रिदोषों का वैज्ञानिक महत्त्व

आयुर्वेदिक त्रिदोष अर्थात् 1.वात 2.पित 3.कफ के सम अवस्थाओं में रहने से ही शरीर स्वस्थ रहता है। त्रिदोषों के बारे में वैद्यक शास्त्र में यह कहा जाता है कि –

''पित्तं पंगुः कफः पंगु पंगवो मल धातवः।
वयुनायत्र नीयन्ते तत्र गच्छति मेघवत्।।

अर्थात् पित्त दोष पंगु (परतंत्र) है तथा कफ दोष भी पंगु (पराधीन) है साथ ही शरीर के मल, मूत्र, पसीना आदि भी पंगु है। वायु के द्वारा ही इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर बादलों के समान ले जाया जाता है। अर्थात् पित्त दोष एवं कफ दोष वायु के अधीन होकर ही कार्य करते हैं।

वातदोष – वात दोष ही त्रिदोषों में बलवान होता है, इसी कारण वायु के सर्वाधिक 80 रोग, पित्त के 40 रोग एवं कफ के सबसे कम 20 रोगों का आयुर्वेद में वर्णन मिलता है।

(i) **वातदोष :**–वायु रजोगुण प्रधान होता है, यह सूक्ष्म, शीत, रूक्ष, हल्का लघु एवं चल अर्थात गतिशील होता है। वातदोष विशेषकर मलाशय, अग्नाशय, हृदय एवं फुफ्फुस सहित समस्त शरीर में गतिमान होता है। वायु के पांच भेद होते है–

1 प्राणवायु
2 समानवायु
3 अपानवायु
4 उदान वायु
5 व्यान वायु

(i) **प्राणवायु मस्तिष्क** –वक्ष प्रदेश (छाती) कण्ठ, जीभ, मुख, नाक सहित हृदय में रहकर इन अवयवों को कार्यों में प्रवृत्त करता है। मस्तिष्क में रहने वाला वायु मन का नियन्ता एवं प्रणेता है। सभी इन्द्रियों को अपने अपने कार्य में प्रवृत्त करता है। यह प्राणवायु ही जीवित शरीर का धारण करता है। नाभि से चलता हुआ हृदय को स्पर्श करते हुये फुफ्फुसों में जाकर श्वास नासिका में आता है, वस्तुतः यही प्राण वायु है।

(ii) **अपान वायु** –दोनों अण्डकोषों, मूत्राशय, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदा में अपान वायु स्थित होता है। यह अपान वायु ही शुक्र, मल, मूत्र, आर्तव एवं गर्भस्थ शिशु को बाहर निकालता है।

(iii) **समानवायु** – यह नाभि प्रदेश में रहता है तथा पाचन संबंधी जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

(iv) **उदारवायु** – यह कंठ प्रदेश में रहता है तथा वाणी को निकालना, उत्साह बढना, बल एवं वर्ण को बनाये रखने में सहयोग करता है।

(v) **व्यानवायु** – इसका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। सम्पूर्ण शरीर में गति उत्पन्न करना, अंगों को सिकोड़ना, फेलाना शरीर में खिंचाव उत्पन्न करना, पलकों को झपकना, (खोलना एवं बंद करना) आदि इसके कार्य है।

जब ये पांचों प्रकार के वायुदोष अधिक या न्यून मात्रा में होते हैं तो रोग उत्पन्न करते है।

इन्हें आयुर्वेदिय पंचकर्म या यौगिक षट्कर्मों द्वारा शोधनकर सम अवस्था में लाया जाता है। योगियों के द्वारा साधकों को आसन एवं प्राणायाम द्वारा इन बढ़े हुये त्रिदोषों का शमन कर उन्हें सामान्य अवस्था में लाने की वैज्ञानिक विधा है। इसी कारण आज त्रिदोषों को समावस्था में लाने के लिए अष्टांग योग का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व बढ़ रहा है।

2 पित्त दोष – स्वभाविक रूप से पित्तदोष उष्ण (गरम) पीला, नीला, द्रव (पतला–तरल) खट्टा होता है। यह भी पाँच प्रकार का होता है –

पाचक पित्त
भ्राजक पित्त
आलोच पित्त

साधक पित्त
रंजक पित्त

(i) पाचक पित्त– भोजन को पचाने का कार्य करता है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। विशेषकर ''अग्नाशय'' में रहता है।

(ii) भ्राजक पित्त– यह शरीर का वर्ण (रंग) निखारता है, तथा सम्पूर्ण त्वचा में स्थित होता है। आधुनिक विज्ञान में त्वचा में स्थित ''मेलेनिन'' को भ्राजक पित्त मानते हैं

(iii) रंजक पित्त– यकृत में स्थित पित्त जो पित्ताशय में रहता है। भोजन के पाचनोंपरान्त यह आहार रस को रक्त में परिवर्तित करने का कार्य करता है।

(iv) साध पित्त– यह हृदय में रहता है। शरीर में उत्साह, धैर्य, दृढ़निश्चित का कार्य करता है।

(v) आलोचक पित्त– यह दर्शन अर्थात् देखने का कार्य करता है, दोनों नेत्रों में रहता है।

(3) कफ दोष – कफ दोष पाँच प्रकार का होता है, यथा 1 क्लेदन 2 तर्पक 3 बोधक 4 अवलम्बक 5 श्लेष्मक

कफदोष – स्निग्ध, गुरू(भारी) श्वेत, पिच्छिल (चिपचिपा) शीतल, तमोगुणी और मीठा (मधुर) होता है। पांचों प्रकार का कफ आमाशय में क्लेदन, मस्तिष्क में तर्पक कंठ या जिह्वा में बोधक (रसन रूप में) संधियों में श्लेष्क तथा हृदय में अवलम्बक के रूप में होता है। सामान्यतया कफ के विपरीत गुणधर्म द्वारा जैसे लघु, उष्ण, कठिन, रूक्ष, कटु, चल गुण तथा सौंठ, कालीमिर्च, पीपल, पीपलामूल, चित्रक, जीरा, हरिद्रा (हल्दी) इलायची, अजवायन आदि द्रव्यों द्वारा बढ़ा हुआ कफ दोष शान्त होता है।

आयुर्वेद का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से सटीक है कि ''रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाममयंमरोगता'' अर्थात् त्रिदोषों का शरीर में विषमावस्था में रहना ही रोग एवं त्रिदोषों का सम अवस्था में रहना ही निरोगता (आरोग्यता) है। जिस प्रकार शारीरिक त्रिदोष 1. वात 2. पित 3. कफ माने जाते हैं, उसी प्रकार मन को दूषित करने वाले भी दो मानस दोष रज एवं तम माने गये हैं।

आयुर्वेद विज्ञान के आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि ''दोष धातु मलमूलं हि शरीरम्'' अर्थात् त्रिदोष, सप्तधातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र) तथा मल ये शरीर के बाल्यकाल से वृद्धावस्थापर्यन्त समस्त अहर्निश क्रियायें सभी त्रिदोष रूपी क्रियाशीलतत्त्व पर आधारित है। वातदोष द्वारा सम्पूर्ण शरीर में स्पन्दनरूपी क्रियायें गतिशील होती है। ''सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीर स्पन्दनम्'' वातदोष का लक्षण है।

दोषवैषम्य की स्थिति छः क्रियाकाल से गुजरते हुये रोगों को उत्पन्न करती है। ये इस प्रकार है –

1 संचय अवस्था
2 प्रकोप अवस्था
3 प्रसर अवस्था
4 स्थान संश्रय अवस्था
5 व्यक्त अवस्था
6 भेद अवस्था

सभी रोगों के होने के तीन प्रमुख कारण है यथा 1 असात्म्येन्द्रियार्थ
2 प्रज्ञापराध
3 परिणाम

(1) असात्म्येन्द्रियार्थ का तात्पर्य इन्द्रियों का अपने विषयोंसे हीनयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग का होना है। पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं पांचकर्मेन्द्रियों का अपने अपने विषयों से समावस्था में संयोग होने से रोग उत्पन्न नहीं होतेहैं।

(2) **प्रज्ञापराध –**

धी (बुद्धि), धृति (धारण एवं नियमन शक्ति) तथा स्मृति के भ्रंश होने से मनुष्य जो अशुभ कर्म करता है, उसे ''प्रज्ञापराध'' कहते हैं। उदाहरण के लिये जितने भी प्रकार के

व्यसन गुटका, मद्य (शराब), सिगरेट आदि पर वार्निंग (चेतावनी) लिखी रहती है कि इनके सेवन से मुंह, गला, लीवर (यकृत) आदि में कैंसर जैसे रोग हो जाते हैं फिर भी सेवन करने वाला व्यक्ति उसे पढ़कर भी उसका सेवन करना समाप्त नहीं करता है, उसे बुद्धि का अपराध अर्थात् जानबूझकर समझते हुये भी उस असेवित व्यसन सामग्री का उपयोग करना, प्रज्ञापराध कहलाता है, जो कि रोगोत्पत्ति का दूसरा सबसे बड़ा कारण है।

3 परिणाम

परिणाम अर्थात् ऋतु (काल) दो होते हैं 1 उत्तरायणकाल 2 दक्षिणाकाल।

प्रत्येक काल में तीन तीन कुल 6 ऋतुऐं होती है। उत्तरायणकाल में 1 शिशिर 2 वसन्त 3 ग्रीष्म तथा दक्षिणायन काल में 4 वर्षा 5 शरद 6 हेमन्त इस प्रकार से क्रमशः ऋतुऐं होती है। इन ऋतुओं में निर्धारित आहार विहार का सेवन नहीं करने से भी रोगोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद शास्त्र में तीन प्रकार की चिकित्सा विधियां वर्णित की गयी है –

1 दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
2 युक्तियपाश्रय चिकित्सा
3 सत्वावजय चिकित्सा

(1) **दैवव्यपाश्रय चिकित्सा –** आयुर्वेद की इस चिकित्सा के अन्तर्गत मंत्र बलि, मंगलकर्म, स्वस्तिवाचन, स्वस्तिवाचन मणि धारण तथा औषधीय द्रव्यों से हवनादि का प्रयोग किया जाता है।

(2) **युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा** – इस चिकित्सा के अन्तर्गत औषधि आहार विहार को सेवन, संशोधन एवं शमन चिकित्सा, पंचकर्म, षट्कर्म चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

(3) **सत्त्वावजय चिकित्सा –** इसके अन्तर्गत अहित अर्थों से मन के निग्रह करने के उपाय वर्णित है।

दिनचर्या–ऋतुचर्या, आदान काल, विसर्ग काल आदि के माध्यम से त्रिदोषों को साम्यावस्था में लाने के प्रयोग किया जाता है। जीवन के कर्मक्षेत्र में तृष्णा। आसक्ति का बढ़ना ही रोग दुःख–कष्ट आदि को बढ़ाता है। सत्त्वावंजय चिकित्सा के अन्तर्गत सत्त्व अर्थात मन को अनासक्त–तृष्णारहित बनाने के उपाय है जो कि वास्तविक रूप से रज, तम आदि मानस दोषों को दूर कर परममुक्ति का उपाय बतायाहै।

17.8 आयुर्वेदिक पंचमहाभूत, पंचकर्म एवं पथ्यापथ्य का वैज्ञानिक महत्त्व

आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान को यह वैज्ञानिकता है कि स्वास्थ्य के लिये समुचित आहार आवश्यक है। अर्थात् आहार ही औषधि है। मानव शरीर एवं आहार, ये दोनों ही पाञ्चभौतिक है। आहार से शरीर का पोषण – विकास एवं कोशिकाओं के टूट फूट की मरम्मत आदि होती है। पथ्य विशेष रूप से शरीर के दोष एवं धातुओं का सम्पोषण करते है।

हमारा स्थूल अन्नमय शरीर पंचतत्त्वों से बना है, यथा –

1 आकाश महाभूत
2 वायु महाभूत
3 अग्नि महाभूत
4 जल महाभूत
5 पृथ्वी महाभूत

शरीर में पाँच कर्मन्द्रियाँ एवं पांच ज्ञानेन्द्रियां निम्नानुसार होती है जिससे –

(A) पांच कर्मेन्द्रियां –

1 हस्तेन्द्रिय
2 पादेन्द्रिय
3 वागेन्द्रिय
4 मूत्रेन्द्रिय

5 गुदेन्द्रिय

(B)पंच ज्ञानेन्द्रियां

1 चक्षुनेन्द्रिय
2 रसनेन्द्रिय
3 घ्राणेन्द्रिय
4 कर्णेन्द्रिय
5स्पर्शेन्द्रिय

पंचमहाभूत – आकाश तत्त्व शरीर के कोषाणुओं के मध्य होता है। शरीर के समस्त खोखले (पोले) अंगावयव आकाश तत्त्व से निर्मित होते हैं।

पंचमहाभूतों के मानसिक गुण –

पंचमहाभूत	मानसिक गुण
1. आकाश	सत्वगुण प्रधान
2. वायु	रजोगुण प्रधान
3. अग्नि	सत्व एवं रजोगुण प्रधान
4. जल	सत्व एवं तमोगुण प्रधान
5. पृथ्वी	तमोगुण प्रधान

सम्पूर्ण सृष्टि के समस्त द्रव्य पांचभौतिक होते हैं। पंचमहाभूत की किसी द्रव्य में अधिकता तो किसी में न्यूनता होती है। मानव शरीर में जिस महाभूत की कमी हो जाती है उसी महाभूत प्रधान द्रव्यों/औषधियों का सेवन कराके उसकी पूर्ति की जाती है। पंचमहाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज वायु एवं आकाश है। इनकी न्यूनाधिक मात्रा में त्रिदोष तथा सप्तधातुओं में उपस्थिति रहती है।

1. पंचकर्म का वैज्ञानिक नाम

आयुर्वेद शास्त्र में पंचकर्म ये है–

1 वमन कर्म 2. विरेचन कर्म 3. अनुवासन वस्तिकर्म
4 निरूह वस्तिकर्म 5. नस्यकर्म

पंचकर्म का उद्देश्यः–

* ''स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्'' स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का रक्षण करने हेतु
* ''आतुस्य विकरोपशमन्'' बीमार के रोगों का ना''ा करने के लिये
* ''रसायनवाजीकरण गुण प्राप्त्यर्थम्'' रसायन–वाजीकरण एवं असाधारण स्वास्थ्य वर्धक गुण प्राप्ति के लिये।

दैनिक जीवन में पंचकर्मः– नस्यकर्म, मात्रावस्ति, कर्णपूरण, दन्तमंजन, स्नान, अभ्यंग, शिरोअभ्यंग, नाभि में तेल लगाना, पादतल में अभ्यंग (तेल मालिश), शिरोधारा, शिरोवस्ति आदि।

ऋतुचर्या में उपयोगी पंचकर्मः– ग्रीष्मादि ऋतुओं में अलग–अलग दोष वात–पित्त–कफ का संचय–प्रकोप एवं प्रशमन होता है। बढ़े हुए त्रिदोषों में वातदोष को बस्ति के द्वारा, पित्तदोष को विरेचन द्वारा कफदोष को वमनकर्म द्वारा शोधन करते हैं।

अधारणीय वेगों में पंचकर्मः–वात (अपानवायु) मल–मूत्रादि तेरह प्रकार के वेगों के धारण करने से रोग उत्पन्न होते हैं अतः पंचकर्म के द्वारा वेगों के स्वमार्ग से निर्हरण करने हेतु शोधन क्रियायें की जाती है।

रसायन–वाजीकरण हेतु पंचकर्मः– रसायन सेवन से शरीर सुदृढ़ होता है, ऊर्जावान बनता है, वाजीकरण सेवन से यौवन बढ़ता है एवं श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति होती है। अतः रसायन–वाजीकरण की फलप्राप्ति के पूर्व पंचकर्म द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है।

जनपदोध्वंस में पंचकर्मः– आपदा–महामारी फैलने पर, संक्रामक रोगों के विनाश हेतु देश–वायु–जल प्रदूषित होने पर जनसमूह में महामारियाँ फैलने पर पंचकर्म से शोधन

क्रियाकर रसायन सेवन कराते हैं, जिससे रोगप्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है एवं जनहानि से बचाया जाता है।

रोगों के जड़मूल नाष हेतु पंचकर्मः– पंचकर्म द्वारा शोधन की क्रियाओं से शरीर के प्रदूषित वात–पित्त–कफ दोष, मलों आदि का निष्कासन होने से औषध अधिक कार्यकारी होती है तथा रोग पुनः पुनः नहीं होते हैं तात्पर्य यह हैं कि रोगों का जड़मूल नाश होता है।

विष चिकित्सा में पंचकर्म– विषों का सेवन से मृत्यु निश्चित होती है ऐसे में पंचकर्म द्वारा शोधनविधि से विषों को शरीर से बाहर निकालकर रोगी के प्राण बचाये जाते है।

पंचकर्म की श्रेष्ठताः– स्वास्थ्य संरक्षण में शोधन एवं शमन दो प्रकार की चिकित्सा की जाती है। आचार्य चरक ने शोधन चिकित्सा को योग के षट्कर्मो की तरह श्रेष्ठ चिकित्सा मानते हुए अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा में सर्वप्रथम पंचकर्म चिकित्सा का उल्लेख किया है।

पथ्य एवं अपथ्य का वैज्ञानिक महत्त्व

शरीर के लिये हितकर या अनुकूल आहार को ''पथ्य'' एवं शरीर के लिये अहितकर या प्रतिकूल आहार को ''अपथ्य'' कहा जाता है। शरीर के पथ्य (मार्ग) के लिये जो लाभकारी हो, मन को प्रिय लगे वह पथ्य कहलाता है। जो भी द्रव्य शरीर के मार्ग स्त्रोतस आदि के अनुकूल हितावह हो वह पथ्य कहलाते है। पथ्य एवं अपथ्य को प्रभावित करने वाले निम्न छः प्रधान घटक है । यथा –

1 मात्रा (Measure)
2 काल (Time)
3 क्रिया (Mode of Pre paration)
4 भूमि (देश, आतुर) (Habitat)
5 देह (Constitution)
6 दोष (Morbid humours)

मानसिक भाव यथा– दुःख, भय, क्रोध, चिन्ता आदि भी अपथ्य की श्रेणी में आते हैं। पथ्यापथ्य के संबंध में आयुर्वेद शास्त्र में आचार्य चरक ने अष्ट आहार विधि विशेषायतन का वर्णन निम्न प्रकार से किया है, यथा –

1 प्रकृति (Natural quality)
2 करण (संस्कार) (Prefarations)
3 संयोग (Combinations)
4 राशि (Quantum)
5 देश (Habitat and Climate)
6 काल (Time factor and disease state if any)
7 उपयोग संस्था (Rules of Use)
8 उपभोक्ता (User)

पथ्य के संदर्भ में 10 महत्त्वपूर्ण तथ्य निम्न प्रकार से है, यथा –

उष्ण एवं ताजा आहार का सेवन
स्निग्ध आहार का सेवन
मात्रावत् आहार का सेवन
भोजन पूर्ण पाचनोपरान्त ही आहार का सेवन
वीर्यविरूद्ध आहार का असेवन
ईष्ट देश एवं इष्ट सामग्रियों के साथ आहार का सेवन
द्रूतगति (तेज) से आहार का असेवन
अधिक देर तक आहार का असेवन
बोलते हुये, हंसते हुये, आहार का असेवन
शांतिपूर्वक मन लगाकर सम्यक् स्वयं की समीक्षाकरते हुए आहार का सेवन करना चाहिये।

17.9 आयुर्वेदिक दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं सदवृत्त का वैज्ञानिक महत्त्व

दैनिक जीवन में प्रतिदिन किया जाने वाला आहार, विहार एवं चेष्टा जो कि स्वयं के लिये हितकर हो उसे दिनचर्या कहते है। दिनचर्या के अन्तर्गत संक्षेप में 17 तत्त्व निम्नानुसार है।

(A) दिनचर्या

1 प्रातःकाल ब्रह्ममुर्हुत में जागरण
2 उषाःपान का सेवन
3 मलोत्सर्ग विधि
4 दन्तधावन
5 जिह्वा निर्लेखन
6 मुख प्रक्षालन
7 अंजन कर्म
8 नस्य कर्म
9 कवल एवं गण्डूष धारण
10 धूम्रपान सेवन
11 ताम्बूल (पान) का सेवन
12 अभ्यंग
13 व्यायाम
14 शरीर परिमार्जन
15 स्नान
16 अनुलेपन,
17 वस्त्रादि धारण

आहार का सेवन आदि इन सभी का समावेश किया जाता है।

(B) रात्रिचर्या का पालन – इसके अन्तर्गत संध्याकालीनचर्या से लेकर भोजन, मैथुन, ब्रह्मचर्य एवं निद्रा आदि का शास्त्र के अनुसार पालन करना आता है।

(C) ऋतुचर्या – काल परिणाम का एक निश्चित समय भाग ऋतु कहलाता है, उस ऋतु में की जाने वाली चर्या को ''ऋतुचर्या'' कहते हैं। निर्धारित ऋतु में शास्त्र सम्मत किये जाने वाले आहार विहार को ''ऋतुचर्या'' कहते है। आयुर्वेद के अनुसार ''पुरूषोऽयंलोकसम्मितः'' अर्थात् जो भाव संसार में है वही भाव इस शरीर में भी स्थित है। ऋतुपरिवर्तन के समय शरीर में भी त्रिदोष, सप्तधातु एवंमलों की स्थिति में भी परिवर्तन होता है।

शास्त्रोक्त ऋतुचर्या के पालन से शरीरस्थ दोष धातु एवं मलों की स्थिति साम्यावस्था में रहती है। आदानकाल एवं विसर्ग काल की 12 महिनों की 6 ऋतुओं के अनुसार दोषादि की स्थिति को ध्यान में रखते हुये किये जाने वाले आहार–विहार से आरोग्यता प्राप्त होती है। ऋतुसंधि अर्थात 14 दिवस का समय के अनुसार भी आहार विहार का ऋतु के अंतिम सप्ताह में शनैःशनैः त्याज्य एवं आने वाली ऋतु के प्रथम सप्ताह में शनैःशनैः निर्धारित आहार विहार के सेवन से रोग नहीं होते हैं। इस प्रकार ऋतुचर्या के पालन से व्यक्ति स्वस्थ एवं निरोग रहता है।

आयुर्वेद के महान् आचार्य भाव प्रकाश ने ''हरीतकी'' अर्थात् हरड़े का भी ऋतु के अनुसार 6 प्रकार के अनुपान के साथ सेवन करने का विधान वर्णित किया है जिससे सभी रोगों का शत्रू के समान नाश करने में हरीतकी रसायन के रूप मे सक्षम होती है।

आदानकाल की ऋतुयें

ऋतु	अनुपान
शिशिर	पिप्पली
वसन्त	मधु(शहद)
ग्रीष्म	गुड़

विसर्गकाल की ऋतुयें

वर्षा	सैन्धव
शरद	शक्रा
हेमन्त	शुण्ठी (सोंठ)

क्र.सं.	दोष	संचय	प्रकोप	प्रशमन
1	वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद
2	पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त
3	कफ	शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म

1 ऋतुचर्या में त्रिदोषों की स्थिति

क्र.सं.	दोष	संचय	प्रकोप	प्रशमन
1	वात	ग्रीष्म	प्रावट्(एवं वर्षा)	शरद
2	पित्त	वर्षा	शरद्	हेमन्त
3	कफ	शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म

2 ऋतुचर्या में त्रिदोषों की स्थिति संशोधन के अनुसार

क्र.सं.	दोष	ऋतु	शोधन विधि
1	वात	प्रावट् एवं वर्षा	वस्ति
2	पित्त	शरद्	विरेचन
3	कफ	वसन्त	वमन

3 ऋतु के अनुसार त्रिदोष शोधन ऋतु एवं शोधन विधि (पंचकर्मानुसार)

(D) सद्वृत का वैज्ञानिक महत्त्व

सत्पुरूषों (सज्जनों) द्वारा किया गया आचरण सद्वत्त कहलाता है। सद्वृत्त के पालन से व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन में श्रेष्ठता आती है। सद्वृत्त के पालन से आत्म कल्याण, शरीर का कल्याण, मन का कल्याण तथा आत्मा का कल्याण होता है। सद्वृत्त का पालन करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जाती है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक आरोग्यता प्राप्त होती है।

1 असात्म्यइन्दियार्थ 2 प्रज्ञापराध 3 परिणाम (काल) पर इन्द्रियों का संचय आदि द्वारा नियंत्रित होता है। सद्वृत्त के अन्तर्गत धार्मिक करणीय एवं अकरणीय कार्य सामाजिक करणीय एवं अकरणीय कार्य, मानसिक करणीय एवं अकरणीय कार्य, चरित्र संबंधी करणीय एवं अकरणीय कार्य, स्वच्छता संबंधी करणीय एवं अकरणीय कार्य, आहार संबंधित, व्यायाम संबन्धित, मैथुन (सम्भोग) संबंधित, अध्ययन संबंधित, कार्य (व्यवसाय) से संबंधित करणीय एवं अकरणीय कार्यों का वर्णन समाहित है। इसी प्रकार मनसा, वाचा एवं कर्मणा आचार रसायन का पालन करने से भी रसायनवत शरीर में स्वास्थ्यानुकूल प्रभाव पड़ता है।आचार रसायन एवं सद्वृत्त के पालन से शरीर एवं मन दोनों स्वस्थ होते हैं।

रज एवं तम दोषों की निरन्तर अभिवृद्धि त्रिदोषों को प्रकुपितकर रोग उत्पन्न करती है, जिससे मनोदैहिक रोग यथा – उच्चव्यान (उच्च रक्तचाप) मधुमेह, अम्लपित्त, पेप्टिक अल्सर जैसे शारीरिक रोग तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, विषाद, दुख आदि मानसिक भावों से मानसिक ज्वर, उन्माद, अपस्मार (मिर्गी) आदि मनोदैहिक रोग उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार आयुर्वेदिक वैद्यक शास्त्र के अन्तर्गत सद्वृत्त पालन, आचार रसायन पालन, दशधविपापकर्म, धारणीय, अधारणीय वेग, त्रिदोष, पंचमहाभूत, सप्तधातु आदि का वर्णन मिलता है।

दिनचर्या का पालन, ऋतुचर्या का पालन, उचित आहार विहार, सद्वृत्त पालन, अधारणीय वेगों का त्याग एवं धारणीय वेगों का धारण करना आदि स्वास्थ्य संरक्षण एवं रोग निवारण की दृष्टि से वैज्ञानिक उपाय है। वर्तमान परिदृश्य में ''स्वच्छ भारत स्वस्थ भारत'' की परिकल्पना, विद्यालयीन स्वास्थ्य कार्यक्रम, पर्यावरण, वृक्षारोपण, भूमि, जल एवं वायु प्रदूषण से मुक्ति के कार्यक्रम, औद्योगिक स्वास्थ्य के कार्यक्रम, गंदे रसायनों युक्त अपद्रव्यों के निवारण हेतु कार्यक्रम, संक्रामक रोग, डेंगू, चिकनगुनिया, स्वाइनफ्लू आदि उन्मूलन हेतु कार्यक्रम, योग द्वारा व्यक्तिगत, पारिवारिक सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वैश्विक स्वास्थ्य की परिकल्पना को साकार करने हेतु 21 जून को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में मनाना स्वास्थ्य प्राप्ति में भारतीय योग एवं आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को प्रमाणित करता है।

योग द्वारा चार स्तरों पर लाभ होता है। ज्ञानयोग द्वारा मन पर, कर्मयोग के द्वारा शरीर पर, मुक्ति योग के द्वारा भावनाओं पर एवं क्रियायोग के द्वारा ऊर्जा के स्तर पर योग का प्रयोग किया जाता है।

17.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत योग एवं आयुर्वेदिक पद्धतियों का वैज्ञानिक महत्त्व का वर्णन किया गया है। जिसमें योगासनों, प्राणायाम, त्रिबंधों एवं मुद्राविज्ञान का वैज्ञानिक वर्णन किया गया है। योग के षट्कर्म, अष्टांग योग की वैज्ञानिक वर्तमान संदर्भ में विवेचना की गयी है। भारतीय प्राचीन चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त, पंचमहाभूत का सिद्धान्त, पथ्यापथ्य की विवेचना, आयुर्वेदिक दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त, आचाररसायन का वैज्ञानिक महत्त्व शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति की दृष्टि से वर्णन किया गया है।

17.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- चरक संहिता – पं. काशीनाथ शास्त्री
- प्राणायाम संहिता – आयुर्वेदरहस्य, दरियागंज, दिल्ली
- हठयोग प्रदीपिका – स्वामी दिगम्बर डॉ. पीताम्बर झा
- सद्वृत्त विज्ञान – डॉ. रामहर्ष सिंह
- सम्पूर्ण योग विधा – राजीव जैन ''त्रिलोक''
- पंचकर्म विज्ञान – वैद्या अंजना शर्मा, कोटा (राज.)
- पातंजलयोगदर्शन – वैद्य नित्यानन्द शर्मा, कोटा (राज.)

17.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. योग एवं आयुर्वेदिक पद्धतियों का वैज्ञानिक महत्त्व की विस्तार पूर्वक चर्चा करें।

इकाई – 18 स्वास्थ्य संरक्षण में योग एवं आयुर्वेद की भूमिका

18.1. प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 स्वास्थ्य संरक्षण की विवेचना
18.4. स्वास्थ्य संरक्षण में योग की भूमिका
18.5 स्वास्थ्य संरक्षण में आयुर्वेद की भूमिका
18.6. स्वास्थ्य संरक्षण में संतुलित एवं शाकाहार की भूमिका
18.7. स्वास्थ्य संरक्षण में पंचकर्म की भूमिका
18.8. स्वास्थ्य संरक्षण में सूर्य नमस्कार की भूमिका
18.9. सारांश
18.10 अभ्यास हेतु प्रश्न
18.11 सन्दर्भ ग्रंथ

18.1 प्रस्तावना :–

स्वास्थ्य रोग विहीन शरीर को मानते हैं। शरीर मन तथा शरीर के परस्पर विभिन्न अंगों का आपस में तालमेल बनाते हुये एकरूपता में व्यवस्थित कार्य करना ही स्वास्थ्य है। आज प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार के तौर तरीके अपनाता है। रोगों की अनुपस्थिति ही स्वास्थ्य कहलाती है। किसी भी व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण स्वस्थ होने की अवधारणा हीस्वास्थ्य है। आज चिकित्सा विज्ञान का सारा ध्यान रोग मिटाने में लगा हुआ है, दिन–प्रतिदिन अनुसंधान हो रहे हैं, मशीनों–उपकरणों की बढ़ती हुयी अस्पतालों एवं डॉक्टरों की संख्या के बावजूद भी रोगियों की संख्या में काफी वृद्धि हो रही है। आवश्यकता इस बात है कि स्वास्थ्य के नीतिनिर्माता स्वास्थ्य के संरक्षण हेतु स्वास्थ्य की चिंता कर व्यक्ति को बीमार ही न होने दे, इस विषय पर गम्भीर सार्थक प्रभावी योजनायें बनायें तो ज्यादा समसामयिक होगा।

स्वास्थ्य संरक्षण में योग एवं आयुर्वेद की भूमिका आज विश्वभर में सर्वविदित है। आज रोग केन्द्रित न होकर स्वस्थ व्यक्ति के भी स्वास्थ्य संरक्षण हेतु दैनिक योगाभ्यास, दैनिक प्राणायाम, दैनिक ध्यान, दैनिक सूर्यनमस्कार, एवं आयुर्वेद की दिनचर्या, संध्याचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या के अनुसार आहार–विहार आदि की आवश्यकता है। योग–आयुर्वेद द्वारा समस्त शारीरिक एवं मानसिक परेशानियों एवं कष्टों का अभाव वाली स्थिति प्राप्त होती है, इसे ही आरोग्यता कहते हैं। स्वास्थ्यानुवर्तन हेतु (1) वायु, (2) जल, (3) आहार, (4) सूर्यप्रकाश, (5) शारीरिकश्रम, (6) गहरी निद्रा, (7) प्रसन्नता, (8) आशावादी, (9) अपथ्य एवं विरूद्ध आहार का परित्याग करना सकारात्मक विचार एवं (10) मनोदृढ़ता आदि मूलभूत दस आवश्यकतायें न्यूनतम होती ही है।

18.2 उद्देश्य :–

इस इकाई में हम अध्ययन करेंगे कि
स्वास्थ्य संरक्षण की विवेचना

स्वास्थ्य संरक्षण में योग की भूमिका
स्वास्थ्य संरक्षण में आयुर्वेद की भूमिका
स्वास्थ्य संरक्षण में संतुलित एवं शाकाहार की भूमिका
स्वास्थ्य संरक्षण में पंचकर्म की भूमिका
स्वास्थ्य संरक्षण में सूर्य नमस्कार की भूमिका।

18.3 स्वास्थ्य संरक्षण की विवेचना :–

(अ)मानव जीवन में उत्तमता के साथ जीवन जीने के लिये स्वास्थ्य प्राप्त करना अत्ति आवश्यक है। स्वास्थ्य के अभाव में शरीर एवं मन तथा आध्यात्मिक उन्नति सम्भव ही नहीं है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) ने भी स्वास्थ्य के परिप्रेक्ष में पांच स्तरों को परिलक्षित किया है, यथा –

I. शारीरिक स्वास्थ्य
II. मानसिक स्वास्थ्य
III. सामाजिक स्वास्थ्य
IV. भावनात्मक स्वास्थ्य
V. आध्यात्मिक स्वास्थ्य

(W.H.O.) के अनुसार Health is a state of complete physical, mental, social and spritual well being and not only he absence of desease or infermity.

''स्वास्थ्य पूर्णरूपेण शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यत्मिक स्वास्थ्य की कुंजी है।''
''जब कोई व्यक्ति मानसिक रोगों से पीड़ित होता है, तो उसे मानसिक रूप से अस्वस्थ कहा जाता है।''
''जब कोई व्यक्ति समाज के सभी क्षेत्रों में संतुलित संतुलन का समन्वय नहीं कर पाता तो उसे सामाजिक रूप से अस्वस्थ कहा जाता है।''
''जब कोई व्यक्ति अपने भावों पर नियन्त्रण नहीं कर पाता तो उसे भावनात्मक रूप से अस्वस्थ कहा जाता है।''
''जब कोई व्यक्ति दुराचारी या व्यभिचारी हो जाता है, स्व नियत्रंण में नहीं रह पाता, पापाचरण में लिप्त रहता है, तो उसे आध्यात्मिक रूप से अस्वस्थ कहा जाता हैं।''
''स्वास्थ्य जीवन रूपी फूल में शहद के समान है।''
''स्वास्थ्य मानव का जन्म सिद्ध अधिकार है।''
''स्वास्थ्य मानव जीवन की अमूल्य निधि है, अर्थात् उत्तम स्वास्थ्य ही परम् धन है।''
स्व में स्थित होना ''स्वास्थ्य'' माना गया है।
''स्वास्थ्य के द्वारा, परिवार, पड़ौसी, नगर, समुदाय तथा राष्ट्र के प्रति ही व्यक्ति सेवायें देने में समर्थ रहता है।''
''स्वास्थ्य के द्वारा ही मानव समाज, समुदाय एवं स्वस्थ राष्ट्र का मजबूत आधार होता है।''
''स्वास्थ्य ही प्रत्येक मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यनत उसके साथ प्रतिपल रहता है जो जीवन रूपी खिले पुष्प में अमृत के समान है।''
'' व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि व मानसिक विकास की श्रेष्ठ अवस्था उत्तम स्वास्थ्य का प्रतीक है।''

''स्वास्थ्य जीवन का वह गुण है जो व्यक्ति को दीर्घायु व सर्वोत्तम सेवा करने योग्य बनाता है।'' (जे.एम.विलियम)

''शरीर में वात–पित्त–कफ की समान अवस्था एवं परस्पर संतुलन ही उत्तम स्वास्थ्य है।'' (आयुर्वेद)

''स्वास्थ्य शरीर की वह समुचित अवस्था है, जिसमें शारीरिक एवं मानसिक रूप से सर्वाधिक कार्य करने की पूर्ण क्षमता हो।''

''पहला सुख निरोगी काया'' है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा निवास करती है तथा ''शरीर माद्यमम् खलु धर्म साधनम्'' को माना है।

''स्वास्थ्य का अर्थ केवल शरीर की ''रोगमुक्त अवस्था'' ही नहीं है अपितु वह ''शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सम्पन्नता'' की स्थिति है।

''स्वास्थ्य शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से प्रसन्नता की अवस्था है।''

''कोई मनुष्य उसी समय तक स्वस्थ कहा जा सकता है जब तक कि उसके शरीर के सभी अंग या उपांग अपने कर्त्तव्यों का ठीक से पालन करते रहें। शरीर के अंगावयवों में किसी प्रकार का विकार चाहे वह स्थायी हो या अस्थायी रोग कहलाता है।''(आधुनिक चिकित्सा विज्ञान)

'' स्वास्थ्य'' व्यक्ति के जीवन के सभी निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति हेतु आवश्यक है, जिससे जीवन में ऐसी गुणवत्ता आती है, जो व्यक्ति को अधिक से अधिक जीवन जीने एवं बेहतरीन ढ़ंग से समाज राष्ट्र के काम आने के योग्य बना सके।

(ब) स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले चार घटक प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्थ्य को निम्न चार घटक प्रभावित करते हैं, यथा–

(i) पैतृक स्वास्थ्य (ii) पारिवारिक (आर्थिक स्थितिरूपी) स्वास्थ्य

(ii) वातावरणरूपी स्वास्थ्य (iv) स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता

(A) (ii) शिक्षा के क्षेत्र में स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा 21 सूत्रीय लक्ष्य का विकास करना–

स्वस्थ वातावरण (स्वच्छता एवं अधिकाधिक पेड़ लगाना)

भोजन एवं शुद्ध जल की उपलब्धता विकसित करना

स्वास्थ्य आधारित शिक्षा के कार्यक्रम बनाना

शौचालय, जल एवं शुद्ध वातावरण की उपलब्धता करना

स्वास्थ्य संरक्षण हेतु साधनों को विकसित करना

गुरू एवं शिष्य तथा रोगी एवं चिकित्सक के मधुर सम्बन्धों को बनाये रखना

शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के कार्यक्रमों का विकास करना

स्वास्थ्य के संरक्षण में योग एवं आयुर्वेद की शिक्षा को बढ़ावा देना

संक्रामक रोगों के नियन्त्रण हेतु जागरूकता पैदा करना

जनसंख्या नियन्त्रण हेतु शिक्षा के कार्यक्रम विकसित करना

नशीली दवाइयों एवं सामग्रियों के दुष्परिणामों को जनता तक पँहुचाने के लिऐ जनजागरण अभियान करना
रोगों से बचाव हेतु उपायों की जानकारी देना
स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान का शिक्षा द्वारा विकास करना
स्वास्थ्य द्वारा परस्पर समुदायों में सहयोग विकसित करना
प्राथमिक उपचार आदि की शिक्षा का प्रशिक्षण देना
वांछित आदतें एवं अवांछित आदतों के बारे में जागरूकता पैदा करना
स्वास्थ्य सेवाओं एवं नैतिक शिक्षा के बारे में शिक्षा देना
सन्तुलित एवं शाकाहार के बारे में शिक्षा देना
आदर्श दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या के बारे में शिक्षा देना
आहार–निद्रा ब्रह्मचर्य एवं यौवन सुरक्षा की शिक्षा देना
विद्यालयीन शिक्षा में Reading, Writing and Arithmetic के साथ–साथ 4H अर्थात् Hand, Heart, Head and Health की शिक्षा देते हुये निम्न लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु स्वास्थ्य आधारित कार्यक्रमों को साकार रूप देना।

(द) **स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले बारह तत्व :**

(i) पौष्टिक भोजन (Nutrient Food)
(ii) वातावरण (Environment)
(iii) विश्राम निद्रा (Rest and Sleep)
(iv) वंशानुक्रम (Heredity)
(v) मानसिक तनाव (Mental Tension)
(vi) प्रेम (Affection)
(vii) शारीरिक विकृति (Physical Reformity)
(viii) खेल एवं व्यायाम (Game & Exercise)
(ix) थकान (Fatigue)
(x) मनोरंजन (Entertainment)
(xi) खाद्यविषाक्ता (Food Poisoning)
(xii) संक्रामक रोग (Disease)

(य) **स्वास्थय के लक्षण :–**

* प्रातः उठने पर तन–मन में स्फूर्ति एवं उत्साह का अनुभव
* शौच समय पर एवं बंधा हुआ होना
* गहरी निद्रा का आना
* शारीरिक अंगो का आयु के अनुसार समुचित आकार में विकास होना
* सदैव मन का प्रसन्न रहना
* सकारात्मक विचार का होना

* मुखाकृति चमकदार, कान्तिमान एवं प्रसन्नतामय होना
* समय पर भूख–प्यास का लगना
* रक्त संचार संयमित होना
* नाड़ी तंत्र का सुचारूरूपेण कार्य करना
* शरीर के सभी अंगों का स्वाभाविक रहना
* सभी दोष–धातुओं एवं मलों का सम मात्रा में होना
* उत्साह–स्फूर्ति एवं प्रसन्नचित रहना
* शरीर में हल्कापन का महसूस होना
* सदैव भरपूर ऊर्जा से सरोबार महसूस करना
* त्वचा स्वच्छ एवं मुख दुर्गन्ध रहित होना
* मधुरवाणी एवं आलस्य नहीं होना
* विध्वंसात्मक गतिविधियों में लिप्त नहीं रहना
* ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों का सजग एवं स्वस्थ रहना

(र) **स्वास्थ्य संरक्षण के पच्चीस उपाय :–**

1. सन्तुलित आहार–विहार का सेवन
2. मौसमी फलों एवं सब्जियों का अधिक सेवन
3. 80% क्षारीय एवं 20% अम्लीय भोजन का सेवन
4. स्वच्छ एवं संतुलित मात्रा में जल का सेवन
5. आवश्यकतानुसार उपवास का सेवन
6. शरीर की आंतरिक एवं बाह्य स्वच्छता
7. स्वच्छ हवादार कमरे में गहरी निद्रा का लेना
8. शारीरिक श्रम एवं आवश्यकतानुसार विश्राम करना
9. पंचतत्त्वों का शरीर में संतुलन बनाये रखना
10. प्रकृति की शरण में अधिकाधिक जीवन यापन करना
11. प्राणायाम का दैनिक अभ्यास करना
12. सूक्ष्म व्यायाम एवं योगासनों का नियमित अभ्यास करना
13. यथा सम्भव धूप का सेवन
14. नंगे पैर घास पर प्रातःकाल टहलना
15. सकारात्मक विचार एवं सात्त्विक भावों का विकास करना
16. नकारात्मक विचारों का परित्याग करना
17. प्राकृतिक एवं स्वाभाविक हंसी का अभ्यास करना
18. मौनवृत्त एवं प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करना
19. तनाव मुक्त जीवन जीना
20. ऋतुचर्या का पालन करना
21. ब्रह्मचर्य का पालन करना
22. यम–नियम का पालन करना
23. नियमित एवं व्यवस्थित दिनचर्या का पालन करना

24. जंक फूड एवं तेज मिर्ज मसालों का परित्याग करना

संसार के समस्त प्रकार के सुखों में सबसे प्रधान एवं प्रथम सुख ''निरोगी काया'' ही है। अतः प्रत्येक व्यक्ति हितायु एवं सुखायु चाहता है, कोई भी व्यक्ति दुःख कष्ट नहीं भोगना चाहता। ऐसे में आवश्यक है कि भारतीय स्वास्थ्य चिंतन अनुसार ऋषि–मुनियों द्वारा प्रदान स्वास्थ्य के आधार भूत सिद्धान्तों का पालन किया जाये, ताकि प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रह सके उसका परिवार स्वस्थ रह सके, परिवार यदि स्वस्थ है तो फिर समाज राष्ट्र एवं विश्व को स्वस्थ रखने मे सहायता मिलेगी। आज करोड़ों रूपया स्वास्थ्य के नाम पर रोगों को दूर करने हेतु प्रत्येक देश में खर्च हो रहा है, नितनवीन चिकित्सालय खोले जा रहे हैं फिर भी रोगी कम नहीं हुये, हुया ये कि ज्यों–ज्यों चिकित्सा एवं रोगों के रोकथाम के संसाधन अपनाये त्यों–त्यों रोग भी बढ़ते गये। अतः स्वास्थ्य के प्रथम सिद्धान्त ''स्वस्थस्य स्वास्थ्य संरक्षण'' पर विशेष ध्यान देते हुए स्वास्थ्य जागरूकता के माध्यम से जनजागरण करना होगा ताकि व्यक्ति बीमार ही न हो पाये।

18.4 स्वास्थ्य संरक्षण में योग की भूमिका :–

योग

(1) योग विवेचन :–

''योग'' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द ''युजिर योगे'' से हुयी है जिसका अर्थ है जोड़ना, एक होना या मिलना आदि। अतः योग का शाब्दिक भाव है कि ''जीवात्मा का परमात्मा से मिलना''। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञान का आभास हो कि उसमें परमात्मा का ही अंश है।

प्राचीन समय में ''जीवात्मा का परमात्मा से मिलन की साधना'' का नाम ही योग था, यही योग का वास्तविक उद्देश्य भी था। लेकिन वर्तमान समय मे आधुनिक स्वास्थ्यवेत्ताओं,

विचारकों ने योग ज्ञान की इस परम्परा मे अभूतपूर्व परिवर्तन करते हुये इसके आध्यात्मिक पक्ष के अतिरिक्त ज्यादातर व्यक्तिगत जीवन में स्वास्थ्य प्राप्ति हेतु 'योग द्वारा स्वास्थ्य की प्राप्ति'' के लिये विशेष ध्यान दिया हैं। आज दूरदर्शन के माध्यम से, टी.वी. चेनलों पर, प्रिंट एवं इलेक्ट्रोनिक मीडिया द्वारा भी ''योग द्वारा सम्पूर्ण स्वास्थ्य'' के कार्यक्रम अविकसित, विकासशील एवं अतिविकसित राष्ट्रों में प्रतिदिन अहर्निश प्रदर्शित किया जा रहे हैं। आज योग सम्पूर्ण विश्व को भारतीय संस्कृति की स्वास्थ्य संरक्षण के क्षेत्र में अमूल्य देन सिद्ध हो रही हैं।

(I) योग की विभिन्न परिभाषायें :–

कठोपनिषद् (2/3/10-13) के अन्तर्गत योग के बारे में बताया है कि जब पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन स्थिर हो जाते हैं तब इस स्थिति को ''योग'' कहते हैं जिसका दूसरा नाम ही ''परम गति'' है। आचार्य कहते हैं कि इसी अवस्था में योग साधक ''इच्छारहित'' हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति केवल वाणी, चक्षु या मन से सम्भव नहीं है, अपितु उस परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने से होती है।

पातंजल योग सूत्र में महर्षि पतंजलि अष्टांगयोग के प्रारम्भ में कहते हैं कि ''योगश्चित्तवृत्ति निरोध :। (1/2) अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकने का नाम योग है।

हमारा चिन्त निम्न तीनों से बना होता है।

(1) मन (2) बुद्धि (3) अंहकार

चित्त की वृत्तियाँ 5 प्रकार की होती है, यथा –

प्रमाण – आप्तोपदेश, अनुमान एवं प्रत्यक्ष ज्ञान

विपर्यय – मिथ्या ज्ञान

वस्तु विकल्प – किस के न होने पर भी उसका ज्ञान

निद्रा – जिसमें सभी भावों में अभाव जैसी प्रतीती हो।

स्मृति – पूर्व में अनुभव किये गये विषय का ज्ञान।

(II) अभ्यासं वैराग्याभ्यां तन्निरोध :। (1/2)

चित्त की पांचों वृत्तियों का निरोध (रोकना) अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा होता हैं

(A) अभ्यास – तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास : (1/13)
महर्षि पतजंलि कहते हैं कि किसी भी ''स्थिति विशेष'' का पुनः पुनः बारम्बार प्रयास करना ही अभ्यास है।

(B) वैराग्य – दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (1/15)
पूर्व में देखे गये एवं सुने गये विषयों से मन–बुद्धि–अहंकार युक्त चित्त को सम्बन्धित अनुभव किये गये विषय से हटाकर आत्मतत्त्व (यथार्थ) में एकाग्र करना ही वैराग्य है।

(III) श्रीमद् भगवद् गीता के अनुसार योग की चार महत्त्वपूर्ण परिभाषायें एवं सिद्धान्त निम्नानुसार बताये हैं–

(1) योगस्थ : कुरू कर्माणि सङ्ग् व्यक्तवा धनञ्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। ((2/48) श्रीमद् भगवद् गीता)
अर्थात्– हे अर्जून तू योगस्थ होकर कर्म कर। किसी भी कार्य की सिद्धि अर्थात् सफलता तथा असिद्धि अर्थात् विफलता में स्वयं को समान भाव से रखता हुआ विचलित न हो यह ही योग है। अर्थात् अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में भी समभाव रखना ''योग'' है।

(2) यस्मिन्सिथतो दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते।
तं विद्यात् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्।। (6/23) श्रीमद् भगवद् गीता)
अर्थात्– सांसरिक वह स्थिति जिसमें बड़ा से बड़ा दुःख भी व्यक्ति को विचलित न कर सकें, उस स्थिति को योग की संज्ञा दी गई हैं। तात्पर्य यह हैं कि योग की अवस्था में दुःख का लेशमात्र भी संयोग नहीं होता हैं।

(3) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कुते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (2/50) श्रीमद् भगवद् गीता)
अर्थात– जब व्यक्ति की बुद्धि योग की अवस्था में होती है वह कार्यों की सफलता एवं निष्फलता से प्रभावित नहीं होता। उस योग की तटस्थ स्थिति में रहकर ही व्यक्ति को कुशलतापूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि सांसारिक बन्धनों से मुक्त रहते हुये कुशलतापूर्वक व्यवस्थित कर्म मनुष्य को करना चाहिये।

(4) योगस्त्रयों मया प्रोक्तो नृणां श्रेयोविधित्समा।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपयोऽन्योऽस्ति कृत्राचित्।।(11/20/6) श्रीमद् भगवद् गीता)
अर्थात्– भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्यों के लिये मैंने तीन योग बताये हैं, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग। इन तीनों के सिवाय दूसरा कोई कल्याण का मार्ग नहीं है।

(2) वर्तमान समय मे योग की स्थिति– आज समाज में योग का प्रचार–प्रसार तीव्रगति से हो रहा है। आज योग अन्तर्राष्ट्रीय आकर्षण का विषय हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है। बिना दवाइयों के स्वस्थ रहने के लिये योग का अपना वैशिष्ट्य वैश्विक जगत में फैल रहा है। पाश्चात्य संस्कृति में दुनिया के दूसरे देश उनके लिये ''व्यवसाय के केन्द्र'' है, इसलिये वे '' योग का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार'' के रूप में प्रयोग करते हैं। भारत दुनिया को अपना परिवार मानता है। अतः भारतीय योग '' सर्वे भवन्तु सुखिनः एवं ''लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु'' की मंगलकामना सभी के लिये करता है। आज योग व्यक्तिगत साधना का विषय ही न होकर सामाजिक अनिवार्य उपयोगिता जैसा बन गया है। योग के क्षेत्र में नितनवीन अनुसंधान विज्ञान आधारित तंत्र पर हो रहे हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान

आधारित परीक्षणों के साथ–साथ भौतिकवाद के तथाकथित मोर्केटिंग वाले योगाचायों ने विभिन्न नामों से जैसे पावर योगा आदि द्वारा इसके वास्तविक आध्यात्मिक एवं औपनिषिदिक मूल स्वरूप को आघात पहुँचाया जा रहा है। वर्तमान में योग पर कई संस्थायें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान आधारित परीक्षणों पर अनुसंधान कार्य कर रही है। जिसका संक्षेप में नामोल्लेख निम्नानुसार किया जा रहा है,–

1. एस. व्यासा विश्वविद्यालय, बेंगलूरू
2. एस.एम. वाई.एम. समिति कैवल्यधाम लोनावाला, पूणे
3. पंतजलि योग पीठ, हरिद्वार
4. आर्टऑफ लिविंग फाउन्डेशन, बेंगलूरू
5. ईशा योग फाउन्डेशन, कोयंबटुर
6. रामकृष्णमिशन, नई दिल्ली
7. योग संस्थान, शांताक्रूज, मुबंई
8. अयंगर योगाश्रम मुबंई एवं पूणे
9. कृष्णामाचार्या योग मंदिरम्, चेन्नई
10. एस.डी.एम. कालेज एवं शान्तिवन ट्रस्ट, उजरे (धर्मस्थला)
11. लकुलिश योग विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
12. आधात्यम साधना केन्द्र, नई दिल्ली
13. देव संस्कृति विश्वविद्यालय, शान्तिकुंज, हरिद्वार
14. बिहार योग स्कूल, साकेत, नई दिल्ली
15. मोक्षायतन योगाश्रम, सहारनपुर (उ.प्र.)
16. प्रजापिता ब्रह्मकुमारी वि.वि. माउन्ट आबू
17. क्रियायोग संस्थान, रांची
18. आई. सी. वाई. ई. ई. आर., पुदुच्चेरी
19. सी.सी. आर. वाई. एन., नई दिल्ली
20. एम. डी. एन. आई. वाई., नई दिल्ली
21. आयुष मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली
22. उत्ताखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी।

उक्त इन सभी के अतिरिक्त केन्द्रीय विश्वविद्यालयों, आयुर्वेद महाविद्यालयों, आयुर्वेद एवं अन्य विश्वविद्यालयों तथा सभी खुला विश्वविद्यालयों में ''योग शिक्षा'' से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक कार्य वर्तमान में चल रहा है। आज भारतीय योग की विश्वभर में माँग बढ़ रही है। भारत की पहल पर 21 जून 2015 को प्रथम ''अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस''

के रूप में विश्वभर में मनाना भारतीय योग की दक्षता, इसकी चिकित्सकीय वैज्ञानिकता को विश्वभर में सिद्ध करता है।

(3)स्वास्थ्य संरक्षण में योग विवेचन : –

हमारा परम सौभाग्य है कि हमने ऋषि–मुनियों की इस पुण्य भूमि पर जन्म लिया है। इसी धरा को पूण्यभूमि, कर्मभूमि, मोक्षभूमि, धर्मभूमि एवं आध्यात्म की भूमि के नाम से पुकारते हैं। योग भी हमारी भारतीय संस्कृति की परम विशेषता है। योग के महत्त्व को स्वामी विवेकानन्दजी ने 125 पूर्व शिकागो के धर्म सम्मेलन में बताया था। आज अमेरिका के 1.75 करोड़ लोग '' योगमय जीवन'' जी रहे है, साथ ही तीन अरब डालर ''योग विज्ञान'' पर वार्षिक व्यय कर रहे हैं। पाश्चात्य जगत में अमेरिका सहित सभी देशों ने स्वीकार किया है कि ''योग'' का किसी पंथ–उपासना पद्धति'' से सम्बन्ध नहीं है, जबकि कुछ धार्मिक कट्टर पंथियों द्वारा सम्पूर्ण योग विज्ञान को अनावश्यक विवाद का विषय हमारे ही देश में बनाने का कुत्सित प्रयास चल रहा है, जो घोर निन्दनीय हैं। योग भारत की विश्व को अनुपम देन है।

'' शरीर माध्यमं खलु धर्म साधनम्'' अर्थात् सभी कर्मों (धर्मो) की पालना का एकमेव साधन ''स्वस्थ शरीर'' है, इसलिये ऋषि–मुनियों नें जीवन का निचोड़ ''पहला सुख–निरोगी काया'' को माना है परन्तु आज की भौतिकवादी, यांत्रिक एवं आणविक चकाचौंध ने मानव को प्रकृति से दूर सा कर दिया है। प्रतिस्पर्धा की इस अन्धाधुन्ध विलासिता की दौड़ में मानव ''तनावग्रस्त'' जीवन जी रहा है। परिणामस्वरूप जीवन शैली जन्य रोग यथा– हृदयाघात, रक्तचाप, मधुमेह, माइग्रेन, कैंसर, लीवर (यकृत) मोटापा, थायोराइड, जोड़दर्द एवं किडनी के रोगों से ग्रसित होकर अवसाद, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा एवं मानसिक रोगों से पीड़ित होकर अशान्त होता जा रहा है।

वैश्विक दृष्टि से देखा जाय तो सन् 2002 की तुलना में आज विश्व में 50 से 60 फीसदी लोगों की ''योग'' के प्रति रूचि बढ़ी है। योग से रक्त में ऑक्सीजन (प्राणवायु) का स्तर बढ़ता है। अतः प्रातः जल्दी उठकर अपनी दैनिक जीवनचर्या में योग अर्थात् आसन, संधियोग, प्राणायाम एवं ध्यान आदि को स्थान देकर सुखी एवं ''आनन्दमय जीवन जीने की कला'' को स्वास्थ्य की दृष्टि से अपनाना चाहिये।

भारत ही सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक प्रेरणा एवं योग के सोपानों की शिक्षा देने की सामर्थ्य रखता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की 69 वीं साधारण सभा में 21 जून 2015 को ''अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस'' के रूप में मान्यता देना यह सिद्ध करता है कि '' रोग एवं रोग ग्रस्त'' विश्व को '' योग की ही शरण '' में आना चाहिये। भारतीय योग ऋषि प्राचीनकाल से ही '' योग के विश्व गुरू'' माने जाते रहे हैं। योगासनों से व्यक्ति एवं सामूहिक सभाभ्यास द्वारा '' योग आधारित जीवन'' के अभ्यास से स्वयं का, परिवार का, जीवन स्तर उन्नत करने में सहायता मिलती है।

स्वास्थ्य संरक्षण के क्षेत्र में योग की विज्ञान आधारित महती भूमिका है। योग एक ''आध्यामिक अनुशासन'' का नाम है। योग प्राचीन भारतीय परम्परा एवं संस्कृति की ''विश्व स्वास्थ्य जगत'' को अमूल्य वैज्ञानिक देन है। योग सूक्ष्म विज्ञान पर आधारित वह ''नेनोटेक्नोलोजी'' का ज्ञान है जो मन एवं शरीर, प्राणी एवं प्रकृति के मध्य सामंजस्य का कार्य करता है। वस्तुतः योग स्वास्थ्य जीवन जीने की कला एवं विज्ञान दोनों है।

योग सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति दिलाने का साधन है। योग द्वारा शरीर एवं मन के बीच सामंजस्य उत्पन्न कर साधना द्वारा ''आत्म साक्षात्कार'' करने का सुनहरा अवसर प्राप्त होता है जिससे त्रिविध दुःखों की निवृत्ति में सहायता मिलती है।

योग द्वारा प्रेम, शांति, आनन्द एवं उल्लास आदि प्राप्त कर मनोरोगों से निवृत्ति पायी जाती है। योग के द्वारा ही शारीरिक–मानसिक–आध्यात्मिक एवं चारित्रिक स्वास्थ्य की श्रेष्ठता अर्जित किया जाना सम्भव होता है। योग द्वारा ही अन्तर्मन की गहराइयों की जटिलतम समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त होता है।

योग शिक्षा द्वारा छात्रा–छात्राओं में नैतिक आचरण का विकास, उनकी बौद्धिक क्षमता का विकास, शारीरिक क्षमताओं का विकास, अनुशासन एवं आध्यात्मिक उत्थान का भाव विकसित किया जाता है। आज सम्पूर्ण विश्व में भ्रष्टाचार सभी राष्ट्रों के विकास में कठोर कानून होने के बावजूद भी बाधक बना हुआ है। ऐसे में योग द्वारा नैतिकता का उत्थान तथा ईमानदारी का भाव बाल्यकाल से विकसित किये जाने के कारण भ्रष्टाचारियों की संख्या में शनैः शनैः गिरावट होते हुये कमी आ रही है।

योग द्वारा सकारात्मक ऊर्जा प्राप्त होती है, जिससे मन में स्फूर्ति–उत्साह–शांति का भाव पैदा होता है। योग द्वारा ही मन में संतोष का भाव जागृत होता है जिससे चित्त की वृत्तियाँ शांत रहती है।

आज आतंकवाद सम्पूर्ण विश्व में सुरसा के मुँह की तरह फैल रहा है। ऐसे में योग द्वारा ''जियो एवं जीवन दो'' का सिद्धान्त विकसित होकर इस आंतकवाद जैसी ज्वलंत समस्या पर शांति के द्वारा विजय प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो रहा हैं।

आज सम्पूर्ण मानव जाति को अष्टांग योग के यम–नियम के दस सिद्धान्तों के पालन करने की आवश्वयकता महसूस की हो रही है। विश्वशांति के लिये एवं विशेषकर ''सर्वे भवन्तु सुखिनः लक्ष्य'' की प्राप्ति के लिये योग की महती आवश्यकता सार्वभौमिक है।

संभावनाओं को संभव करने का नाम योग है। योग द्वारा मानवीय शक्ति एवं ऊर्जा का विकास होता है। श्रमिकों, कर्मचारियों, अधिकारियों में उनकी कार्यदक्षता एवं कार्य कुशलता बढ़ायी जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में, औद्योगिक संस्थानों के क्षेत्र में, खेलकूद के क्षेत्र में, व्यापार के क्षेत्र के साथ–साथ चिकित्सा के क्षेत्र में सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति में योग की महान भूमिका है। योग का कार्यक्षेत्र अपरिसीमित है। जहाँ–जहाँ सृष्टि है वहाँ–वहाँ सभी जगह योग की उपादेयता सर्वविदित है।

योग द्वारा जीवन के चार स्तरों पर शरीर–मन–भावना एवं ऊर्जा के क्षेत्र में क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं क्रियायोग द्वारा कार्य किया जाता है। व्यक्ति की भावनात्मक प्रवृत्तियों एवं संवेदनशीलता का संतुलित विकास होता है। योग द्वारा आमजनों में उत्तम स्वास्थ्य का विकास किया जाता है। आज योग के प्रयासों द्वारा ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में बीमारियों के प्रकोप को घटाते हुए ''स्वस्थ जीवन जीने की कला'' को साकाररूप दिया जा रहा है।

योग द्वारा ही आम जनता से जुड़ी लगभग सभी समस्याओं की जड़ तक पहुँचकर मानव को शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर सुदृढ़ करते हुए ''स्वस्थ जीवन जीने'' के लिये मार्ग प्रशस्त हो रहा है।

आज के यांत्रिक युग में मशीनों के आविष्कार, भौतिक सुख सुविधाओं के लिये विकसित यंत्रों ने मानवजीवन में शारीरिक श्रम को सीमित सा कर दिया है। बढ़ते हुए शहरी विकासों

ने तथा औद्योगिकीकरण से अशुद्ध वायु एवं अशुद्ध जल की समस्या बनी हुयी है। इस कारण मानव जीवन पर वातावरण–पर्यावरण की बिगड़ती हालत के कारण ''ग्लोबलवार्मिंग'' की समस्या से विश्व जूझ रहा है। बढ़ते हुए वाहनों के कारण एवं तेजी से घटते हुये जंगलों के कारण पर्यावरण असंतुलित होकर कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि जैसे प्रकृति के भयानक विकृत हालात बने हुए है। ऐसे में योग ही एक मात्र ऐसा विकल्प बचा है जिसके द्वारा ''अपरिग्रह'' का भाव जागृत कर प्रकृति, पुरूष एवं पर्यावरण के संरक्षण में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। भौतिकता की चकाचौंध में अस्वस्थ मानव समुदाय की ''चित्तवृत्तियों का निरोध'' में प्रवृत्ति कर विश्वकल्याण में लोकाःसमस्ता सुखिनो भवन्तुः की स्थिति योग द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

अष्टांग योग के द्वारा निम्न प्रकार से स्वास्थ्य संरक्षण करने में संक्षेपतः सहायता मिलती है। उक्त अष्टांग योग के द्वारा आत्मानुशासन के आठ अंगों के अभ्यास से एकाग्रता, मानसिक

(iv)

अष्टांग योग	वैशिष्ट्य
यम	आत्मसंयम, समाज उद्धार
नियम	व्यक्तिगत एवं सामाजिक श्रेष्ठ व्यवहार
आसन	शारीरिक मुद्रायें / स्थितियाँ
प्राणायाम	प्राणवायु पर नियंत्रण
प्रत्याहार	इन्द्रियों को बाह्यविषयों से हटाना
धारणा	चित्त को स्थिर रखना
ध्यान	ध्येय वस्तु का निरन्तर मनन
समाधि	आत्म तन्मयता / अनासक्त भाव

शुद्धि प्राप्त होती है। आसनों के द्वारा ध्यान–शरीर संवर्धन, विश्रामात्मक आसन (शवासन, मकरासन, बालासन) से मेरूदण्ड लचीला एवं मजबूत तथा माँसपेशियों को लचकदार बनाया जाता है। जिससे आरोग्यता प्राप्त होती है।

योगासनों के द्वारा नियमित व्यायाम, शारीरिक अभ्यास, उचित आहार–विहार, पोषण एवं यथोचित विश्राम के द्वारा सुडौल शरीर, शरीर की ऊँचाई तथा उम्र के अनुरूप भार एवं बीमारी का अभाव प्राप्त किया जाता है।

आज चारों तरफ ''तनाव'' मानव जीवन को दीमक की तरह खोखला करता जा रहा है। यह तनाव त्रुटिपूर्ण–अमर्यादित जीवनचर्या के कारण बढ़ रहा है। आज जीवन शैली में व्यसन भी एक हिस्सा सा बन गया है। आधुनिकता के चक्कर में फैशनपरस्ती, खोखली दिखावे करने की मनोवृत्ति बदलते परिवेश में बढ़ रही है। उच्च कैलोरी वाले जंकफूड (खाद्य पदार्थ), धूम्रपान, मद्यपान, जर्दा–गुटखा–खैनी का सेवन परिवार की आर्थिक स्थिति एवं स्वास्थ्य बिगाड़ रहा है। ऐसी विकट परिस्थितियों में योग एक आशा की किरण है। जिससे प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों पर संयम (नियंत्रण) के माध्यम से इन अवांछित कर्मो में लिप्तता को दूर किया जा सकता है।

योग द्वारा आदर्श दिनचर्या के माध्यम से स्वास्थ्य के सिद्धान्तों का पालन करने से, शारीरिक व्यायाम करने से, शरीर की ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का परिमार्जन करने से, सदाचरण का पालन करने से, शाकाहार का सेवन करने से, प्राणायाम के द्वारा प्राण शक्ति एवं श्वासों पर नियंत्रण करते हुए स्वास्थ्य प्राप्त किया जाता है। श्वसन क्रिया के तीनों अंग पूरक (श्वास खींचना) रेचक (श्वास छोड़ना) तथा कुम्भक (श्वास को कुछ देर तक स्थिर रखना) प्राणायाम का विशेष अभ्यास है। प्राणायाम के दैनिक अभ्यास से चिन्तन–मनन प्रक्रिया पर नियन्त्रण होता है, इससे शरीर एंव मन के बीच सामंजस्य उत्पन्न होता है। प्राणायाम द्वारा शरीर में ऑक्सीजन रूपी प्राण तत्व में वृद्धि, उदरावयवों का सूक्ष्म व्यायाम, चयापचय की प्रक्रिया में संतुलन, मानसिक शान्ति, सुखाभास, मानसिक सजगता, एकाग्रता, स्वनियन्त्रण, स्मरणशक्ति का विकास प्राप्त होता है। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को बाह्मविषयों से हटाते हुए उन्हें संयम द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इन्द्रियों का संयम होने से एकाग्रचित होकर ''ध्यानमग्न'' में सहायता प्राप्त होती है। धारणा के द्वारा ध्येय वस्तु का एकाग्रचित्त होकर मनन किया जाता है, तथा ध्येय वस्तु पर सतत निरन्तर प्रवाह ही ''ध्यान'' की अवस्था है। अष्टांग योग की चरमावस्था तथा अंतिम योग ''समाधि'' है। समाधि के अन्तर्गत ध्येय रूपी विषय के अतिरिक्त सभी विषयों का अभाव हो जाता है :–
योग के षट्कर्मो द्वारा स्वास्थ्य संरक्षण निम्नानुसार है–

(V) यौगिक षट्कर्म–

षट्कर्मो द्वारा स्वास्थ्य संरक्षण में ''शंखप्रक्षालन'' द्वारा सम्पूर्ण जठर तंत्र की सफाई की जाती है।

(V) षट्कर्म	स्थान विशेष पर शुद्धि का प्रभाव
1. धौतिक्रिया	ऊपरी जठरांत्र एवं अमाशय
2. बस्तिक्रिया	मलाशय
3. नेतिक्रिया	गले से नासिका तक
4. त्राटक	आँखों की स्वच्छता
5. नौलिक्रिया	उदरांगों की सफाई
6. कपालभातिक्रिया	नसिका से फैंफड़े

षट्कर्मो द्वारा शुद्धिकरण, अंगावयवों की स्वच्छता सक्रियता बढ़ायी जाती है।
षट्कर्मो द्वारा विभिन्न अंगों की कार्यप्रणाली में सुधार लाया जाता है।
षट्कर्मो द्वारा अंगों की अतिगतिशीलता, अति संवेदनशीलता में कमी लायी जाती है।
षट्कर्मो द्वारा आंतरिक चेतना में वृद्धि की जाती है।
षट्कर्मो द्वारा रक्तपरिसंचरण में सुधार लाया जाता है।
षट्कर्मो द्वारा शरीर, मन एवं भावनाओं को संतुलित किया जाता है।
षट्कर्मो द्वारा शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ायी जाती है।

18.5 स्वास्थ्य संरक्षण में आयुर्वेद की भूमिकाः–

आयुर्वेद शब्द आयु एवं वेद इन दो शब्दों को मेल से बना है। आयु अर्थात् जीवन, वेद अर्थात् ज्ञान (Knowledge) आयुर्वेद अर्थात् जीवन का विज्ञान (Science of Life)।

(1) आयु का अर्थः–

1. जो निरन्तर गतिमान रहे।

2. जीवितकाल को आयु कहते है।
3. जन्म से लेकर चेतना के बने रहने तक का काल
4. शरीर एवं जीवन के संयोग के काल को आयु कहते है।

(2) **आयु के चार प्रकारः–**

(1) हितायु (2) अहितायु (3) सुखायु (4) दुःखायु

(3) परिभाषा :– ''आयुषो वेद : इति आयुर्वेद'' अर्थात् आयु से सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का वर्णन जिसमें हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

(4) आयुर्वेद के दो प्रयोजन–

(i) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना
(ii) रोगी के रोगों का शमन उपचार करना।

(5) स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा :–

'' समदोष : समाग्निश्च समधातुमलक्रिय :।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना : स्वस्थ इत्यभिधीयते । (सुश्रुत सूत्र स्थान 15/4)

अर्थात् स्वस्थ उसे कहते है जिसमें वात–पित्त, कफ त्रिदोष, सात धात्वाग्नियाँ, पाँच महाभूताग्यिाँ, एक जाठराग्नि कुल तेरह अग्नियाँ, सप्त धातु (रस–रक्त–माँस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र) तथा मल–मूत्र का निर्बाध विसर्जन हो साथ ही साथ उसकी आत्मा इन्द्रियाँ एवं मन प्रसन्न हो।

- ❖ शारीरिक दोष – वात–पित्त–कफ
- ❖ मानसिक दोष – रज एवं तम
- ❖ रोगों का कारण – त्रिदोषों की वैषम्यता (विषमता)
- ❖ स्वास्थ्य का कारण – त्रिदोषों की साम्यता (समावस्था)
- ❖ रोग के दो स्थान – शरीर एवं मन
- ❖ आत्मा – यह निर्विकार होती है।

(6) त्रिविध दुःख – (i) आध्यात्मिक
(ii) आधिभौतिक
(iii) आधिदैविक

(7) दशाविध परीक्षा–

1.	प्रकृति	6.	सात्मय
2.	विकृति	7.	सत्त्व
3.	सार	8.	आहारशक्ति
4.	संहनन	9.	व्यायाम शक्ति
5.	प्रमाण	10.	वय

(8) अष्टांग आयुर्वेद

1)	काय चिकित्सा	(शारीरिक एवं मानसिक रोग)
2)	शल्य चिकित्सा	(सर्जरी से सम्बन्धित)
3)	शालाक्य चिकित्सा	(ऊर्धजत्रू रोग–आँख–नाक–कान–गला–सिर)
4)	भूतविद्या	(देव –गन्धर्व –भूत –प्रेत शांति के लिये)
5)	कौमार मृत्य	(बालक एवं स्त्री रोग)

6) अगद तंत्र (विष नाशन)
7) रसायन चिकित्सा (वय स्थापन, यौवन हेतु)
8) वाजीकरण चिकित्सा (वीर्य वृद्धि, यौवन, संभोग शक्ति)

(9) आरोग्य प्राप्ति में आयुर्वेद की विषेषता–

- असाध्य रोगों की चिकित्सा– (स्कलेरोडर्मा, हेपेटाइटिस, कैंसर, प्लास्टिक एक्जिमा, पथरी, प्रोस्टेड ग्लेंड (पौरूष ग्रंथि) मायोपैथी एवं बिना नाम के रोग।
- वे रोग जिन्हें यन्त्र नहीं देख पाते–
  - (I) परिणामशूल की चिकित्सा
  - (II) सूर्यावर्त की चिकित्सा
  - (III) वातगुल्म की चिकित्सा का वर्णन
- जीवेम शरद : शतम् की प्राप्ति
- रोग निदान की अनुठी पद्धति – नाड़ी परीक्षा
- जनपदोध्वंस के कारण तथा बचाव के उपाय
- अर्श–भगन्दर रोगों की शल्य क्रिया
- रसायन वाजीकरण द्वारा चिर स्थायी यौवन प्राप्ति
- पंचकर्म द्वारा शोधन चिकित्सा

(10) आयुर्वेदिय दिव्य, औषधियाँ–

1.	लाल इन्द्रायण	10. ऋद्धि–वृद्धि
2.	श्वेतपुष्पी	11. नीम
3.	ब्राह्मी	12. हल्दी
4.	शंखपुष्पी	13. तुलसी
5.	जीवन्ती	14. नीमगिलोय
6.	ब्रह्मदण्डी	15. आँवला
7.	रूद्रवन्ती	16.एलोवेरा
8.	जीवक –ऋषमक	17. रसोईघर के मसाले
9.	काकोली–क्षीरकाकोली	

(11) ''स्वास्थ्य रक्षण हेतु सामान्य उपाय''

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, आहार–निद्रा–ब्रह्मचर्य, रसायन, वाजीकरण का सेवन, पथ्य सेवन के द्वारा स्वास्थ्य को संरक्षित किया जाता है, तथा ''सामान्यं विशेष'' के सिद्धान्तानुसार रोगों की चिकित्सा की जाती है। अतः आयुर्वेद रोगों को जड़मूल नष्ट कर रोगों को पुनः उत्पन्न नहीं होने देती ऐसी बिना साइड इफेक्ट की वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है।

18.6 स्वास्थ्य संरक्षण में शाकाहार की भूमिकाः–

भोजन हमारे जीवन के लिये परम आवश्यक तत्व है। पौष्टिक एवं सन्तुलित भोजन पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति के लिये महत्त्वपूर्ण है। स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि क्या खाना है, कैसे खाना है, कितना खाना है, कैसे पकाना है, प्रातः का नाश्ता कैसा हो, दोपहर एवं सांय का भोजन कैसा हो, भोजन में किन–किन आहार सामग्री का समावेश हो?

वर्तमान में चाय, पराठे, अचार, चाट, तेज मिर्च मसाले, तेज खटाई डिब्बा बंद सामग्री का बहुताधिक आहार द्रव्यों में उपयोग हो रहा है जो अस्वस्थ होने का बड़ा कारण है। गलत खान–पान से व्याधियाँ बढ़ रही है। रोगों का होने का कारण पाचनतंत्र का कमजोर होना है, जो विशेषकर आहार पर आधारित है। ''आहार ही औषधि है।'' पाचनसंस्थान को उपवास, शाकाहार एवं रसाहार के द्वारा सशक्त बनाया जा सकता है। उपवास द्वारा पाचनतंत्र को विश्राम मिलता है। सतुंलित भोजन के अन्तर्गत प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन, खनिजलवण, पानी आदि की आवश्यक मात्रा का संयोजन होता है। प्रत्येक व्यक्ति की कार्यशक्ति के आधार पर आहार की मात्रा एवं आहार की कैलोरी भिन्न–भिन्न होती है। व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार तथा ऋतुओं के अनुसार भी आहार की परिकल्पना पृथक्–पृथक् होती है।

विशेष मौसम में विशेष फल एवं सब्जियाँ उत्पन्न होती है, उनका सेवन करने से शरीर स्वस्थ एवं शक्तिवर्धक होता है। आज यह भी एक समस्या है कि सालभर जब चाहे व्यक्ति जैसा कृत्रिम तरीकों से आहार सामग्री उत्पादित कर लेता है या कोल्डस्टोरेज में उन्हें संरक्षित कर लेता है। फलों की स्थिति यह है कि कीटनाशक रसायनों द्वारा उन्हें उत्पादित एवं पकाया जाता है, एल्यूमिनियम के प्रेशर कुकर में खाद्य सामग्री तैयार की जाती है जो कैंसर जैसे रोगों का कारण है। ''डाल पक के स्थान पर पालपक'' फल मिल रहे हैं। ऐसे में हल्का, सुपाच्य, शुद्ध एवं सात्त्विक शाकाहार सेवन से आयु, बुद्धि, बल आरोग्य, सुख और तृप्ति होती है जिससे मन प्रसन्न होता है।

(1) रोगोत्पत्तिकारक आहार निम्नानुसार है–

- अति कड़वे एवं खट्टे लवणयुक्त
- बहुत गरम या बहुत ठण्डा आहार
- तीखे एवं दाहकारक आहार
- अधपका एवं रसरहित आहार
- दुर्गन्धयुक्त, बासी तथा उच्छिश्ट आहार
- अपवित्र आहार
- गरिष्ठ एवं तला हुआ आहार
- असन्तुलित अम्लीय आहार
- विरूद्ध आहार का सेवन

स्वस्थ रहने हेतु सन्तुलित एवं शाकाहार का सेवन करने से ही शारीरिक विकास, मानसिक विकास, सामाजिक विकास, आध्यात्मिक विकास एवं आत्मिक विकास निर्भर करता है। अतः दीर्घायु एवं उन्नत स्वास्थ्य हेतु पोषण द्वारा ऊर्जा की प्राप्ति आहार से संभव है। स्वास्थ्य प्राप्ति में आहार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्य निम्नानुसार हैः–

(2) भोजन कब और क्यों करें?

- शरीर के रख–रखाव–मरम्मत और विकास हेतु
- कड़ी एवं स्वाभाविक भूख लगने पर आहार लेवें
- बार–बार खाने से पाचन क्रिया कमजोर होती है।
- शाम का भोजन पर्याप्त मात्रा में लेवें।
- रात्रि भोजन का निषेध करें।

- भोजन के तुरन्त बाद नही सोना चाहिए।
- दो प्रधान भोजन के मध्य आहार नहीं करना चाहिए।
- कोल्डस्टोरेज एवं फ्रिज में रखे फलों एवं सब्जियों का सेवन नहीं करना चाहिये।

(3) भोजन कब नहीं करें?

- ❖ अस्वस्थ होने पर
- ❖ तीव्र बीमारी होने पर
- ❖ शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम के ठीक पहले
- ❖ चिन्तित एवं कुद्ध अवस्था में, शोक के समय
- ❖ बिना भूख एवं स्वरूचि के अभाव में

(4) भोजन क्यों एवं कैसे करें?

भोजन के पहले विश्राम करें।
ठण्डे पानी से हाथ–पैर एवं मुँह धोकर सफाई पश्चात् करें।
चबा–चबाकर करें।
सदैव प्रसन्नचित्त होकर एकाग्रता के साथ तन्मय होकर भोजन के समय सिर्फ भोजन ही करें। (उस समय अखबार–टीवी न पढ़े एवं ना ही देखें)
मौन रहकर भोजन करें।

(5) भोजन कितना करें?

- भूख से कम करें
- ठूंस–ठूंस कर चलते–फिरते समय न करें
- पेट का चौथायी भाग हवा–पानी के लिये छोड़े
- समयाभाव में उतना ही भोजन लें जितना चबा सकें

(6) भोजन कैसा करें?

कच्चा–अंकुरित भोजन श्रेष्ठ होता है।
अग्नि से बिना पकाया सूर्य द्वारा पकाया भोजन उत्तम होता है।
चोकर युक्त भोजन करें।
सलाद का उपयोग अवश्य करें।
साधारण नमक की जगह सैंधानमक का उपयोग करें।
रेशे युक्त (फाइबर वाला) आहार का सेवन करें।
भोजन में क्षारधर्मी 80%तथा 20% अम्लधर्मी आहार द्रव्य लेवें।

(7) **A) क्षारधर्मी आहार–** फल–सब्जियाँ, अंकुरित आहार, कच्चा नारियल, भीगे हुए सूखे हुये, रसदार मेवे– दाख, अंजीर, खजूर, गुड़ आदि।

B) अम्लधर्मी आहार– घी–तेल–तली हुयी चीजें, दही, गेहूँ, चावल, मक्का, बाजरा, काजू, मूँगफली, मैदा, बैसन, बिना चौकर का आटा, चटनी, आचार, गिरीदार मेवे,बीज, मुरब्बा, शक्कर, मांसाहार एवं अन्य तले हुए कचौरी, समोसा, पुड़ियां, नमकीन आदि बनावटी पदार्थ।
अधिक गरम एवं अधिक ठण्डा आहार नहीं लेवें।
अल्पाहार (नाश्ते) में मौसमी फल, गाजर अंकुरित अन्न का सेवन करें।

बेमेल भोजन तथा मैदा से बने आहार का सेवन नहीं करें।

(8) अहितकर आहार–

दानेदार चीनी	प्रोसेस्ड एवं फास्ट फूड
शर्बत–शीतल पेय	पिज्जा–बर्गर
मिठाई, मुरब्बा	टॉफी, मैदे के बिस्कुट
आचार	चाय, काफी
नमकीन	उत्तेजना पैदे करने वाले आहार
डिब्बा बन्द आहार	जुलाब की गोलियाँ
व्यसन कारक सामग्री	

(9) शाकाहार के लाभ–

▪ स्वास्थ्यवर्धक	प्रसन्नतादायक	पर्यावरण दृष्टि से लाभदायक
▪ कम खर्चीला	पौष्टिक	पाचकगुण युक्त
▪ शक्तिदायक	नैतिकतायुक्त	रोगप्रतिरोधकक्षमतावर्धक
▪ रोगोपचारक	जीवजंतुसंरक्षक	तन–मन–धन संरक्षक
▪ सात्त्विक भाववर्धक हिंसा	अवरोधक	स्फूर्तिदायक
▪ पापविनाशक	पुष्टि–तुष्टिप्रदायक	सर्वोत्कृष्ट–प्रशंसनीय

18.7 स्वास्थ्य संरक्षण में पंचकर्म की भूमिकाः–

पंचकर्म अर्थात् पंच = पांच संख्या

कर्म = क्रिया का किया जाना

आयुर्वेद शास्त्र में पंचकर्म ये है–

1. वमन कर्म
2. विरेचन कर्म
3. अनुवासन वस्तिकर्म
4. निरूह वस्तिकर्म
5. नस्यकर्म

(I) पंचकर्म का उद्देश्यः–

1. ''स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्'' स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का रक्षण करने हेतु
2. ''आतुस्य विकरोपशमन्'' बीमार के रोगों का नाश करने के लिये

3 ''रसायनवाजीकरण गुण प्राप्त्यर्थम्'' रसायन–वाजीकरण एवं असाधारण स्वास्थ्य वर्धक गुण प्राप्ति के लिये।

(II) **दैनिक जीवन में पंचकर्मः–** नस्यकर्म, मात्रावस्ति, कर्णपूरण, दन्तमंजन, स्नान, अभ्यंग, शिराअभ्यंग, नाभि में तेल लगाना, पादतल में अभ्यंग (तेल मालिश), शिरोधारा, शिरोवस्ति आदि।

(III) **ऋतुचर्या में उपयोगी पंचकर्मः–** ग्रीष्मादि ऋतुओं में अलग–अलग दोष वात–पित्त–कफ का संचय–प्रकोप एवं प्रशमन होता है। बढ़े हुए त्रिदोषों में वातदोष को बस्ति के द्वारा, पित्तदोष को विरेचन द्वारा कफदोष को वमनकर्म द्वारा शोधन करते हैं।

(IV) **अधारणीय वेगों में पंचकर्मः–**वात (अपानवायु) मल–मूत्रादि तेरह प्रकार के वेगों के धारण करने से रोग उत्पन्न होते हैं अतः पंचकर्म के द्वारा वेगों के स्वमार्ग से निर्हरण करने हेतु शोधन क्रियायें की जाती है।

(V) **रसायन–वाजीकरण हेतु पंचकर्मः–** रसायन सेवन से शरीर सुदृढ़ होता है, ऊर्जावान बनता है, वाजीकरण सेवन से यौवन बढ़ता है एवं श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति होती है। अतः रसायन–वाजीकरण की फलप्राप्ति के पूर्व पंचकर्म द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है।

(VI) **जनपदोध्वंस में पंचकर्मः–** आपदा–महामारी फैलने पर, संक्रामक रोगों के विनाश हेतु देश–वायु–जल प्रदूषित होने पर जनसमूह में महामारियाँ फैलने पर पंचकर्म से शोधन क्रियाकर रसायन सेवन कराते हैं, जिससे रोगप्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है एवं जनहानि से बचाया जाता है।

(VII) **रोगों के जड़मूल नाष हेतु पंचकर्मः–** पंचकर्म द्वारा शोधन की क्रियाओं से शरीर के प्रदूषित वात–पित्त–कफ दोष, मलों आदि का निष्कासन होने से औषध अधिक कार्यकारी होती है तथा रोग पुनः पुनः नहीं होते हैं तात्पर्य यह हैं कि रोगों का जड़मूल नाश होता है।

(VIII) **विष चिकित्सा में पंचकर्म–** विषों का सेवन से मृत्यु निश्चित होती है ऐसे में पंचकर्म द्वारा शोधनविधि से विषों को शरीर से बाहर निकालकर रोगी के प्राण बचाये जाते है।

(IX) **पंचकर्म की श्रेष्ठताः–** स्वास्थ्य संरक्षण में शोधन एवं शमन दो प्रकार की चिकित्सा की जाती है। आचार्य चरक ने शोधन चिकित्सा को योग के षट्कर्मो की तरह श्रेष्ठ चिकित्सा मानते हुए अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा में सर्वप्रथम पंचकर्म चिकित्सा का उल्लेख किया है।

जेंक चिकित्सा **(LEACH)**

वमन कर्म

पत्र पिण्ड स्वेद (**PPS**)

नस्यकर्म (शिरोविरेचन)

अभ्यंग (मसाज करते हुये)

शिरोबस्तीकर्म

शिरोधारा कर्म करते हुये

जानुबस्ती कर्म करते हुये

अक्षितर्पण करते हुये

ग्रीवावस्ती करते हुये

कटिवस्ती करते हुये

वस्ती देते हुये

वस्ती यंत्र (एनिमा यंत्र)

सर्वांग स्वेदन लेते हुए (लेटकर)

सर्वांग स्वेदन लेते हुए (बैठकर)

18.8 स्वास्थ्य संरक्षण में सूर्य नमस्कार की भूमिकाः–

सूर्यनमस्कार एक श्रेष्ठ सम्पूर्ण व्यायाम पद्धति है जिसमें बारह मंत्र एवं बारह आसनों का पुंज हैं जिसमें पूरक–रेचक रूपी श्वसन क्रिया के साथ अभ्यास किया जाता है। स्वास्थ्य संरक्षण में सूर्य नमस्कार प्राप्ति पद्धति द्वारा निम्न लाभ प्राप्त होते है :–

- शरीर के विभिन्न संस्थानों तथा ग्रंथियों पर क्रियात्मक प्रभाव होता है जिससे शरीर का शुद्धिकरण एवं पुनर्योवन प्राप्त होता है।
- शरीर में लचीलापन आता है।
- इडा –पिंगला नाड़ियाँ समावस्था में प्रभावित होती है।
- शरीर की सूक्ष्म इकाई कोशिकायें स्वस्थ होती है।
- श्वसन एवं रक्तसंचरण संस्थान स्वस्थ होता है।
- कोशिकाओं को शुद्ध प्राणतत्त्व तथा पोषकतत्त्व प्राप्त होता है।
- हृदय की मांसपेशियों स्वस्थ होती है।
- पाचन संस्थान स्वस्थ एवं शक्तिशाली होता है।
- उत्सर्जन तंत्र सक्षम होता है।
- त्वचा के रोग (विजातीयद्रव्यों के निर्हरण) से दूर होते हैं ।
- नाड़ीमण्डल स्वस्थ होता है।
- ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन स्वस्थ होता है।
- मेरूदण्ड लचीला एवं नाड़ियाँ तथा मांसपेशियां स्वस्थ होती हैं।
- हाथ–पैर–भुजायें–संधियाँ मजबूत एवं स्वस्थ होती है।
- मानसिक शान्ति, बल एवं सात्त्विक भाव विकसित होता है।
- मोटापा, मधुमेह, थायराइड आदि रोगों के निवारण में लाभदायक होते है।
- मोटी कमर को पतली एवं लचीली बनाता है।
- महिलाओं के यौन रोगों को दूर कर मासिक धर्म को नियमित करता है।
- मनो अवसाद को दूर करता है।
- कार्य करने में कुशलता–स्फूर्ति–शरीर चुस्त दुरस्त करता हैं।
- आयु –बुद्धि –बल–वीर्य –तेज (आभा) आदि को बढ़ाता है।

अतः सूर्य नमस्कार सम्पूर्ण व्यायाम है जिसमें सभी आसनों का सार समाहित है इसलिये शारीरिक एवं मानसिक आरोग्यता के लिये सूर्य नमस्कार का दैनिक अभ्यास निर्धारित क्रम में निर्दिष्ट नियमों का पालन करते हुये श्रेष्ठ है। सूर्य नमस्कार का यह वैशिष्ट्य है कि बिना दवाइयों के, बिना आर्थिक खर्चा किये इसके द्वारा कम समय में ही स्वास्थ्य का संरक्षण तथा रोग निवारण दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है। आज के युग में जहाँ मनुष्य के पास समयाभाव है, ऐसे में कम समय में भी सूर्य नमस्कार के दैनिक अभ्यास से पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति मे यह श्रेष्ठ पद्धति है।

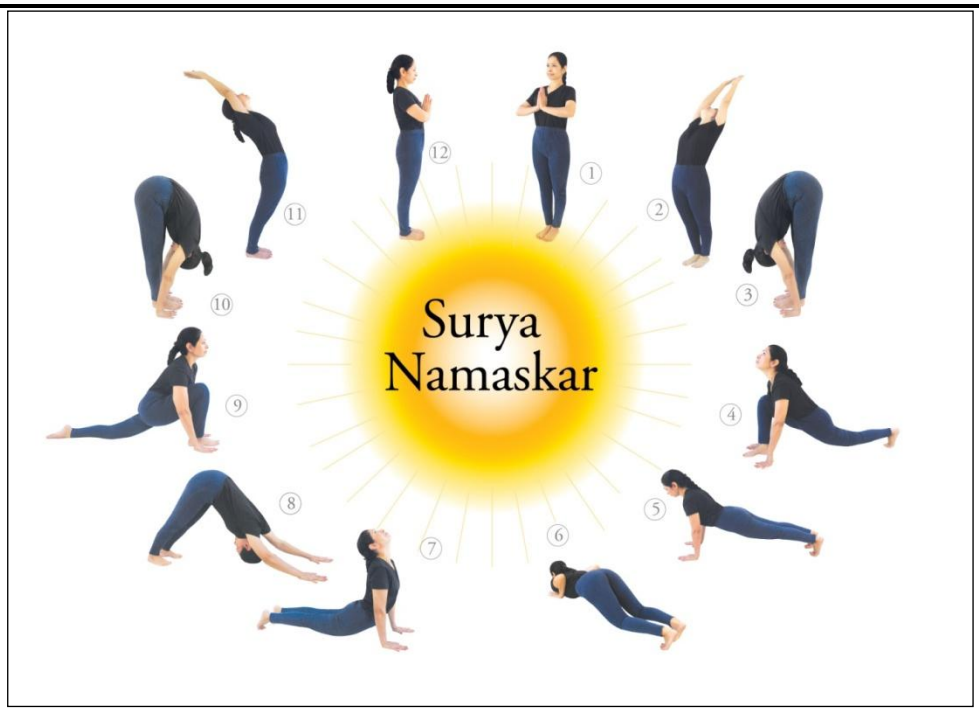

18.9 सारांश :–

प्रस्तुत इकाई में स्वास्थ्य संरक्षण हेतु सर्वप्रथम स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले तत्त्व, स्वास्थ्य के लक्षण, स्वास्थ्य संरक्षण के उपाय, आरोग्य प्राप्ति में योग, षट्कर्म, आयुर्वेद, संतुलित एवं शाकाहार पंचकर्म एवं सूर्य नमस्कार की भूमिका का शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तथ्यों पर आधारित वैज्ञानिक विवेचन वर्तमान परिस्थितियों में करने का वर्णन किया गया है। पंचकर्म की स्वास्थ्य प्राप्ति में भूमिका बतलाइये ?

1. सूर्यनमस्कार श्रेष्ठ सम्पूर्ण व्यायाम पद्धति है, विवेचना कीजिये ?

18.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची :–

चरक संहिता	–	डॉ. ब्रह्मानंद त्रिपाठी
सुश्रुत संहिता	–	डॉ. अम्बिकादत्त शास्त्री
अष्टांग संग्रह	–	डॉ. रविदत्त त्रिपाठी
स्वस्थवृत्त विज्ञान	–	डॉ. सर्वेश कुमार अग्रवाल
पातन्जल योगदर्शन	–	वैद्य नित्यानन्द शर्मा
पंचकर्म विज्ञान	–	वैद्या अंजना शर्मा
सामान्य योग प्रोटोकाल	–	आयुष मंत्रालय, भारत सरकार

18.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य संरक्षण में योग एवं आयुर्वेद की भूमिका का वर्णन कीजिए।

इकाई -19 अधुनातन विभिन्न संक्रामक व्याधियों में योग एवं आयुर्वेद का विशिष्ट योगदान

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 संक्रामक रोग परिचय एवं फेलने की विधियाँ
19.4 संक्रामक रोग बचाव के उपाय, टीकाकरण एवं टेस्ट/परीक्षण
19.5 विभिन्न संक्रामक रोगों के नाम एवं वर्णन
19.6 विभिन्न संक्रामक व्याधियों में योग का वैशिष्ट्य
19.7 विभिन्न संक्रामक व्याधियों में आयुर्वेद का वैशिष्ट्य
19.8 सारांश
19.9 बोधात्मक प्रश्न
19.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

19.1 प्रस्तावना :–

हमें दैनिक जीवन में विभिन्न संक्रामक रोग लोगों के समुदाय मे देखने को मिलते हैं।
यह संक्रामक रोग मुखयतया वातावरण, कीटाणु या रोगाणुओं एवं कमजोर रोग प्रतिरोधक क्षमता वाले लोगो के संयोग से अपना प्रभाव बताते हैं।
इस इकाई में हम विभिन्न संक्रामक रोगो के बारे में अध्ययन करेंगे। उनके फेलने की विधियों, बचाव के उपाय, चिकित्सा, टीकाकरण आदि के बारे में वर्णन करेंगे।
कुछ सामान्यतया आम जनता मे होने वाले रोगों का सार गर्भित वर्णन का अध्ययन करते हुये इन संक्रामक रोगो को योग पद्यत्ति एवं आयुर्वेदिक उपचार विधियों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
हमसे हम प्रथम तथा इन संक्रामक रोगों से स्वयं एवं अन्य लोगों को बचाव कर सकें एवं यदि रोग हो जाने पर उसके लक्षण पहचान कर, निदान करके उपचार करने में सहायक हो सकते हैं।

19.2 उद्देश्य

संक्रामक रोगों का परिचय एवं फेलने की विधियाँ
संक्रामक रोगों से बचाव के उपाय, टीकाकरण एवं टेस्ट/परीक्षण
विभिन्न संक्रामक रोगों के नाम एवं वर्णन
विसंक्रामक व्याधियों में योग का वैशिष्ट्य
विसंक्रामक व्यधियों मे आयुर्वेद का वैशिष्ट्य

19.3 (1) संक्रामक रोग का परिचय एवं फेलने की विधियाँ :–

संक्रामक रोग शरीर में विभिन्न तरीको से विभिन्न प्रकार के जीवाणु इत्यादि संक्रमण से होते है। जब भी रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर होती है तब यह संक्रमण शरीर पर हावी होकर व्यक्ति को रोग ग्रस्त कर देते है।

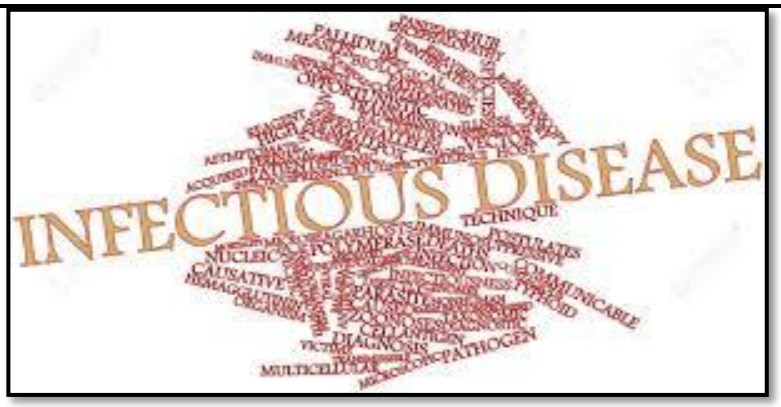

शरीर में दो तरह की रोग प्रतिरोधक क्षमता होती हैः–

1) INNATE IMMUNITY :- जन्मजात प्रतिरोधक क्षमता यह CD Cells. (श्वेत रक्त कणिकाओं), कम्प्लीमेंट सिस्टम, T-Cell, B-cells द्वारा आती है।
2) ADAPTIVE IMMUNITY :- जब कोई जीवाणु/Toxin/Antigen शरीर के अन्दर प्रवेश करता है तो उसके विरूद्व एन्टी बॉडी बनती है जो रोगों से लड़ती है। यह CD4 Helper Cell एवं अन्य श्वेत रक्त कणिकाओं (WBC) द्वारा होती है।

संक्रामक रोग फैलने की विधियाँ :–

संक्रमण इन निम्न तरीकों से शरीर में आता है :–
भोजन एवं पानी के द्वारा
रोगी के त्वचा के सीधे सम्पर्क में आने पर
रोगी के मल, मूत्र, रक्त इत्यादि के सम्पर्क में आने पर
चमड़ी में लगे घाव, कट इत्यादि के माध्यम से
अप्रशिक्षित लोगो से इन्जेक्शन इत्यादि लगाने
माता के गर्भ से गर्भस्थ शिशु में

रक्त चढ़ाने पर रक्त के साथ
असुरक्षित तरीकों से यौन संबन्ध बनाने पर

ड्रोपलेट्स (DROPLETS) :– यह रोगी के खांसने या छींकने पर बनते है। यह अत्यधिक छोटे होते है एवं जब रोगी खांसता/छींकता है तो उसके नाक एवं मुहं से निकलते है। इसमें जीवाणु एवं नाक/मुहँ द्वारा स्त्रावित श्लेष्मा होते हैं। यह आस–पास बैठे व्यक्ति के श्वास के माध्यम से उसमें प्रवेश करते हैं। इन्हें ड्रोपलेट्स कहते हैं।

Droplets

कुत्ते, जानवर, चूहे इत्यादि के काटने से
महामारी के रूप में
मच्छर, Fleas, खटमल इत्यादि द्वारा
संक्रामक रोग एवं एवियन इन्फ्लूजा
एवियन इनफ्लूएन्जा
पक्षियों का अतिसंक्रामक रोग

19.4 (A) संक्रामक रोगों से बचाव के उपाय, टीकाकरण एवं टेस्ट/परीक्षण

संक्रामक रोगों से बचाव के उपाय :–संक्रामक रोगों से बचाव हेतु हमें नित्य दिन शरीर एवं हमारे कपड़ो की सफाई रखनी चाहिये।

आंख, मुँह, नाक, जननांगों एवं शरीर के अन्य अंगों की विशेष रूप से सफाई होनी चाहिये।
मल, मूत्र इत्यादि की व्यवस्था घर से दूर होनी चाहिये।
पानी उबाल कर छान कर पीना चाहिये खुले एवं दूषित भोजन से बचना चाहिये।
भोज्य पदार्थो पर मक्खियाँ इत्यादि ना बैठे एसी व्यवस्था होनी चाहिये। बासी भोजन नहीं करना चाहिये।
शरीर पर कोई कटा–फटा घाव हो तो उसे ढ़क कर रखें।
असुरक्षित यौन संबन्धों से बचना चाहिये।
रोगी के पास जाने का काम पड़े तो उसके खून, मल, मूत्र, छींक, बलगम इत्यादि से दूर रहना चाहिये।
मच्छरों से बचाव का उपाय करना चाहिये।
कहीं इन्जेक्शन लगवाना पड़े तो नई सीरींज का इस्तेमाल करना चाहिये।
लोगों को संक्रामक रोगो की एवं फेलने की विधियों की जानकारी देनी चाहिये ताकि हमारे चारों और लोगों की जागरूक रहे एवं वातावरण भी शुद्ध रहे।
आजकल बहुत से रोगों के बचाव हेतु टीकाकरण की व्यवस्था भी है जो उचित समय पर टीके लगवा लेना चाहिये।
रोगी के पास जाते समय मास्क पहनना चाहिये।
घरों में डिटोल–फिनाइल–स्प्रीट–फिटकरी आदि का उपयोग करने से साफ–सफाई रहती हैं एवं बीमारियों में बचा जा सकता हैं।

एपीडेमियोलोजिकल त्रिकोण :–

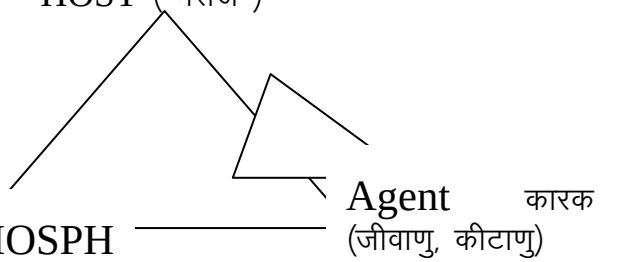

HOST, AGENT एवं ATMOSPHERE तीनों के संयोग से संक्रामक रोग होते हैं।

19.4 (B) टीकाकरण

टीकाकरण :– सामान्यतया टीके दो प्रकार के होते है।

जीवित जीवाणु सहित - MMR, Oral Polio, Influenza

मृत जीवाणु सहित - DPT, T.T. आदि टीकाकरण करके आजकल बहुत सी बिमारियों से बचा जा सकता है जो कि निम्नानुसार है :–

- Whooping Cough (कुकर खांसी)
- डिप्थीरिया
- पोलियो

Oral Polio Vaccine

- मीजल्स (खसरा)
- रूबेला
- मम्प्स
- वेरिसेला (हर्पीज)
- Hepatitis (यकृतशोथ)
- स्वाइन फ्लू

स्वाइन फ्लू टीकाकरण

9.4 (C) टेस्ट/परीक्षण

Infections बीमारीयों के निदान हेतु निम्न टेस्ट वर्तमान में उपलब्ध है :–

(1) ELISA (एलाइसा = एन्जाइम लिंक्ड़ इम्यूनों सोरबेंट एसे) उदाहरण – H.I.V.

(2) इम्यूनो इलेक्ट्रोफौरेसिस
(3) इम्यूनों हिस्टो केमिस्ट्री
(4) DNA क्लोनिंग
(5) Gel-इलेक्ट्रोफोरेसिस
(6) साउथर्न–ब्लॉट टेस्ट एवं वेस्टर्न ब्लॉट टेस्ट
(7) DNA प्रोब
(8) पोलीमरेज चेन (PCR) रिएक्शन
(9) Miscroscopy (सूक्ष्मदर्शी उपकरण द्वारा)

यह टेस्ट सुविधा उच्च चिकित्सा केन्द्रों पर उपलब्ध है जो रोग के लक्षण दिखने पर करवाना उचित है।

19.5 विभिन्न संक्रामक रोगो के नाम एवं वर्णन

निम्नलिखित संक्रामक रोग सामानयतया आम तौर पर हमें देखने को मिलतें है :–
खसरा (मीजल्स), रूबेला (जर्मन मीजल्स), मम्प्स (गलफड़े), हर्पीज, इन्फेक्शीयस मोनोन्यूक्लियोसस (ग्रंथि बुखार), चिकन पोक्स (माता बुखार), चिकनगुन्या, ड़ेगू, मलेरिया, EBOLA (इबोला) बीमारी, ड़ीप्थीरिया, प्लेग, बोटुलिज्म, कूकर खांसी (WHOPING COUGH) तपैदिक/मियादी/टाइफाईड बुखार, भोजन विशाक्तता (FOOD POISONING), हैजा (CHOLERA), बेक्टीरियल खूनी बवासीर (DYSENTRY), अमीबा, कुष्ठ रोग (LEPROSY), फंगल संक्रमण (FUNGAL INFECTION), एस्केरियासिस (गोलक्रमी रोग), चुनिया (ENTEROBIUS), फाईलेरिया (हाथी पांव), गोनोरिया (GONORRHOEA), क्लेमाइडिया, सिफिलिस, टी.बी, खुजली (SCABESE), स्वाईन फ्लू इत्यादि।

विभिन्न संक्रामक रोगों का वर्णन :–

(1) खसरा (मीजल्स) : – यह RNA पेरामिक्सो वाईरस से होता है। यह ड्रोपलेट से फैलता है।

यह दाने उपस्थित होने से 4 दिन पहले एवं 2 दिन बाद तक अत्यधिक संक्रामक होते है।

खसरा (मीजल्स)

लक्षण :– पहले बुखार, जुखाम, हाथ पैर दुखना, आँखें दुखना, आँखे लाल होना, आँखें चुंधियाना (PHOTOPHOBIA), खांसी इत्यादि होते है। फिर उपर के मसूड़ों पर लाल नीले KOPLIK दानें होते है। फिर कान के पीछें लसीका से भरे दाने होकर दाने मुँह, गर्दन, छाती, एवं पैरों पर हो जाते है। फिर दाने गायब होने के 5–6 दिन तक बुखार रहता है।

गंभीरता : – न्यूमोनिया आँख के घाव, लीवर हृदय एवं किड़नी की जटिलता दिमागी बुखार।

रोकथाम :– MMR टीका (मम्प्स–मजीलस–रूबेला) यह टीका 9 से 15 माह की उम्र पर लगता है जो कि 15 साल तक प्रभावी रहता है।

रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाई जाने पर बचाव हो सकता है।

(MMR टीका)

(2) रूबेला (जर्मन मीजल्स) – यह टीका वाईरस से ड्रोपलेट संक्रमण से होता है। लक्षणः– खांसी जुकाम बुखार शुरू में आता है, गर्दन इत्यादि में लिम्फ नोड़ बड़े हो जाते है। फिर कान, छाती, हाथ पैर पर लाल लसीका युक्त फफोले हो जाते है जो तीन दिन में अपने आप सही हो जाते है। यह दिमागी बुखार (ENCEPHALITIS), रक्त स्त्राव, गर्भपात (गर्भवती महिलाओं में) करता है एवं गर्भस्थ शिशु को नुकसान पहुचाता है। रूबेला रोग से संक्रमित नवजात शिशु हृदय रोग, आँख का रोग, बहरापन, मानसिक अल्पता, छोटा सिर इत्यादि रोगों के साथ पैदा होता है।

रोकथामः–रूबेला VACCINE (टीका) – MMR युवतियों को 11–13 साल की उम्र में यह टीका लगता है, इसे गर्भवती महिलाओं को नहीं लगाना चाहिये।

(3) गलफड़ा (मम्प्स MUMPS) –

यह पेरामिक्सो वाइरस से होता है।

ड्रोपलेट इन्फेक्शन से फैलता है।

लक्षण :– भूख ना लगना, बुखार, हाथ पैर दर्द, जबड़े में दर्द इत्यादि शुरू में होते है। फिर निचले जबड़े के गाल पर बड़ी–बड़ी गिठाननुमा सूजन आकर दर्द करती है। रोगी को खाने, चबाने, निगलने, बोलने में परेशानी होती है।

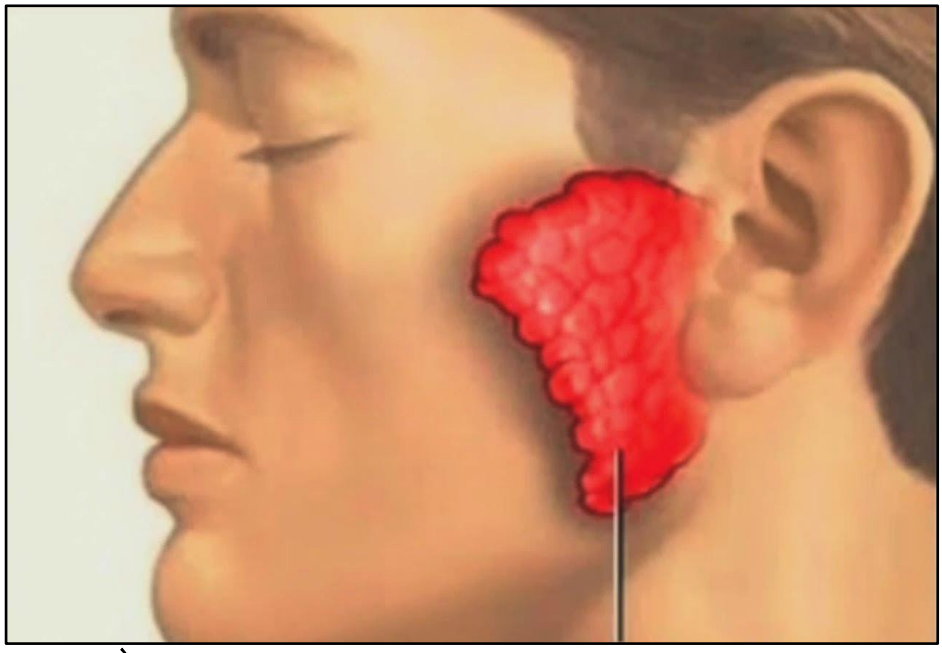

गलफड़ा रोग

गंभीरता :– यह पुरूषों के अण्डकोशो में सक्रमण करके दर्द एवं सूजन करता है।

(4) हर्पीज (Herpes):–

यह Herpes Simplex एवं Herpes Zoster वाइरस से होता है। रोगप्रतिरोधक क्षमता कम होने पर होता है। मरीज के सम्पर्क में आने से भी होता है।

लक्षण :– शरीर पर छोटी–छोटी पानी से भरी समूह में फुंसिया हो जाती है। इन फुंन्सियों में बहुत दर्द होता है। यह 5 से 15 दिन रहते है।

हर्पीज

निदान :– पानी से भरी फुंसियाँ जो कि समूह में होती है, जिनमें दर्द होता है एवं लाल रंग की सूजन एवं खुजली चलती है। यह शरीर के किसी भी हिस्से में हो सकता है।

उपचार :– Acyclovir नाम की एन्टी वायरल दवा उपयोगी है।

(5) इन्फेक्शियस मोनोन्यूक्लीओसस (ग्रंथि बुखार)

यह E.B. Virus (Ebstein-Barr-Virus) से होता है। यह रोग प्रतिरोधकता कम होने पर शरीर में आता है। यह श्वेत रक्त कणिकाओं में दूषित होने, यह ज्यादातर थूक, लार, चुम्बन, इत्यादि से फैलता है। यह ज्यादातर युवा लोगों को प्रभावित करता है।

लक्षण :– बुखार, गले में लालपन एवं सूजन, टॉंसिल, गर्दन में और एवं पीछे लीम्फ ग्रंथियों में सूजन, पूरे शरीर में छोटी–छोटी पानी से भरी फुंसियाँ एवं लीवर व प्लीहा (तिल्ली) में सूजन एवं एनिमिया (खून की कमी), पेशाब में रक्त आना, पीलीया, दीमागी बुखार, लकवा इत्यादि।

जाँच :–लीवर एन्जाइम, रक्त की जाँच, पॉल–बनेल टेस्ट, विकृत लिम्फोसाईट (श्वेत रक्त कणिका)।

उपचार :– स्टीरोइड एवं लक्षण जनित उपचार ।

(6) चिकनपोक्स :– यह वेरिसेला जोस्टर (Varicella Zoster) वाईरस से होता है। रोगप्रतिरोधकता शक्ति कम होने पर यह रोग लगता है।

यह अत्यधिक संक्रामक रोग है। एक बार होने पर पूरे घर वालों एवं मुहल्ले वालों को प्रभावित कर सकता है। यह ड्रॉपलेट्स द्वारा एवं चमड़ी पे हुए फफोलों के फूटने पर निकलने वाला द्रव द्वारा रोगी के सम्पर्क में आने पर होता है।

लक्षण :– बुखार, हाथ, पैर, दर्द फिर गले में जलन, फिर पहले छाती एवं पीठ पर फिर हाथ पैर पर छोटे बड़े सभी स्टेज की पानी से भरे फफोले/फुंसिया हो जाती है। इसी तरह की आतों में भी छाले हो जाते है। एवं रोगी को खानें पीने में दिक्कत रहती है।

चिकनपोक्स

निदान :– हर तरह की स्टेज की फुंसियां/फफोले पहले छाती फिर हाथ पैर पर आने को देख कर।

उपचार :– रोगी से दूर रहें, तरल पदार्थ लेवे, फोड़े फुंसियों को फोड़े नही, Acyclovir दवा एन्टीवाइरल आदि।

(7) डेंगू :– यह एडिस इजिप्टी मच्छर के काटने से होता है। यह तीन प्रकार का होता है:–

(1) सामान्य डेंगू बुखार
(2) रक्त स्त्रावी डेंगू बुखार
(3) डेंगू–शॉक–सिंड्रोम

डेंगू वाइरस एक ''अर्बो वाइरस'' ग्रुप का वाइरस है जो कि ''एडिस–इजिप्टी'' मच्छर की लार में पनपता है एवं इन्फेक्टेड मच्छर के काटने से होता है। इसे 'सेडल बेक बुखार (अर्थात बुखार होकर 2 से 3 दिन सामान्य हो जाना एवं तीसरे दिन पुनः बुखार आना) भी कहते है।

लक्षण :– बुखार आना, शरीर लाल पड़ना, लाल चकते हाथों–पैरों पर होना, मुँह एवं मसूड़ों में रक्त आना, आँखों की सफेद कन्जक्टीवा में रक्त स्त्राव होना, B.P. कम होना, आंतो में अन्दरूनी रक्त स्त्राव होकर काली लेट्रिंग आना, खून की उल्टी होना, मल–मूत्र के साथ खून का आना, रक्त की कमी होना शरीर में सूजन आना, फेंफड़ो एवं पेट में आंशिक पानी भर जाना, शरीर में पानी की कमी (डिहाइड्रेशन) यह डेंगू एपिडेमिक (महामारी) रूप में भी सामने आता है एवं पुरे गाँव/नगर को संक्रमित कर सकता है।

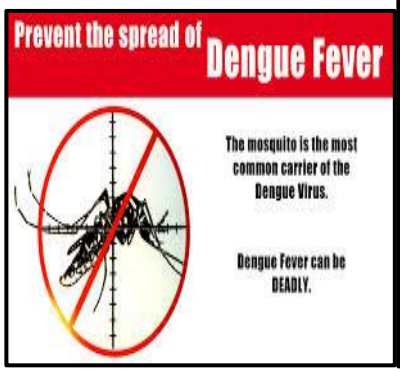

डेंगू बुखार का मच्छर एवं रोगी

निदान :– लक्षणों कें आधार पर

रक्त में NS-1 एन्टीजन की उपस्थिति

रक्त में डेंगू एन्टीबॉडी की उपस्थिति

रक्त में श्वेत रक्त कणिका की कमी

रक्त में प्लेटलेट की 1 Lakh/MM^3 से कम होना

यह रोग लीवर, आंतो, पित्ताशय, अग्नाशय एवं अस्थिमज्जा को बहुत नुकसान पहुचाता है।

उपचार :– तरल खाध्य पदार्थ, प्लेटलेट कम होने पर प्लेटलेट–सांद्र–रक्त यूनिट आवश्यकता अनुसार चढ़ाना, रक्त की कमी होने पर रक्त चढ़ाना, बुखार का उपचार, B.P. मेन्टेन रखना, शरीर में पानी की कमी ना होने देना।

रोकथाम :– मच्छरों से बचाव, पानी के गड्ढ़ो में जहा मच्छर पनपतें हो वहाँ नीम पानी, मिट्टी का तेल इत्यादि ड़ालना।

(8) चिकन गुन्या :– यह चिकन गुन्या वाइरस से होता है। यह मच्छरों के लार ग्रन्थि में पनपता है। एवं मच्छरों के काटने से होता है। यह भी एपिडेमिक रूप से सामने आता है।

लक्षण :–शरीर के समस्त जोड़ो में असहनीय दर्द, बुखार, उल्टी, जोड़ों में सूजन, उठने–बैठने में परेशानी इत्यादि

उपचार :– बुखार की दवा एवं दर्द निवारक दवाईयाँ एवं मालिश इत्यादि।

(9) ड़िप्थीरिया :– यह कार्निबेक्टीरिया डीप्थीरि से होता है। इसका संक्रमण ड्रॉपलेट विधि से होता है।

लक्षण :– गले में दर्द, खाने–पीने निगलने में तकलीफ, सांस लेने में दिक्कत, टॉंसिल का बढ़ना, गले की लीम्फ ग्रन्थियों में सूजन (सांड–ग्रीवा (Bull Neck)), आवाज में परिवर्तन, गले में सूजन की वजह से गंभीर अवस्था में दिमागी बुखार एवं न्यूरो रोग भी हो सकता है।

निदान :–गले में टॉंसिल के उपर भूरी–सफेद रंग की झिल्ली होती है जिसे औजार की सहायता से हटाने पर रक्त स्त्राव होता है। निदान = माइक्रोस्कॉपी एवं कल्चर विधि ।

उपचार रोकथाम :– एन्टी–डीप्थीरी टोक्सिन, एन्टीबायोटिक (पेनिसिलिन एवं इरीथ्रो माइसिन), D.P.T. एवं D.T. का टीका (समयानुसार)

(10) प्लेगः– इसे (काली मृत्यु) Black Death रोग भी कहते है। यह यरसिनिया पेस्टिस बैक्टिरिया से होता है। यह जानवरों से फैलता है (ZOONOTIC DISEASE)। यह चूहों के रक्त में संक्रमण कर पनपता है। चूहों की मक्खी RAT FLEA इसे चूहों से मानव तक लाती है। मानव में यह RAT FLEA के काटने से होता है।

यह रोग तीन का होता है।

(1) ब्यूबोनिक प्लेग

(2) न्यूमोनिक प्लेग

(3) सेप्टीसिमिक प्लेग।

गुजरात के सूरत शहर में प्लेग महामारी के रूप में फैला था।

ZOONOTIC DISEASE = जो जानवरों से फैलती है।

लक्षण :– कांखों एवं जांघों के उपरी हिस्सें में जननांगों के पास गिठाने हो जाती है जिन्हें ''ब्यूबो'' कहतें है। यह बहुत दर्द करती है। कुछ मरीजो मे बुखार, न्यूमोनिया, सेप्टीसिमिया होता है। कुछ में हाथ पैर, मुंह नाक, होठ एवं अन्य हिस्सों में रक्त संचरण बन्द होकर ग्रेंग्रीन होकर अंग काले पड़ जाते है। इस लिए Black Death भी कहते है। यह लिम्फ ग्रंथियो, लिवर एवं रक्त संचरण को बहुत प्रभावित करता है।

Rat and Rat flea

निदान :– घावो में से उत्तक निकाल कर जाँच।

इलाज :– स्ट्रेप्टोमाइसिन, जेन्टामाइसिन, सिप्रोफ्लोक्सासिन, टेट्रासाइक्लीन इत्यादि एन्टीबायोटिक।

रोकथाम :– चूहों से एवं चूहों की RAT-FLEA से बचाव टेट्रासाइक्लिन, डोक्सीसाइक्लिन की दवा रोगी के सम्पर्क में आने वालों को देनी चाहिये।

(11) बोटूलिज्म एवं भोजन विषाक्तता :–

यह विवाह, पार्टी, होटल इत्यादि में समय से पूर्व बने भोजन में इन्फेक्शन से होता है। जिसको खाने से बहुत से लोग एक साथ बीमार पड़ते है। यह सामान्यतया दूध, पनीर, मावा, इत्यादि चीजो से बनी वस्तुएं खाने से होता है। बोटूलिज्म नामक रोग क्लोस्ट्रीडियम बोटूलिनम बेक्टीरिया से होता है जो बोटूलिन टॉक्सिन विषैला पदार्थ बनाता है। यह रखे हुए बासी भोजन से पनपता है। इससे संक्रमित भोजन खाते ही उल्टी दस्त एवं लकवा (पक्षाघात) हो जाता है। अन्धापन, बहरापन इत्यादि भी हो जाता है।

फूड पोइजनिंग निम्न बेक्टीरिया से होती है :–

- स्टेफलोकोसस
- विब्रियो कॉलेरी
- एश्चरिया कोलाई
- बेसिलस वाइरस
- क्लोस्ट्रीडियम
- रोटा वाईरस
- शिगेला वाईरस

लक्षण :– उल्टी दस्त, चक्कर आना, कमजोरी आना, पानी की कमी होना आदि।

रोकथाम :– बासी खाने को ना खावें, खाना बनते ही ताजा खावें, ऐसा खाना खा भी लिया होतो उल्टी करके वापस निकाल देवें।

(12) कुकर खांसी/WHOOPING COUGH :- यह बोर्डेटेला परट्यूसिस नामक बेक्टीरिया से होता है। इसे 100 दिन की खांसी भी कहते है जो आसानी से सही नही होती है महीनों तक सूखी खांसी चलती है एवं गले से विशेष आवाज (WHOOP) सी आती रहती है।

निदान :– गले से रूई के स्वाब से सेम्पल लेकर माईक्रोस्कोपी एवं कल्चर से।

उपचार :– इरीथ्रोमाईसिन–एन्टीबायोटिक।

यह बीमारी फेफड़ो एवं गले पर बुरा असर डालती है।

(13) टाइफॉइड/तपैदिक/मियादी बुखार :– यह सालमोनेला टाइफी नामक बेक्टीरिया से होता है जो आंतों में पनपता है। यह बेक्टीरिया भोजन एवं पानी के माध्यम से शरीर में प्रवेश करके आंतों को संक्रमित करता है। इसमें 10–28 दिन तक बुखार आता है जो कि रोजाना ही बढ़ता है। यह घरेलू मक्खी द्वारा भोजन एवं दूषित पानी से फैलता है।

लक्षण :– छाती पर लाल छोटे–छोटे निशान 'Rose Spot' हो जातें है, रोज बुखार आता है, भूख कम लगती है, उल्टी दस्त इत्यादी हो सकते है। पेट दुखना, पीलीया भी हो जाना इत्यादी। यह बीमारी लीवर, आतों, किड़नी एवं दिमाग को कमजोर करती है।

निदान :–

1. सालमोनेला 'O' एवं 'H' एन्टीजन पहचान ।
2. रक्त में WIDAL Test (7 वें दिन बाद से)।
3. हाइफीडोट इम्यूनो एसै ।

उपचार :–

- सेफ्ट्राइक्जोन
- सिप्रोफ्लोक्सासिन
- एजिथ्रोमाइसिन इत्यादि
- एन्टीबायोटिक
- Liquid diet
- घी एवं तेल चिकनाई का परहेज

(14) हैजा/कॉलेरा (CHOLERA) :– यह विब्रियो कॉलेरी बेक्टीरिया से होता है। यह एन्टोरोटाक्सीन विषाक्त पदार्थ बनाता है। जो आतों (छोटी एवं बड़ी आंत) को नुकसान कर भयंकर दस्त लगवाता है। यह घरेलू मक्खी से फैलता है। मक्खियां गन्दी जगह पर बैठती है एवं मक्खी से दूषित भोजन पानी से यह होता है।

लक्षण :–इसमें चावल का पानी "Rice Water Stool" जैसी दस्त निकलती है। शरीर में पानी की कमी हो जाती है। इसमें सामान्यतया पेट दर्द नहीं होता है।

निदान :–दस्त के सेम्पल का कल्चर करवाना।

उपचार :– तरल पदार्थ, ORS घोल एवं "Intra venous fluid", एन्टीबायोटिक (टेट्रासाइक्लिन, डोक्सी साइक्लिन)

बचाव :– टेट्रासाइक्लिन

घरेलू बचाव :– शुद्ध ताजा भोजन खावे
भोजन पर मक्खियों को ना बैठने दें।

(15) खूनी बवासीर :– यह निम्न जीवाणुओ द्वारा होता है :– (1) शिगेला डिसेन्ट्री (2) शिगेला सोनाई। यह दूषित भोजन एवं पानी से फैलते हैं।

लक्षण :–लाल रंग की पानीनुमा रक्त निक्षित दस्तें लाती है। पेट में मरोड़ी लगती है शरीर में पानी की कमी (Dehydration) हो जाता है।

निदान :– दस्त से सेम्पल की जाँच एवं 'Elisa Test' यह रोग बड़ी आतों को बहुत प्रभवित करता है।

(16) अमीबायसिस :– यह सामान्यतया कुओं तालाबों के पानी में रहता है। यह एक प्रोटोजोआ है जिसका नाम एन्टअमीबा हिस्टो लाइटिका है। यह दूषित पानी फैलने से होता है।

लक्षण :– पैट दर्द, गैस, पतली दस्त, पेट में मरोड़ी उठकर दस्त आना, चिकनी दस्त आना। यह आंतों में घाव व छिद्र भी कर देता है।

निदान :– मल की जाँच में अमीबा के जीवित जीवाणु एवं सिस्ट।
सिस्ट एक आवरण होता है जिसमें चार अमीबा पुत्रक देते है।

बचाव :– पानी उबालकर छान कर पीवें। आंते साफ करने की दवा लेवें। पेट साफ रखें।

दवा :– मेट्रोनिडाजोल, टिनिड़ाजोल, एन्टीबायोटिक इत्यादि।

(17) कुष्ठ रोग/Leprosy :– यह रोग तंत्रिका तंत्र एवं चमड़ी एवं उत्तकों को प्रभावित करता है। यह शरीर में नाक के द्वारा एवं चमड़ी में घावों द्वारा कुष्ठ रोगी के सम्पर्क में आने पर फैलता है यह ''माइक्रोबेक्टीरियम लेप्री'' द्वारा होता है यह दो प्रकार का होता है:–

(1) टयूबरक्यूलोईड़ लेप्रोसी

(2) लेप्रोमेटस लेप्रोसी

लक्षण :– टयूबरक्यूलोइड़ लेप्रोसी में चमड़ी पे सफेद दाग पड़ते है जिनमें की सवेंदना (Sensory System) नष्ट हो जाती है। वहाँ पर गर्म/ठण्डा/दर्द पिन चुभाना इत्यादि संवेंदनाऐं रोगी महसूस नहीं कर पाता उस जगह पर पसीना भी नहीं आता एवं आस–पास की तंत्रिकाएं बाद में मोटी हो जाती है हाथ–पैर एवं नाक–कान की हड्डिया धीरे–धीरे गलने लगती है। चमड़ी सुन्न हो जाती हैं। लेप्रोमेटस लेप्रोसी में चेहरे पर बड़ी–बड़ी गिठाने होकर चेहरा शेर के चेहरे जैसा हो जाता है जिसे "Leonine Face" कहते है। जिसमें बाद में घाव अलसर इत्यादि होकर चेहरा गल जाता है। यह रोग हाथ पैर के पंजो, नाक, कान, चमड़ी, तंत्रिका तंत्र एवं लिम्फ ग्रंथियों को प्रभावित करता है।

कुष्ठ रोग से गले हुये नाक एवं हाथ

निदान :– नाक से श्वास लेना एवं माइक्रोस्कोपी चमड़ी के निशान से कुरेद कर सेम्पल की जाँच ।

रोकथाम :– कुष्ठ रोगी के सम्पर्क में आने पर अपनी सावधानी बरतें।

उपचार :– डेप्सोन, क्लोफेजामिन, रिफाम्पीसिन इत्यादि दवाएँ।

(18) फंगल संक्रमण :– यह फंफूदी/Fungus इत्यादि से होता है। यह चमड़ी में, कांखों में, मूँह में, नाखूनों में, सर में, योनि–जननागों इत्यादि में संक्रमण करता है।

लक्षण :– पहले छोटे फिर बाद में बड़े–बड़े लाल चकते बन जाते है। इनमें खुजली होती है, खुजली करने पर घाव हो जाता है। मुख में गलें में, सफेद रंग का पदार्थ जम जाता है।

निदान :– घाव एवं चकतों में से उत्तक खुरचकर K.O.H. Mount Stain से माइक्रोस्कोपी।

उपचार :– माइकोनाजोल, फलूकोनाजोल लगाएँ।

यह रोग प्रतिरोधक शक्ति को कम हो जाने पर होता है।

(19) गोल कृमि/एस्केरियासिस :– यह एस्केरिस लुम्बरीकोइड्स नामक कृमि से होता है दूषित भोजन पानी में इसके अण्डे रहते है जो कि पहले से बीमार व्यक्ति के मल से निकलते है।

लक्षण :– फेट फूलना, वजन कम होना, कमजोरी आना, मल में लम्बें सफेद रंग के कीडे निकलना खून की कमी होना।

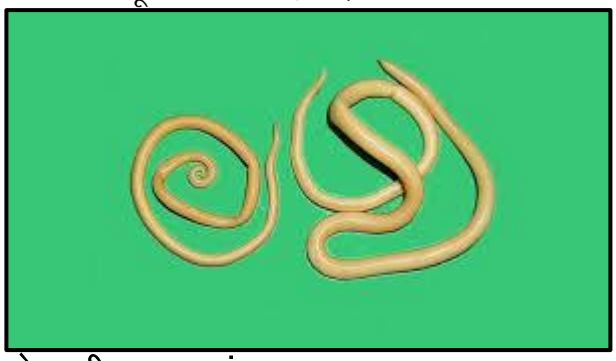

गोलकृमी – नर एवं मादा

निदान :– मल की जाँच ।

रोकथाम :– पानी एवं भोजन शुद्व करके खाना ।

उपचार :– एलबेन्डाजोल नामक दवा के साथ मल को शीघ्रता से निकालने की दस्त कारक दवा देना।

(20) चुनिया :– Enterobius Infection :– यह एन्टेरोबियस इन्फेक्शन से होता है। यह दूषित भोजन एवं पानी व नाखूनों से फैलता है। यह मलाशय में पनपता है एवं गुदा द्वार पर संक्रमण कर खुजली करता है एवं अंगुलियों से खुजली करने से नाखूनों में आता है एवं नाखूनो से भोजन एवं पानी में मिलकर फैलता है।

लक्षण :– खून की कमी, कमजोरी, मलद्वार पर खुजली इत्यादि।

रोकथाम :– साफ–सफाई का ध्यान, भोजन पानी की शुद्धता का ध्यान रखना।

उपचार :– एलबेन्डाजोल दवा।

(21) हाथी पाँव/फाइलेरिया :– यह वाउचेरिया बेनक्रोफ्टाई से होता है जो कि एक कृमि है। यह क्यूलेक्स मच्छर के काटने से मनुष्य में फैलता है। लिम्फ नलियों एवं ग्रथियों में शरीर में रहता है। इसके लार्वा लिम्फ वाहिनियों को अवरोहित कर देते है जिससे वह अंग पूरा सूज जाता है।

लक्षण :– पैर सूज कर हाथी के पाँवनुमा हो जाते है इसलिये इसे हाथी पांव बीमारी कहते हैं। जांघों के उपर की ग्रन्थियां सूज जाती है। संबधित अंग में दर्द होता है फिर घाव इत्यादि हो जाते हैं।

हाथी पाँव रोग

रोकथाम :– मच्छर से बचाव करना चाहिए।

(22) यौन संक्रामक रोग :– यह असुरक्षित यौन संबंध बनाने से होती है।

उदाहरण :–

- गोनोरिया
- सिफिलिस
- हेपेटाइटिस. B
- एड्स
- क्लेमाइडिया
- हर्पीज
- माइकोप्लाज्मा

गोनोरहिया :– यह 'Gonococci' बेक्टीरिया द्वारा होता है। यह असुरक्षित यौन संबंध से शरीर में आता है। जननांगों में लालपना एवं सूजन एवं बदबूदार मवाद निकलती रहती है। बुखार आता है।

निदान :– मवाद की माइक्रोस्कोपी एवं कल्चर।

रोकथाम :– सुरक्षित यौन संबध, कोण्ड़ोम का इस्तेमाल करना आदि।

उपचार :– सेफट्राइक्सोन, सीप्रोफलोक्सासिन एन्टीबायोटिक।

(23) सिफिलिस :– यह ट्रिपोनीमा पेलिडम नामक जीवाणु से होता है। यह असुरक्षित यौन संबंधो से एवं रोगी के Direct सम्पर्क में आने से होता है।

यह तीन तरह का होता है :–

(1) Primary –जननांगों पर घाव होते है जो बिना दर्द के होते है।

(2) Secondary – शरीर पर तरह तरह के घाव, लिम्फ नोड सूजन आदि।

(3) Tertiary – इसमें न्यूरो सिफिलिस इत्यादि होते है। मुख्य रूप से हृदय, हड्डियां, मस्तिष्क, चमडी, तंत्रिंका तंत्र प्रभावित होती है।

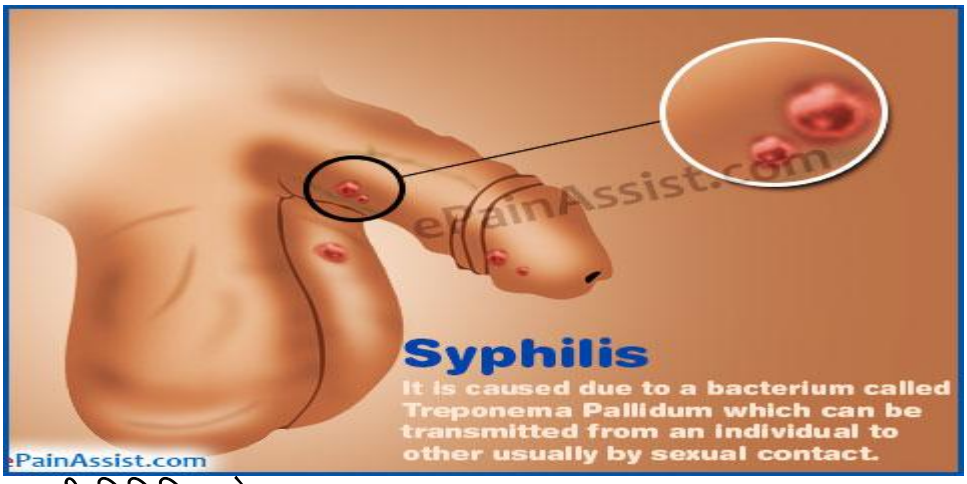

प्राइमरी सिफिलिस के घाव

Tertiary सिफिलिस

उपचार :– FTA-ABS जाँच, VDRL जाँच

इलाज :– Penicilln Antibiotic

(24) टीबी :– यह ट्यूबर क्यूलोसिस बेक्ट्रीरिया द्वारा होता है। यह ड्रोप्लेट या रोगी के डाइरेक्ट सम्पर्क में आने से होता है। इसमें फेफडें, आंते एवं लसीका System आदि प्रभावित होते है। 1–2 महीना खांसी, बलगम, शाम को बुखार, वजन कम होना, भूख ना लगना आदि।

निदान :– कफ की जाँच में A. F. B. (Acid Fast Bacilli) का Detection, X-Ray Chast PA View आदि।

उपचार :– DOTS थिरेपी जिसमें आईसोनियाजाईड, रिफाम्पीसिन, पाइराजिनामाईड, ईथेम्ब्यूटोल एवं स्ट्रेप्टोमाइसिन है।

(25) स्वाइन फ्लू :– यह H_1 N_1 इन्फ्लूएंजा वाईरस से होता है। यह Droplet तरीके से फैलता है। यह शरीर में नाक, मुँह, सांस के जरियें प्रवेश करता है।

लक्षण :– खांसी, जुखाम, बुखार, फिर न्यूमोनिया एवं फेफड़ों में प्रोटीन पदार्थ भर कर ARDS रोग करता है। (Adult respiratory distress syndrome)

स्वाइन फ्लू से बचाव हेतु मास्क

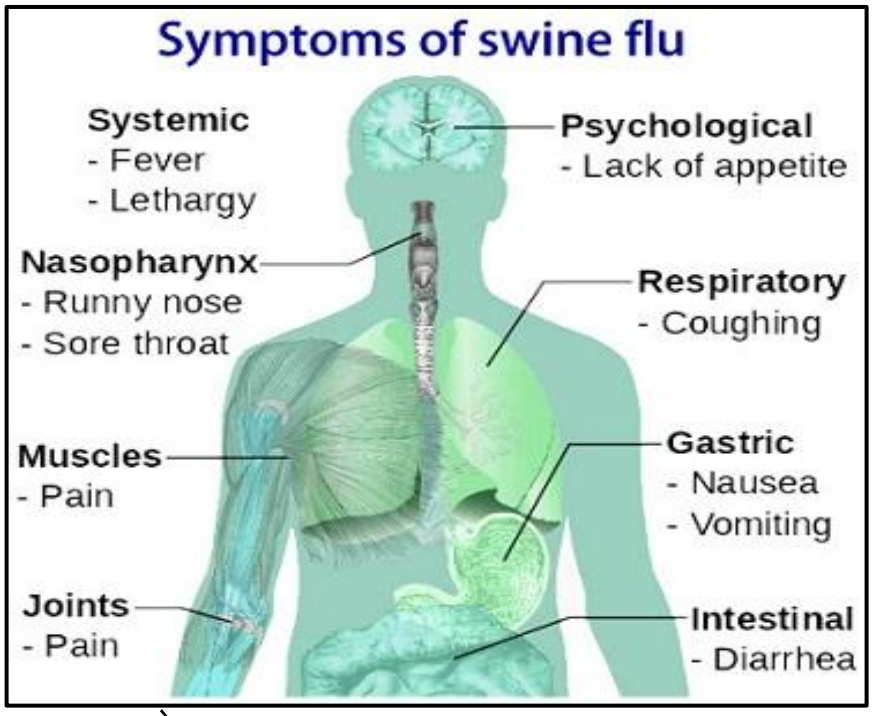

स्वाइल फ्लू के लक्षण

निदान :– $H_1 N_1$ एन्टीजन की जाँच गले के सेम्पल से ।

इलाज :– Fluvir नामक एवं Oseltemivir नामक दवा।

टिकाकारण :– स्वाइन फ्लू वेक्सीन इस रोग में मुख्यतया फेफड़े खराब होते है।

(26) मलेरिया :– यह प्लाज्मोडियम प्रोटोजोआ से होता है जो कि मादा एनोफीलिज के काटने से हमारे शरीर में आता है।

लक्षण :– ठण्ड़ एवं कंपकपी एवं पसीना आकर बुखार आना, पीलीया होना।

मादा एनोफिलीज मच्छर

गंभीरता : – Multiple Organ failure

निदान :– रक्त मे MP Slide & Antigen की जाँच करना आदि।

उपचार :– कुनीन, क्लोरोक्वीन, आर्टीसुनेट
यह लीवर एवं रक्त को ज्यादा प्रभवित करता है।

(27**)** एवियन इनफ्लून्जा रोग : यह एक वायरस जन्य पक्षियों का रोग है, जिसमें पक्षियों में 100 प्रतिशत तक मृत्यु दर हो सकती है। इसमें श्वांस एवं पाचन तन्त्र प्रभावित होता है इसे फाउल प्लेग भी कहते हैं। इस रोग से मुख्यतः घरेलू व जंगली पक्षी जैसे मुर्गी, टर्की, बतख, वाटर फाउल आदि ग्रसित होते है। पक्षियों से यह रोग मनुष्यों मे भी फैलता है जिसको कि एवियन इनफ्लूएन्जा रोग भी कहते हैं।

रोग का कारण : यह रोग आर्थोमिक्सोविरिडी परिवार के इनफ्लूएन्जा जाति के ए टाइप के वायरस से फैलता है। एवियन इनफ्लूएन्जा वायरस की 15 उप जातियां होती है जिनमें से एच–5, एच–7 एवं एच–9 उप जाति से पक्षियों में प्राणघातक अति संक्रामक रोग फैलता है।

रोग पक्षियों में कैसे फैलता है ?

वायरस रोग ग्रस्त पक्षी की लार, नासास्राव एवं बींट में पाया जाता है जिसके सम्पर्क में आने से स्वस्थ्य मनुष्यों में भी यह रोग फैल जाता है। रोग सर्वमित आहार, पानी उपकरण आदि के सम्पर्क आने से भी फैलता है।

सामान्यतः एवियन इनफ्लूएन्जा वायरस से मनुष्यों में रोग उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु इस वायरस में निरन्तर परिवर्तन से नई उप जातियां विकसित होती रहती है। इनमें से कुछ उपजाजियों से पक्षियों के सम्पर्क में रहने वाले मनुष्यों में भी घातक श्वांस रोग उत्पन्न करता है एवं मृत्यु हो सकती है जैसे :– SARS रोग चीन देश से शुरू होकर पूरे विश्व में फैला था।

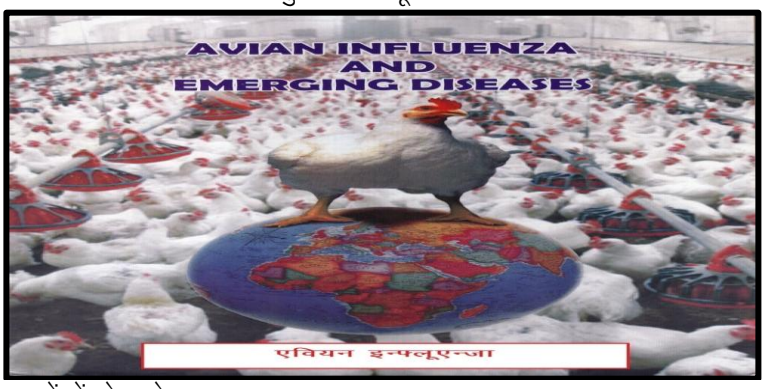

मनुष्यों में रोग के लक्षण

- जुकाम होना व
- आंखों का लाल होना
- सांस लेने में तकलीफ
- ज्वर होना
- मांस पेशियों में दर्द
- निमोनिया

पक्षियों में रोग के लक्षण

- अचानक अधिक संख्या में पक्षियों की मृत्यु (मृत्यु दर 100 प्रतिशत तक भी हो सकती है)
- पक्षी सुस्त हो जाते हैं व आहार खाना बन्द कर देते हैं।

- अण्डा उत्पादन में अत्यधिक कमी।
- पक्षी के सिर पर सूजन आना कलंगी (Comb) व लटकन (Wattle) पर सूजन एवं नीलापन आ जाता है।
- चाँच और नासाछिद्र से स्राव जो रक्त युक्त भी हो सकती है।

उपचार

- कुक्कुट फार्म पर किसी भी रोग की जानकारी मिलने पर अविलम्ब पशु चिकित्सक से सम्पर्क करें।
- कुक्कुट फार्म पर एवियन इनफ्लून्जा की पुष्ठी होने पर समस्त पक्षियों को मार कर जला दिया जावें अथवा गहरे में किटाणु नाशक दवा के साथ गाड़ कर नष्ट कर दिया
- रोगग्रस्त कुक्कुट फार्म के सभी अण्डे, लिटर आदि को भी जला कर नष्ट कर दिया जाना चाहिए।
- कुक्कुट फार्म पर पूर्ण कीटाणुनाशन की प्रक्रिया अपना कर रोग की रोकथाम की जानी चाहिए।

19.6 विभिन्न संक्रामक व्याधियों मे योग का वैशिष्टय

जब शुद्ध वायु, जल, देश एवं काल विकृत हो जाते हैं, तब विभिन्न वात–पित्त–कफ प्रकृति के मनुष्यों का आहार, बल, मन सभी समान अवस्था में होने पर भी एक साथ एक ही समय में एक ही जैसे रोग गांव, शहर एवं महानगरों में उत्पन्न होते हुये मानव को संक्रमण से संक्रमित कर पीड़ित कर उनका विनाश कर देते हैं। प्रदूषित वायु, प्रदुषित जल, प्रदूषित ऋतु इन चारों की संक्रामक रोगों के फैलाने में अंह भूमिका हैं। **प्रदूषित वायु में** रेत, धूल, धुंआ, **प्रदूषित जल में** विकृत जल, दुर्गन्धयुक्त जल, बिगड़ा हुआ जल का रंग, जलाशयों में पानी की कमी, **प्रदूषित देश** के अन्तर्गत दुर्गन्धयुक्त स्थान, मच्छर, मक्खी, गिद्ध, बीमार हिंसक जीव, मछलियाँ, मुर्गियां आदि का समावेश दृष्टि गोचर होता है। संक्रामक रोगों में सर्वाधिक खतरनाक वायु प्रदूषण होता है इसके कारण संक्रमण एक स्थान से दूसरे स्थान पर त्वरित गति से फैलता है।

ऐसी विसंक्रामक व्याधियों के निवारण हेतु अष्टांग योग की अहम भूमिका है। महर्षि पंतजलि ने योग द्वारा सम्पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति के साधनों में अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का वर्णन किया है। योगासनों द्वारा शरीर का व्याधिक्षमत्त्व बल अर्जित किया जाता है। ''इम्यून सिस्टम'' मजबूत होने से संक्रामक रोगों का असर जल्दी से हो नहीं पाता। योगासनों एवं प्राणायाम द्वारा शरीर की रक्षा तंत्र प्रणाली मजबूत होती है। प्लेटलेट्स का रक्त में स्तर सामान्य बना रहता है। अष्टांगयोग के द्वारा यम–नियम का पालन करने से आध्यात्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत स्वास्थ्य प्राप्ति में सहायता मिलती है। मन में सात्त्विकभाव बढ़ता है। मन प्रवर सत्त्व होने से जीवन में उत्साह, उमंग तथा सकारात्मक भावों की अभिवृद्धि होती है जिससे रोगाणुओं एवं कीटाणुओं के दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है।

वर्तमान समय में योग के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में निम्नानुसार लाभ प्राप्त किये जा रहें हैं–

*आनन्द प्राप्ति में *संक्रामक रोग निवारण में

*शारीरिक एवं मानसिक दर्दों को दूर करने में *शरीर में लचीलापन बनाये रखने में

*एकाग्रता बढ़ाने के लिये *हृदय को दुरस्त करने के लिये

*मस्तिष्क के दोनों हिस्सों में संतुलन बनाये रखने के लिये

*तनाव भगाने के लिये, शारीरिक एवं मानसिक संतुलन हेतु

*यौवन बढ़ाने के लिय, आंतरिक ऊर्जा बढ़ाने के लिये

*दवाइयों की निर्मरता कम से कम करने के लिये
*गर्भवस्था में स्वस्थ शिशु प्राप्ति के लिये
*अनिद्रा दूर भगाने के लिये
*घुटना–कमर–पीठ–कंधे के दर्द दूर करने के लिये
*शारीरिक हार्मोन्स का संतुलन करने के लिये
*जीवन शैली अन्य रोगों को दूर करने के लिय
*स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिये आदि शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य प्राप्ति हेतु उपयोगिता है। विभिन्न संक्रामक रोगों में योग द्वारा नियमों के अन्तर्गत ''शौच'' का वर्णन आता है। संक्रामक रोगों के निवारण में शौच अर्थात् शुद्धता स्वच्छता का ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि केवल शारीरिक शुद्धता ही नहीं अपितु मानसिक शुद्धता, तन एवं मन की पवित्रता होना आरोग्य प्राप्ति में आवश्यक है। योग के द्वारा शरीर, मन, भावना एवं ऊर्जा रूपी चारों स्तरों पर लाभदायक सुपरिणाम प्राप्त होते हैं। क्रियायोग के द्वारा ''जीवन ऊर्जा'' का विकास किया जाता है। संक्रामक रोगों की निवृत्ति हेतु मनुष्य की ''जीवन ऊर्जा'' का स्तर ऊचां होना परमावश्यक है। योग के द्वारा शरीर के विजातीय द्रव्यों का उचित मात्रा में शरीर से निर्हरण किया जाता है। विजातीय द्रव्य अर्थात् मल, मूत्र, स्वेद आदि का सम्यक शोधन से संक्रामक रोगों से निवृत्ति पायी जाती है।
आज संक्रामक रोगों का महत्त्वपूर्ण कारण ''अब्रह्मचर्य'' है। असुरक्षित यौन सम्पर्क भी बड़ा कारण है। योग द्वारा पंच यमों के अन्तर्गत ''ब्रह्मचर्य का पालन'' करने से शरीर की ''रोगप्रतिरोधक क्षमता'' में वृद्धि होती है। योग ऋषियों ने ''प्रत्याहार'' का उल्लेख करते हुये बताया है कि मनुष्य प्रत्याहार के समाम्यास से एकादश इन्द्रियों को सांसारिक भोगों से दूर करते हुये आत्मनियत्रंण में रखा जा सकता है। इन्द्रियों के स्वनियत्रंण में रहने से शरीर का रंक्षातंत्र मजबूत होता है जिससे संक्रामक रोगों से बचा जा सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा शरीर में प्राण तत्त्व (O_2) की वृद्धि होती है। रक्तसंचार सुव्यवस्थित होता है। शरीर के सभी महत्त्वपूर्ण अंगावयव जैसे – हृदय, किडनी, मस्तिष्क, फुफ्फुस एवं महास्रोतस (पाचनतंत्र के अवयव) आदि प्राणायाम के द्वारा स्वस्थ होते हैं। योग के षट्कर्मों द्वारा विभिन्न संक्रामक रोगों से पीड़ित शरीर को शुद्ध करते हुये स्वास्थ्य लाभ किया जाता है। विभिन्न प्रकार की नेतियों द्वारा नासिका, मस्तिष्क की नस–नाड़ियों, गले का कफ, आंख, नाक, कान एवं गले का संक्रमण दूर किया जाता है। कुंजल क्रिया द्वारा आमाशय का संक्रमण दूर किया जाता है। बस्ती अर्थात् एनिमा द्वारा बड़ी आंत में सड़े हुये संक्रमिक मल का निष्कासन किया जाता है। नौलिक्रिया द्वारा पाचनतंत्र को मजबूत कर शक्ति दायक बनाया जाता है। त्राटक कर्म द्वारा नेत्रों का संक्रमण दूर किया जाता है। संक्रामक रोगों से बचाने में **''कपालभाति'' प्राणायाम ब्रह्मास्त्र का कार्य करती है।** कपालभाति से आंते प्रभावित होती है, मस्तिष्क की नस–नाड़ियाँ शुद्ध होती है साथ ही सभी मुख्य ग्रंथियाँ सक्रिय होकर स्वस्थ होने से संक्रामक रोगों से बचाने में इसका दैनिक अभ्यास महत्त्वपूर्ण है। योग चिकित्सा द्वारा (1) शरीर की शुद्धि होती है, (2) अंतःस्त्रावी ग्रंथियों की संक्रियता बढ़ती है (3) महत्त्वपूर्ण संस्थान जैसे नाड़ी संस्थान, श्वसन संस्थान, पाचन संस्थान, रक्त संचार संस्थान एवं मल निष्कासन तंत्र स्वस्थ होकर संक्रामक रोगों से बचाते है। हल्का, सुपाच्य एवं संतुलित शाकाहार का सेवन चित्तशुद्धि करता है इससे आक्तिक मानसिक एवं शारीरिक

पवित्रता एवं सुढ़ता बढ़ती है परिणाम स्वरूप शरीर एवं मन को तनाव रहित होते हुये स्वस्थ आध्यात्मिक रहता है।

संक्रामक रोगों में योग की उपादेयता –

1. पाचनतंत्र मजबूत होता है तथा स्वाभाविक भूख जागृत होती है।
2. शारीरिक भार का स्तर संतुलित बना रहता है।
3. मानसिक रूप से संतुष्टि, उत्साह एवं प्रसन्नता का भाव बढ़ता है।
4. मन सकारात्मक एवं रचनात्मक गति विधियाँ की ओर प्रेरित एवं सक्रिय होकर नकारात्मक सोच दूर होती है।
5. जनपादोध्वंस, मौसम प्रदूषित एवं परिवर्तन होने से प्रभावित मौसमी संक्रामक रोगों को व्याधिक्षमत्व बल वृद्धि द्वारा दूर किया जाता है।
6. शरीर में रक्तवाहिनियों के ब्लोकेज (अवरोध) दूर होकर रक्तसंचार सुचारू होता है।
7. शरीर में आक्सीजन (प्राणतत्त्व) की मात्रा बढ़ने से संक्रमित कोशिकायें स्वस्थ होती है।

19.7 विभिन्न संक्रामक व्याधियों मे आयुर्वेद का वैशिष्टय

संक्रामक रोग आयुर्वेदानुसार

(1) संक्रामक रोग **(Infectious Diseases)** – सर्वप्रथम आचार्य सुश्रुत ने संहिता में व्याधियों के संक्रमण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। ये रोग तथा इन्हीं की तरह संक्रमित होने वाले अन्य रोगों को ''संक्रामक रोग'' कहा जाता है।

प्रसंगात् गात्र संस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्।।
कुष्ठ ज्वरश्च शोचश्च नेत्राभिष्यन्द एवं च।
औपसर्गिकरोगश्च संक्रामन्ति नारन्नरम्।। (सुश्रुत निदान 5/33–34)

प्रसंगात् (रोगी के साथ मैथुन करने से), गात्रसंस्पर्शात् (रोगी के शरीर को स्पर्श करने से), निःश्वासात् (रोगी के श्वाँस के द्वारा), सहभोजनात् (रोगी के साथ भोजन करने पर), सहशय्यासनाच्चापि (रोगी को शैय्या एवं आसन को प्रयोग करने से) एवं वस्त्रामाल्यानुलेपनात् (रोगी के वस्त्र, माला एवं अनुलेपन द्रव्यों को प्रयोग करने से) से कुष्ठ, ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्द आदि एवं अन्य औपनसर्गिक रोग (Communicable diseases) एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में संक्रमित (फैलते) होते हैं।

(2) जनपदोध्वंस **(Epidemics)** – जनपद का अर्थ है कोई स्थान विशेष तथा ध्वंस का अर्थ है विनाश। जब रोग स्थान विशेष में वहाँ के वातावरण (वायु, जल, देश एवं काल) के दूषित हो जाने से तेजी से फैलता है तो इसे जनपदोध्वंस (Epidemics) कहा जाता है। जनपदोध्वंस का वर्णन चरक विमान स्थान अध्याय.3 में किया गया है। जनपदोध्वंस को जनमार, मरक या महामारी भी कहा जाता है।

चिकित्सा जनपदोध्वंस में रसायनों का प्रयोग, संशोधन चिकित्सा, जनपदोध्वंस से पूर्व संग्रहित औषधियों का प्रयोग, सत्यभाषण, प्राणियों में दया, दान, बलिकर्म, देवतापूजन, सद्वृत्त का आचरण, शान्ति, अपनी सब प्रकार से सुरक्षा, कल्याणकारक जनपदों में जाकर निवास करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और ब्रह्मचारियों, महर्षियों, जितेन्द्रियों की सेवा करना, धर्मशास्त्र की कथा सुनना–सुनाना, वृद्ध पुरूषों द्वारा प्रशंसित धार्मिक पुरूषों के साथ रहना आदि उपाय है।

संक्रामक रोगों में ओज एवं रसायन

(3) **Immunity** (व्याधिक्षमत्व) – आयुर्वेद में (Immunity) के लिए व्याधिक्षमत्व, बल, ओज, प्राकृतिक श्लेष्मा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

ओज के गुण –

गुरू शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिल स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्।। (च.चि.)

ओज के दस गुण है – गुरू, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल (घना), मधुर, स्थिर, प्रसन्न (निर्मल), पिच्छिल एवं स्निग्ध।

ओज का स्वरूप

हृदितिष्ठति यत् शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं तत्राशात्रा विनश्यति।। (चरक सूच 17/74)

रसायन –

दीर्घमायुः स्मृति मेधामारोग्यं तरूणं वयः। प्रभावर्ण स्वरोदार्य देहेन्द्रिय बलं परम्।।
वाक्सिद्धि प्रणति कान्ति लभते न रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।।

जिन द्रव्यों का सेवन करने से दीर्घ आयु, स्मरणशक्ति, मेधा (धारण शक्ति), आरोग्य, तरूणावस्था, प्रभा (चमक), वर्ण (सुन्दर वर्ण), स्वर (वाणी) का उदार होना, देह एवं इन्द्रियों में उत्तम बल की प्राप्ति, वाक्सिद्धि (कहे हुये वाक्य सत्य होना), प्रणति (नम्रता), कान्ति (सुन्दरता) आदि की प्राप्ति होती है तथा जिनसे उत्तम रस आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, उन्हें रसायन कहते है।

आचार्य शाग्र्ड.धर ने जरा एवं व्याधि को दूर करने वाली औषधि को रसायन कहा है।

1. विभिन्न संक्रामक व्याधियों में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में सबसे प्रथम सूत्र है कि संक्रामक रोग आयुर्वेदानुसार ''निदान परिवर्जनम्'' अर्थात् संक्रामक रोग होने के जो कारण है उनका परित्याग किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये जैसे – मलेरिया, डेंगू आदि रोग हैं तो सर्वप्रथम मच्छरों के काटने से बचाना चाहिये। यौन रोग हो गये हैं तो ब्रह्मचार्य का पालन करना चाहिये या सुरक्षित यौन सम्बन्धों हेतु विधियों का कठोरता एवं संयम से पालन करना चाहिये।
2. पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत रसायन द्रव्यों का शरीर शोधनोपरान्त सेवन करना चाहिये। इन रसायन द्रव्यों में आंवला, हरीतकी, अश्वगंधा, शतावरी, श्वेतमूसली, गिलोय, कौंच इत्यादि औषधियाँ है। मेध्य (बुद्धिवर्धक) रसायनों में शंखपुष्पी, मण्डूकवर्णी, गुडुची एवं मधुयष्टि आदि है। नैमित्तिक रसायनों मैं शिलाजीत, मल्लातक, अबगस्त्य रसायन आदि है।

- आजस्त्रिक रसायन अर्थात् नित्य सेवन किये जाने वाले ओजवर्धक आहार जैसे दुग्ध–घृत आदि हैं।
- आयुर्वेद में संक्रामक रोग से बचाव हेतु शरीर के बाल दोष एवं अग्नि तीनों के अनुकूल पथ्य आहार का उल्लेख है। अतः रोगी के बल शक्ति एवं ऊर्जा बढ़ाने के उपाय बताते है।
- संक्रामक रोगों में वायु शुद्धि हेतु लाक्षा, द्ररिद्रा, अतिविषा, एला, दालचीनी, कुष्ठ, प्रियंगु आदि को जलाकर उनके घूयें से वायु का शोधन करना चाहियें।
- शहरी क्षेत्रों में पानी का निकास (सिवरेज सिस्टम) सही तरीके से होना चाहिये।
- विद्यालय में छात्र–छात्राओं का, भीड़ वाले स्थानों पर नागरिकों का समय–समय पर विशेष केम्प लगाकर स्वास्थय परीक्षण करते रहना चाहिये।

- पाचन संस्थान के संक्रमण से बचाने हेतु प्रवालपंचामृत, अग्नितुण्डी वटी, हिंग्वाष्टक चूर्ण, शिक्षाक्षारपाचन चूर्ण, गंधक वटी, शंखभस्म, लहशुनादिवटी, आरोग्यवर्धनी वटी, संजीवनी आदि का प्रयोग लाभदायक होता है।
- अतिसार, हैजा आदि संक्रमण में – सूतशेखर रस, रसपर्पटी, जीरकाद्यरिष्ट, पंचामृत पर्पटी, रामबाण रस, बिल्बचूर्ण आदि का सेवन लाभदायक होता है।
- ग्रंथिजन्य संक्रामक रोगों में कांचनार गुग्गुलू, ताम्रभस्म, वंगभस्म, ताप्यादिलौह का सेवन लाभदायक होता है।
- अर्शभगदर जैसे रोगों में अभयारिष्ट, गंधकासायन, उशीरासव, कासीसादि तैल आदि का सेवन लाभदायक होता है।
- यौन रोग (सिफलिस, एड्स) आदि में पारदभस्म, रसकर्पूर, गंधक रसायन, मल्लादिवटी, प्रवालपिष्ठी, पंचतिक्तघृत गुग्गुलू, अमृतारिष्ट एवं पारदादि मल्हम आदि के प्रयोग लाभदायक होते है।
- छेवदारू, धूप, चन्दन, कर्पूर, निम्ब, गन्धक, गुग्गुलू एवं बाकुची आदि द्रव्यों से मिश्रित सामग्री द्वारा हवन करना चाहिये।
- जलशुद्धि हेतु सर्वप्रथम जल को उबालकर उसका सेवन करना चाहिये। सूर्य की धूप से जल को तपाना चाहिये। जल में सुगन्धित द्रव्य जैसे –नागकेशर, चम्पा, केतकी के पुष्प आदि डालना चाहिये।

  अधिकाधिक मिट्टी के निर्मित पात्रों का जल संचयन में उपयोग करना चाहिये। हंसोदक का पान करना चाहिये, निर्मली के बीजों द्वारा जल को शुद्ध करना चाहिये।
  - भूमि आदि की शुद्धि हेतु गाय के 'गोबर' का प्रयोग करना चाहिये।
  - सूर्य के प्रकाश में प्रातः सायं बैठना चाहिये, इससे भी संक्रामक रोग दूर होते है।
  - अपद्रव्यों का निर्मूलन (Disposal of Solid Waste) व्यवस्थित तरीके से नियमित करते रहना चाहिये।
  - अपशिष्ट खाद्य सामग्री, प्लास्टिक एवं मृत जानवर आदि का निस्तारण व्यवस्थित तरीके से किया जाना चाहिये।
  - शौचालय एवं रसोई का शिंक आदि एकदम स्वच्छ होना चाहिये।
  - गले के संक्रामक रोगों में सितोपलादि चूर्ण, तालिसादिचूर्ण, मधुयस्टि (मुलेठी) कवल एवं गण्डू.ष विधि, शहद (मधु) आदि का सेवन लाभदायक होता है।
  - यकृद् के संक्रामक रोगों में – ताप्यादि लौह, मंडूरभस्म, पुनर्नवामंडूर, अमृतारिष्ट, स्वर्णमाक्षिक मक्ष्म, कुटकी चूर्ण, भूमि आंवला, नाग एवं वंग भस्म आदि औषधियाँ लाभकर होती है।
  - फुफ्फुसादि के संक्रामक रोगों में अम्रकभस्म, मल्ल भस्म, आनन्द मैरव कफकुठार रस, श्वास–कुठाररस, शुभ्राभरस, वासा चूर्ण, श्रृंग भस्म, लक्ष्मी विलास रस, सितोपलादि चूर्ण आदि का सेवन लाभदायक होता है।
  - त्वचा सम्बन्धी संक्रामक रोगों में – गन्धक रसायन, खदिरारिष्ट, आरोग्यवर्धनी, मंजिष्ठादिचूर्ण, हरतालभस्म, पंचतिक्तघृत, फिटकरी एवं हरीद्रा आदि का सेवन लाभदायक होता है।

- कृमिजन्य संक्रामक रोगों में – कृमिकुठाररस, संजीवनी हींग, अजवाइन आदि का सेवन लाभदायक होता है।
- विभिन्न प्रकार के संक्रामक ज्वरों (Fever) में गोदन्ती भस्म, महासुदर्शन चूर्ण, त्रिभूबनकीर्ति, संजीवनी वटी, गिलोयवटी (अमृतावटी), अमृताष्टकक्वाथ, विषमज्वरारि वटी, मल्लसिंदूर, लक्ष्मीविलास रस आदि का सेवन लाभदायक होता है।
- संक्रामक रोगों में घातुक्षीणता एवं निर्बलता हो जाती है अतः इस हेतु शक्तिवधर्क एवं घातुपौष्टिक औषधियों का सेवन लाभदायक होता है जैसे :– प्रवाल पिष्टी, त्रिवंग भस्म, शिलाजीत, नागभस्म, नारसिंह चूर्ण, संशमनीवटी, च्यवनप्राशावलेह, अश्वगंद्यारिष्ट, क्रौंचपाक, बसन्त कुसुमाकर भस्म, पूर्णचन्द्रोदयस रस, रौप्य भस्म, मुक्तापिष्टी एवं प्रवाल पिष्टी, च्यवनप्राश, अश्वगेधापाक, शमावटी ग्रेनूल्स इत्यादि का सेवन लाभदायक होता है।
- स्वास्थ्य दिनचर्या का पालन जैसे–ब्रह्ममुहूर्त्त में जागरण, ऊषा पान, मलोत्सर्ग विधि, दन्तेधावन, जिव्हा निलेखिन, मुखप्रक्षालन, नस्थ सेवन, कवल–गण्डूष धारण, अभ्यंग (मालिश), व्यायाम, शरीर परिमार्जन (उबटन), स्नान, स्वच्छ वस्त्र धारण एवं शाकाहार के सेवन से तन,मन स्वस्थ रहता है परिणाम स्वरूप संक्रामक रोग दूर होते हैं।
- रात्रीचर्या–ऋतुचर्या के पालन से त्रिदोषों की समावस्था बनी रहती है जिससे शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ी रहने से संक्रामक रोगों से सुरक्षा होती है।
- आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य के पालन से इम्यून सिस्टम मजबूत होता है जिससे संक्रामक रोगों से मुक्ति में सहायता मिलती हैं।
- आयुर्वेदीय सद्वृत्त का वर्णन आचार्य चरक ने चरक संहिता के सूत्र स्थान अध्याय–8 ''इन्द्रियोपक्रमणीय'' में विस्तार से किया है। धार्मिक सद्वृत्त में पूजा, यज्ञ, दान का उल्लेख है। संक्रमण से बचने हेतु गोधृत, अक्षत, तिल, कुशा व सरसों द्वारा वेदमंत्रों से हवन करने का विधान है। इसी प्रकार सामाजिक सद्वृत्त, मानसिक सद्वृत्त, चारित्रिक सद्वृत्त, मैथुन सम्बन्धी सद्वृत्त, व्यायाम सम्बन्धी सद्वृत्त, आचार रसायन सम्बन्धी सद्वृत्त, व्यवसाय आदि कार्य सम्बन्धी सद्वृत्त का विस्तार से शारीरिक एवं मानसिक सुदृढ़–आरोग्यता हेतु वर्णन किया है।

अतः विभिन्न संक्रामक रोगों में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति द्वारा मानव संक्षेपतः उक्त सिद्धान्तों का पालन करते हुये स्वस्थ रह सकने में सक्षम होता है।

19.8 सारांश :–

इस इकाई मे हमने विभिन्न संक्रामक रोगो की जानकारी प्राप्त करते हूये।

संक्रामक रोग क्या होते है, उनके फेलने मे तरीके, बचाव के तरीके, टीकाकरण, एवं उपचार के बारे में अध्ययन किया हैं।

आमतौर पर हमारे चारो और जन–समुदाय से हो रहे सक्रामक रोगों की जानकारी उनके लक्षणों की जानकारी आदि जैसे मलेरिया, डेंगू, कुष्ठ रोग, स्केबीज, चिकन फोक्स, खसरा, यौन संक्रामक रोग, स्वाइन फ्लू आदि के बारे में जाना।

संक्रामक रोगों को योग एवं आयुर्वेद पद्धत्ति द्वारा कैसे बचाव एवं उपचार किया जाता है उनके बारे मे वर्णन किया गया है।

योग एवं आयुर्वेद द्वारा हम स्वयं के एवं दूसरी के संक्रामक रोगों से बचाव एवं निदान/उपचार/प्रशिक्षण देते हुये स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है।

19.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

HARRISON'S PRINCIPLE OF INTERNAL MEDICINE BY LONGO, FAUCI, KASPER JAMESON, HAUSER, LOSCALZO

INTRODUCTION TO INFECTIOUS DISEASE : HOST – PATOGEN- INTERACTION BY LAWRENE C. MAD OFF & DENNIS L.KASPER

चरक संहिता – डॉ. ब्रह्मानंद त्रिपाठी

सुश्रुत संहिता – डॉ. अम्बिकादत्त शास्त्री

≈ अष्टांग संग्रह – डॉ. रविदत्त त्रिपाठी

≈ स्वस्थवृत्त विज्ञान – डॉ. सर्वेश कुमार अग्रवाल

≈ पंचकर्म विज्ञान – वैद्या अंजना शर्मा

≈ पातन्जल योगदर्शन – वैद्य नित्यानन्द शर्मा

19.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. संक्रामक रोग क्या होते है ? प्रमुख संक्रामक रोगों के नाम लिखिये।
2. रोग प्रतिरोधक क्षमता क्या होती है ? इसके भाग कितने हैं ?
3. संक्रामक रोगों के फैलने की विधियाँ लिखिये।
4. ड्रोपलेट्स Droplets के बारे मे बताइये ?
5. संक्रामक रोगों से बचाव के सामान्य तरीके बताइये ?
6. टीकाकरण के बारे मे लिखिये।
7. एपिडेमियोलोजिकल त्रिकोण के बारे में समझाइये।
8. संक्रामक रोगों के परीक्षण निदान हेतु विभिन्न परिक्षणों (Tests) के नाम लिखिये ?
9. चिकन फोक्स के बारे मे लिखिये ?
10. डेंगू रोग क्या है इसके लक्षण एवं निदान के बारे मे लिखिये ?
11. हैजा (Cholera) के बारे मे समझाइये व इससे बचाव के तरीको पर प्रकाश डालिये?
12. यौन संक्रमण रोगों के बारे में समझाइये एवं बचाव के तरीको पर प्रकाश डालिये ?
13. संक्रामक रोगों व बचाव उपचार में योग पद्धति का क्या योगदान है। विस्तार से समझाइये ?
14. संक्रामक रोगों के बचाव एवं उपचार मे आयुर्वेद की भूमिका समझाइये ?